साङ्ख्य और शाङ्कर अद्वैत में प्रकृति की संधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध
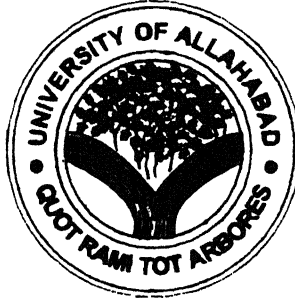
निर्देशिका
डा० राजलक्ष्मी वर्मा
प्रोफेसर, संस्कृत - विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

प्रस्तोत्री
आभा रानी
एम० ए० (संस्कृत)

संस्कृत - विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सितम्बर. १९९८ ई०

प्रस्तावना

मानव ईश्वर की सर्वोकृष्ट कृति है क्योंकि वह मननशील एवं विवेकशील प्राणी है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति ने उसके मन में उठे अनेक प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए उसे प्रेरित किया। जगत् क्या है? समस्त विश्व कहां से उद्भूत हुआ? कहां विलीन होता है? मैं क्या हूँ? ईश्वर क्या है? इन सभी आध्यात्मिक प्रश्नों का जब उसने उत्तर खोजा तो वे दार्शनिकमत के रूप में हमारे समक्ष आए। मनुष्य की जिज्ञासा अन्तहीन है, जो प्रत्येक युग में समय के साथ प्रभावित तथा परिवर्तित भी हुई किन्तु पुरातन विचारों के साथ सामंजस्य भी बनाएं रख गया। विचार वैविध्य के कारण मत–मतान्तर हो जाने पर भी उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि का उद्गम 'एक' ही था। जगत् के कारण का अन्वेषण करते हुए ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में कहा गया है– नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्[1] एवं 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः'[2] अर्थात् सृष्टि के पूर्व की स्थिति का वर्णन करना असंभव है क्योंकि उस समय न सत् था, न असत् था। न प्रकाश था और न अन्धकार। न मृत्यु थी, न ही अमरत्व। उस समय दिन और रात्रि का भी भेद नहीं था। सब कुछ तम से आच्छादित था।[3] अतः सृष्टि की उत्पत्ति एवं लय के विषय में श्रुति ठीक ही कहती है – 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः' श्वेताश्वतरोपनिषद् में कुछ ऐसे ही दार्शनिक प्रश्न ब्रह्मवादियों द्वारा उठाए गए हैं – 'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः। अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।[4] जगत् की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार भिन्न–भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न–भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किए। इनमें से कुछ प्रसिद्धमत इस प्रकार

---

1. 10/129/1 ऋग्वेद संहिता
2. 10/129/2, वही
3. 10/129/3 ऋग्वेद संहिता नासदीय सूक्त
4. श्वेता0 1/1

से हैं – सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, पाशुपत पाञ्चरात्र और शाक्त आदि हैं। ये सभी दार्शनिक मत अपने आप में विशिष्ट एवं अद्भुत विचार प्रस्तुत करते हैं किन्तु सांख्य एवं शांकर अद्वैत वेदान्त की तर्क शैली एवं विचारों की गम्भीरता ने मुझे इन दोनों दार्शनिक मतों का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया।

सांख्यदर्शन एवं शांकर अद्वैत दोनों ही दर्शन अत्यन्त प्राचीन हैं। सांख्यदर्शन की प्रशंसा में महाभारतकार इस प्रकार कहते हैं – 'ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्'[1], सांख्यं च योगं च सनातने द्वे।'[2] प्राचीन उपनिषदों में सांख्यदर्शन के बीज मिलते हैं जिनके आधार पर इसे श्रौतलिंगों से युक्त कहा गया है। सांख्य में आत्मा को कूटस्थ, असंग, निर्गुण एवं निर्विकार कहा गया है। आत्मा को असंग, निर्विकार, द्रष्टा एवं निर्धर्मक मानने का विचार बृहदारण्यकोपनिषद् में उपलब्ध होता है।[3] इसी प्रकार सांख्यदर्शन का मूलभूत सिद्धान्त सत्कार्यवाद का समर्थन भी श्रुति वाक्यों द्वारा इस प्रकार किया गया है –

कथमसतः सज्जायेत् इति।
सदेव इमदग्रासीत् एकमेवाद्वितीयम्[4]

कठोपनिषद् में पुरूष, अव्यक्त और महत् का उल्लेख हुआ है।[5] श्वेता0 उपनिषद् में सांख्य, कपिल, व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ आदि शब्द का प्रयोग मिलता है। प्रकृति के पर्यायवाची प्रधान, अव्यक्त, अजा और माया का भी उल्लेख इस उपनिषद् में मिलता है।[6] कपिल ऋषि का नामोल्लेख इसी उपनिषद् में

---

1. 12/316/2
2. 12/349/3; गीता प्रेस संस्करण
3. असंगो हि अयं पुरूषः (4/2/35)
4. 6/2/2 छान्दोग्यो0
5. 3/10/11
6. 6/13, 5/2, 1/8, 1/9, 4/10, 1/10 (श्वेता0)

किया गया है।[1] उपनिषदों के अतिरिक्त महाभारत, पुराण आदि में भी इस दर्शन का वर्णन मिलता है। इस प्रकार सांख्यदर्शन अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष में प्रचलित रहा है। उत्तरमीमांसा को वेदान्त दर्शन भी कहा जाता है क्योंकि यह दर्शन वेदों के अन्तिम भाग अर्थात् उपनिषदों से निःसृत है। बादरायण रचित ब्रह्मसूत्र वेदान्तदर्शन का सार है। इन सूत्रों पर विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न दृष्टियों से विचार करके इसकी व्याख्या प्रस्तुत की। इन आचार्यों में शंकराचार्य द्वारा अद्वैत, रामानुज द्वारा विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य के द्वारा द्वैत, निम्बार्क के द्वारा द्वैताद्वैत तथा वल्लभ के द्वारा शुद्धाद्वैत मत का प्रवर्त्तन किया गया। इन आचार्यों में से शंकराचार्य द्वारा लिखा गया गम्भीर एवं प्रसाद गुणयुक्त भाष्य अप्रतिम है। इनके द्वारा लिखे गए उपनिषदों एवं गीता के भाष्य ने तत्काल जनमानस को इतना अधिक प्रभावित किया कि इनका दर्शन वेदान्तदर्शन का पर्याय बन गया। अद्वैत दर्शन शांकर अद्वैत वेदान्त के नाम से भी प्रसिद्ध है क्योंकि इसके विकास में आचार्य शांकर का स्थान प्रमुख है। अद्वैत शब्द का अर्थ Dictionary of Philosophy में Runes द्वारा 'एक मूल सत्य' किया गया है।[2] आचार्य अपने भाष्यग्रन्थों में बार-बार एकमात्र ब्रह्म की सत्यता एवं जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं। अपने मत के समर्थन में वे श्रुति वाक्यों को उद्धृत करते हैं – 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा0 6/8/7) इदं सर्वं यदयमात्मा (बृ0 2/4/6); ब्रह्मैवेदं सर्वं (मु0 2/2/11) और नेह नानास्ति किंचन (बृ0 4/4/19) इत्यादि। अद्वैत वेदान्त की परम्परा भगवान् नारायण अर्थात् विष्णु भगवान् से शुरू होती है। शांकर सम्प्रदाय की गुरू-शिष्य परम्परा का वर्णन इस प्रकार से है –

---

1. ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे, 5/2
2. पेज 201

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपादं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथस्यशिष्यं
श्रीशंकराचार्यमथास्य पद्मपादश्च हस्तामलकं च शिष्यम्।
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून्सन्ततमानतोऽस्मि ।।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इन दोनों दर्शनों की प्राचीनता का अध्ययन प्रथम अध्याय में किया गया है।

सांख्य के स्वतन्त्र कारणवाद एवं आत्मभेद के सिद्धान्त को छोड़ दिया जाए तो दोनों ही मतों में बहुत अधिक समानता है, यथा, दोनों ही कार्य–कारण सिद्धान्त को मानते हैं। आत्मा को निर्गुण, निष्क्रिय, निर्धर्मक, असंग एवं कूटस्थ मानते हैं। प्रकृति को त्रिगुणात्मिका स्वीकार करते हैं। दोनों मतों में यह मान्य है कि सृष्टि जड–चेतन के सम्मिश्रण से ही होती है। केवल चेतन तत्त्व या अकेले जडतत्त्व सृष्टि को उत्पन्न करने में असमर्थ है। दोनों के मध्य विवाद जगत्कारण के विषय में है। सांख्य यथार्थवादी है। वह जगत् के उपादान करण को 'सत्' स्वीकार करता है। आचार्य शंकर का मत इसके विपरीत है, वे जगत् के उपादानकारण को स्वीकार तो करते है किन्तु वह ब्रह्माश्रित होकर ही जगत् के उपादान कारण की सत्ता का कथन करते हैं। जगत् के कारण विषयक मतभेद होने से जगत् की सत्ता सम्बन्धी विचारों में भी महान् अन्तर आ जाता है। मैंने अपने अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु जगत् के उपादानकारण विषयक मतभेद को बनाया क्योंकि दोनों दर्शनों के मध्य जगत् कारण विषयक विवाद ही प्रमुख है। सांख्यदर्शन का विवेचन उपनिषद् महाभारत, पुराण सांख्यसूत्र, तत्त्वसमाससूत्र, सांख्यकारिका एवं इस पर लिखी गई विभिन्न टीकाओं के आधार पर किया गया है। सांख्यदर्शन का पूरक योगदर्शन है इसलिए योगदर्शन का प्रमुख ग्रन्थ योगसूत्र एवं इस पर लिखे गए व्यास भाष्य, आचार्य वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित तत्त्ववैशारदी एवं विज्ञानभिक्षु कृत योगवार्तिक का भी उल्लेख यथास्थान पर किया है।

उपर्युक्त ग्रन्थों पर लिखे गए अनेकों आलोचनात्मक ग्रन्थों का भी सहयोग लिया गया है। शांकर अद्वैत मत में आचार्य शंकर के मत का ही मुख्य रूप से वर्णन किया गया है तथा उनके परवर्ती आचार्यों में सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य प्रकाशात्मा, विद्यारण्यमुनि, वाचस्पति मिश्र, अमलानन्द, अप्पयदीक्षित एवं संक्षेपशारीरककार के मत का भी प्रसंगानुसार वर्णन किया गया है।

इस प्रबन्ध में पाँच अध्याय हैं – प्रथम अध्याय में दोनों दर्शनों के इतिहास, आचार्य–परम्परा एवं साहित्य पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय अध्याय में दोनों दर्शनों के अनुसार जगत् के उपादानकारण प्रकृति के स्वरूप पर चर्चा की गई है। इसमें सत्कार्यवाद , परिणामवाद, विवर्त्तवाद एवं सत्त्वादिगुणत्रय के स्वरूप का भी विवेचन किया गया है। इसी अध्याय में अध्यास का संक्षिप्त वर्णन किया है। प्रकृति की सत्ता विषयक विवेचन इस अध्याय में मुख्य रूप से किया गया है। जगत् कारण की व्याख्या बिना चेतन तत्त्व के नहीं हो सकती अतः तृतीय अध्याय में पुरूष के स्वरूप के विषय में भी विचार किया गया है। इस अध्याय में जड–चेतन सम्बन्ध का सूक्ष्म विवेचन है। चतुर्थ अध्याय में प्रकृति कृत सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन है और अन्तिम अध्याय में दोनों दर्शनों के अनुसार बन्ध–मोक्ष के स्वरूप, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति तथा मोक्ष के साधनों पर चर्चा की गई है।

इस प्रबन्ध की विशेषता यह है कि इसमें दोनों दर्शनों में उठे जगत् के कारण विषयक प्रश्न के आधार पर दार्शनिक मत का विवेचन एवं विश्लेषण करने का प्रयास किया गयाहै। इसके पश्चात् दोनों के मध्य साम्य और वैषम्य का भी उल्लेख किया है। प्राप्त सामग्री के आधार पर निष्कर्षों तक पहुंचने की भी कोशिश की गई है। यह निष्कर्ष कितने उचित हैं यह सुधीजन ही बता सकते हैं।

मैं अपना शोध–प्रबन्ध जिनकी सत्प्रेरणा एवं सहयोग से पूरा कर सकी, उनके प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन करना मेरा परमकर्तव्य है। सर्वप्रथम मैं पूजनीया एवं परमादरणीया गुरू एवं निर्देशिका **सुश्री डा0 राजलक्ष्मी वर्मा** के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ जिनके वात्सल्यपूर्ण शब्दों ने दुःख के क्षणों में मुझे धीरज बंधाया और शुभाशीर्वाद आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते रहे। आदरणीय डा0 कौशल किशोर जी को भी मैं धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने मेरे शोध-कार्य्र में सहयोग प्रदान करके उचित मार्ग–दर्शन किया। इसके पश्चात् मैं अपने पूजनीय **माता–पिता** के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ जिनके शुभाशीष से मैं अपना कार्य पूरा कर सकी। इसके लिए मैं जीवनपर्यन्त उनकी ऋणी रहूँगी। मैं अपने पति **श्री सुनील कुमार श्रीवास्तव** के प्रति अपना असीम आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने मेरे लेखन कार्य को सदैव गति प्रदा न की। मैं अपने परिवार के सभी सदस्यों को धन्यवाद देती हूँ जिनकी सहायता के बिना मेरा यह कार्य शायद अधूरा ही रह जाता। अन्त में, मैं टाइपिस्ट महोदय **श्री विनोद कुमार केशरवानी** को धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने संस्कृत का अल्पज्ञान होने पर भी टाइप के कार्य को बड़े परिश्रम के साथ सम्पन्न किया।

आभा रानी

1998 सितम्बर **आभा रानी**

विषयानुक्रम

******

संकेत – विवरण

ब्र0 सू0	: ब्रह्मसूत्र
ब्र0 सू0 शां0 भा0	: ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
बृहदा0	: बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ0 भा0 वा0	: बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक
बृ0 भा0 वा0 सा0	: बृहदारण्यक भाष्य वार्तिकसार
पंच0	: पंचदशी
पं0 पा0	: पंचपादिका
पं0 पा0 वि0	: पंचपादिका विवरण
वि0 प्र0 सं0	: विवरणप्रमेय संग्रह
भा0	: भामती
कठ0	: कठोपनिषद्
श्वेता0	: श्वेताश्वतरोपनिषद्
माण्डू0	: माण्डूक्योपनिषद्
माण्डू0 का0	: माण्डूक्य कारिका
छान्दो0 या छा0	: छान्दोग्योपनिषद्
प्रश्नो0	: प्रश्नोपनिषद्
तैत्तिरी0	: तैत्तिरीयोपनिषद्
भा0 पु0	: भागवत पुराण
ब्र0 पु0	: ब्रह्म पुराण
ब्र0 वै0 पु0	: ब्रह्म वैवर्त्त पुराण
प0 पु0	: पद्म पुराण
दे0 भा0 पु0	: देवीभागवत पुराण
वा0 पु0	: वायु पुराण
स्क0 पु0	: स्कन्द पुराण
ग0 पु0	: गरूड पुराण

सां0 का0	: सांख्य कारिका
सां0 त0 कौ0	: सांख्यतत्त्वकौमुदी
सां0 द0	: सांख्यदर्शन
शां0 अ0	: शांकर अद्वैत
महा0	: महाभारत
सां0 सू0	: सांख्यसूत्र
स्मां0 प्र0 भा0	: सांख्यप्रवचन भाष्य
सां0 सा0	: सांख्य सार
भा0 द0	: भारतीय दर्शन
भा0 द0 का इति0	: भारतीय दर्शन का इतिहास
सां0 द0 की ऐति0 प0	: सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा
यो0 सू0	: योगसूत्र
यो0 वा0	: योगवार्तिक
यो0 सू0 व्या0 भा0	: योगसूत्र व्यासभाष्य
त0 वै0	: तत्त्ववैशारदी
अहि0 सं0	: अहिर्बुध्न्यसंहिता
मा0 वृ0	: माठरवृत्ति
गी0	: श्रीमद्‌भगवद् गीता
गी0 र0	: गीतारहस्य

प्रथम अध्याय

इस अध्याय में सांख्य एवं शांकर अद्वैत का परिचयात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित बिन्दुओं पर चर्चा की जायेगी :-

(क) दोनों दर्शनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(ख) सांख्यदर्शन के प्रणेता कपिलमुनि एवं अद्वैत परम्परा के प्रमुख आचार्य शंकर का जीवन-परिचय और काल-निर्णय

(ग) दोनों दर्शनों की आचार्य - परम्परा एवं साहित्य

सांख्य एवं अद्वैत वेदान्त दोनों ही दर्शन अत्यन्त प्राचीलकाल से भारतवर्ष में प्रचलित है । दोनों ही दर्शनों की धारा वैदिक साहित्य में समानान्तर रूप से प्रवाहित है । इनमें से कौन प्राचीनतर है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है । चूंकि मेरे शोध-प्रबन्ध का विषय सांख्य और शांकर अद्वैत दर्शन में प्रकृति के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन है इसलिए इसी परिप्रेक्ष्य में चर्चा की जा रही है। जैसा कि दोनों दर्शनों के विषय में आगे किए जाने वाले ऐतिहासिक विवरण से यह स्पष्ट हो जायेगा कि शंकर कपिलमुनि से परवर्ती हैं । इस दृष्टि से शांकर अद्वैत सांख्य से अर्वाचीन है । अतः सांख्यदर्शन के इतिहास की चर्चा सर्वप्रथम प्रस्तुत की जा रही है ।

सांख्यदर्शन की प्रशंसा में वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते है :- 'भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्यदर्शन का अत्यन्त ऊँचा स्थान था देश के उदान्त मस्तिष्क सांख्य की विचार-पद्धति से सोचते थे[1] । महाभारत में इस शास्त्र को सनातन कहा गया है[2]।

---

1 उद्धृत सांख्यदर्शन का इतिहास, (पृष्ठ - 1 भूमिका)

2. "सांख्यं च योगं च सनातने द्वे" - शान्तिपर्व

ईश्वरकृष्ण इसे पवित्र एवं अनादिकाल से प्रचलित "अग्र्यज्ञान" कहते हैं :- "एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ[1]। स्मृतियों, पुराणों और महाकाव्यों में परिलक्षित होने वाले सांख्यदर्शन का प्रबल प्रभाव इस बात का द्योतक है कि इस दर्शन ने भारतीय चिन्तन परम्परा में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है । याज्ञवल्क्य ने ज्ञानप्रद एवं मोक्षप्रद इस शास्त्र के विषय में ठीक ही कहाहै :- नास्ति सांख्यसमं, ज्ञानं[2] । प्राचीन उपनिषदों में इस दर्शन के बीज यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं । बृहदारण्यको[3]. में पुरूष को असंग, निष्क्रिय एवं द्रष्टा माना गया है । पुरूष का यह स्वरूप सांख्य में भी प्रतिपादित है। सांख्यदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त सत्कार्यवाद का समर्थन छान्दोग्योपनिषद् की इन पंक्तियों द्वारा होता है :-

"कृतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच
कथमसतः सज्जायेत् इति ।
सदेव इदमग्रासीत एकमेवाद्वितीयम्[4]" ।

इसी उपनिषद् के वाक्य "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" में प्रकृति परिणामवाद के संकेत मिलते है[5] । छान्दोग्योप0 के षष्ठ प्रपाठक के प्रारम्भिक भाग में ही तेजस्, अप और अन्न का निरूपण किया गया है । ये तीनों ही यथा - क्रम रजस्, तमस् तथा सत्त्व के प्रतीक हैं।[6] डा0 आद्या प्रसाद मिश्र का यह विचार है कि "त्रिरूप

---

1 सांख्य कारिका - 70
2 महाभारत - 12/316/2
3. असङ्गो हि अयं पुरूषः (4/2/35)
4. छान्दो0 (6/2/2)
5 छान्दो0 (6/1/4) एवं डा0 उर्मिला चतुर्वेदी कृत विज्ञानभिक्षु और सांख्यदर्शन नामक पुस्तकं द्रष्टव्य है।
6. उदयवीर शास्त्री कृत "सांख्यदर्शन का इतिहास" (पृ0 40-41)

जगद्योनि" का सिद्धान्त सांख्य के त्रिगुणात्मक प्रधानकारणवाद के मूल में था[1]। त्रिवृत्करण सांख्य के त्रिगुण–सिद्धान्त को उपस्थित करने का एक प्रकार है।[2] सांख्यसूत्र (5/12) में मोक्ष का प्रतिपादन श्रुत्यनुसार ही किया हुआ प्रतीत होता है।[3] इसका भाष्य करते हुए विज्ञानभिक्षु के "न ह वै सशरीरस्य . अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इस श्रुति को उद्घृत किया है। सांख्यसूत्र (5/12) के भाष्य में विज्ञानभिक्षु तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत[3] एवं अजामेकांलोहितशुक्लकृष्णां इत्यादि श्रुति को उद्धृत करते हुए प्रधानकारणवाद को श्रुतिसम्मत सिद्ध करते हैं[4]। डा0 कीथ का विचार उचित ही प्रतीत होता है कि उपनिषदों में सांख्यदर्शन या सम्प्रदाय का किसी प्रकार स्पष्ट साक्ष्य पाना असम्भव है फिर भी यत्र–तत्र उनमें ऐसे बीज मिलते हैं जिनसे उन विचारों का विकास लक्षित होता है. जो आगे चलकर सांख्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप में रखे गये, किन्तु इन बिखरे हुए संकेतों के आधार पर यह ज्ञात नहीं किया जा सकता कि उस समय सांख्यदर्शन के निर्माण या व्यवस्था की प्रक्रिया चल रही थी।[5] वे यह स्वीकार करते है कि कठ एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसके विकास के पूर्व चिह्न दिखायी पड़ते हैं।[6] कठोपनिषद् में पुरूष, अव्यक्त और महत् का उल्लेख हुआ है।[7] सांख्यशास्त्र में सृष्टि विषयक सिद्धान्त में महत् एवं अव्यक्त पद आये हुए हैं । इतना ही नहीं इनमें सूक्ष्मता का क्रम भी महतः परमव्यक्तं इसी उपनिषद् के समान ही स्वीकृत है।

---

1 डा0 आद्या प्रसाद मिश्र कृत सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा (पृ0 37)

2 1/5 सांख्यसूत्र, उत्कर्षादपि मोक्ष सर्वोत्कर्षश्रुतेः

3 श्रुतिरपि प्रधान कार्यत्वस्य, सांख्यसूत्र 5/12, तद्धेदं तह्यव्याकृतमासीत्0 इत्यादि श्रुति – बृददा0 श्रुति 1/4/7

4 श्वेताश्वतरोपनिषद् – 4/5

5. सांख्य सिस्टम – पृष्ठ 7

6 सांख्य फिलासफी, पृ0 54, डा0 ए0बी0 कीथ

7 महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरूषः परः ।
पुरूषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा गति (3/10/11)

शंकराचार्य ने महत् और अव्यक्त पद को सांख्य प्रतिपादित महत् एवं प्रकृति के अर्थ में स्वीकार नहीं किया है। ब्रहमसूत्रभाष्य में विस्तार से इसका खण्डन भी किया हैं।[1] यदि यह मान भी लिया जाये कि कठोपनिषद् में सांख्ययोक्त पदों के वाचक अर्थों का प्रयोग नहीं हुआ है तो इस उपनिषद् का प्रभाव सांख्य पर अवश्य ही पड़ा होगा, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता । छान्दोग्य0 एवं बृहदारण्यक जैसे प्रचीनतम उपनिषदों में जहां यह दर्शन बीज रूप में उपलब्ध होता है, वहीं कठ जैसे द्वितीय चरण के प्राचीन उपनिषद् में सांख्यशास्त्र के विषय में कुछ स्पष्ट संकेत मिलते हैं। 'पुरूष साक्षीमात्र है' सांख्य का पुरुष विषयक यह सिद्धान्त मुण्डकोपनिषद् के इस मन्त्र पर आधारित प्रतीत होता है [2]

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

यह मंत्र ऋग्वेद 1/164/20 में भी आया है । श्वेताश्वतरोपनिषद्[3] मैत्रायणी[4] एवं प्रश्नोपनिषद्[5] में भी सांख्य सिद्धान्तों की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् को सांख्योपनिषद् कहा गया है । सांख्य, कपिल व्यक्त, अव्यक्त, ज्ञ आदि शब्द इस उपनिषद् में मिलते हैं।[6] प्रकृति के प्रा० पर्यायवाची शब्द प्रधान, अव्यक्त,अजा एवं माया इत्यादि इस उपनिषद् में भी स्वीकार किए गए हैं।[7] गुण का भी उल्लेख इसमें मिलता हैं।[8] इस उपनिषद् में सर्वाधिष्ठाता ब्रह्म का चक्र रूप में वर्णन है जिसमें सांख्यदर्शन के वर्ण्य विषय

---

1 ब्र0सू0 शां0 भा0, 1/4/1
2 मु0 3/1/1
3 5/2, 6/13
4 3/3, 4/5
5. प्रश्नो 4/8
6 सांख्य 6/13, कपिल 5/2, व्यक्त, अव्यक्त 1/8, ज्ञ 1/9
7 प्रधान 4/10, प्रकृति 4/10, अजा 1/10
8 श्वेता0 1/3

आए हैं – त्रिगुण, षोडश, विकार और पंचाशत बुद्धि कृत सर्गादि हैं । इसी उपनिषद् में सर्वप्रथम कपिल एवं सांख्य का नामोल्लेख हुआ है जिसके आधार पर अनेक विद्वान् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इस उपनिषद् के पूर्व ही सांख्य व्यवस्थित हो चुका था । मैत्रायणी उपनिषद्, जो अपेक्षाकृत अर्वाचीन उपनिषद् है, इसमें सत्त्वादिगुणत्रय[1], तन्मात्रों एवं पंचमहाभूतों का वर्णन है।[2] तन्मात्रों का उल्लेख प्रश्नोपनिषद् में भी प्राप्त होता है।[3] इन उपनिषदों की तो बात ही क्या है, अनेक विद्वान् ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में प्रकृति – पुरूष सिद्धान्त की कुछ अस्पष्ट झलक देखते हैं :–

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरूणा विवाससि ।
अतूर्तपन्था पुरूरथोः अर्यमा सप्त होता विषुरूपेषु जन्मसु ।।

डा0 गजाननशास्त्री मुसलगांवकर ने इस मन्त्र में 'अदिति' का अर्थ प्रकृति, "दक्ष' का अर्थ पुरूष एवं सप्त होता का अभिप्राय सात प्रकृति - विकार करके सांख्य की अति – प्राचीनता प्रतिपादित की है।[4] डा0 आद्या प्रसाद मिश्र ऋग्वेद के इस मन्त्र में तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं[5] में आए "तम" को सांख्य के भावी अव्यक्त का संकेत मानते हैं।[6] उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि सांख्य की पृष्ठभूमि में विद्यमान विचार अत्यन्त प्राचीन हैं एवं उपनिषदों से प्रभावित हैं किन्तु यह नहीं स्पष्ट हो पाता कि वेद एवं प्राचीन उपनिषदों (बृहदारण्यक एवं छान्दों0) के विचार सांख्यशास्त्र से सम्बद्ध हैं या नहीं। डा0 राधाकृष्णन का विचार है कि जब सांख्य यह दावा करता है कि उसका आधार

---

1 मैत्रायणी – 2/5
2 पञ्चतन्मात्रा भूतशब्देनोच्यन्तेऽथ पञ्चमहाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्ते 1, वही 3/2
3 प्रश्नोपनिषद – 4/8
4. ऋग्वेद – 10/64/5
5 सांख्य तत्त्वकौमुदी की व्याख्या तत्वप्रकाशिका – डा0 गजाननशास्त्री कृत
6 10/129/3 ऋग्वेद

उपनिषद् है तो इसके कथन में कुछ सत्यता अवश्य है, यद्यपि उपनिषदों की मुख्य प्रवृत्ति सांख्य के द्वैतवाद के सर्वथा प्रतिकूल है। उपनिषदों की वस्तुवादी चिन्तन प्रवृत्ति ने सांख्य की सृष्टि सम्बन्धी धारणा को बल प्रदान किया हैं।[1] प्रो0 गार्बे के अनुसार सांख्य स्वरूपतः इतना विशिष्ट है कि यह किसी विशिष्ट महापुरूष के ही मस्तिष्क की उपज हो सकता है।[2] प्रो0 याकोबी का मत है कि सांख्यदर्शन भौतिकवाद पर आधारित है। अतः यह उपनिषदों के विचार से विकसित नहीं हो सकता।[3] प्रो0 गार्बे का यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें उपनिषद् के विचारों का भी समावेश है किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि "सांख्य श्रुति प्रतिपादित सिद्धान्त का अनुकरणमात्र नहीं है बल्कि इससे स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है और स्वतन्त्र रूप से विकसित होने में उससे भिन्न हो गया।[4] कीथ, याकोबी के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सांख्य का विकास विशुद्ध अमिश्रित, भौतिकवादी विचारधारा से नहीं हुआ है बल्कि जन्म एवं विकास ऐसे भौतिकवाद से हुआ है जिसका पूरक अध्यात्मवाद रहा हों।[5] श्रीयुत् बालगंगाधर तिलक का भी यही मत है कि सांख्यदर्शन श्रुतियों से विकसित हुआ है । इस विषय में वे गीता रहस्य के सप्तम् प्रकरण में तीन विकल्प प्रस्तुत करते हैं :-

(1) वेदान्त (उपनिषद्) एवं सांख्य के सिद्धान्त जो आपस में मिलते हैं उन्हें सर्वप्रथम उसे किसने प्रतिपादित किया, वेदान्तियों ने या सांख्यवादियों ने :-

1 दोनों का विकास (सांख्य एवं (उपनिषद) वेदान्त) दो सगे भाइयों के समान हुआ हो और उपनिषदों

---

1. भारतीय दर्शन भाग-2, पृष्ठ 248
2 सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा में उद्धृत (पृष्ठ 58)
सांख्य सिस्टम, पृ0 57-59 के विचारांश
3 सां0 द0 की ऐतिहासिक परम्परा, पृ0 58
4 सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, पृ0 31-32
5 सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा (पृ0 31-32)

में जो सिद्धान्त सांख्य के समान दिखते हैं उन्हें उपनिषदकारों ने स्वतन्त्र रीति से खोज निकाला हो।

2. वेदान्तियों ने कदाचित् कुछ सिद्धान्त सांख्यशास्त्र से लेकर उन्हें वेदान्त के अनुकूल स्वरूप दे दिया हो ।

3. कदाचित् प्राचीन वेदान्त के सिद्धान्तों में ही कपिलाचार्य ने अपने मत के अनुसार कुछ परिवर्तन करके सांख्यशास्त्र का प्रतिपादन किया हो ।

तीसरे मत को उपयुक्त ठहराते हुए वे कहते है कि यद्यपि वेदान्त एवं सांख्य दोनों ही अति प्राचीन है तथापि उनमें वेदान्त प्राचीन है।[1] वे यह स्पष्ट नहीं करते कि कपिल ने जिस भौतिक सांख्य का प्रवर्त्तन किया वह आरम्भ में ईश्वरवादी था या निरीश्वरवादी किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि :-

1. सांख्य का आरम्भिक रूप ईश्वरवादी था उपनिषदों, महाभारत पुराणों में प्राप्त सांख्य ईश्वरवादी है ।

2 जब यह ईश्वरवादी रहा होगा तब भी इस दर्शन में प्रकृति की पृथक् पदार्थ के रूप में मान्यता रही होगी क्योंकि अपने उद्भव के समय से ही यह अलग प्रस्थान के रूप में प्रसिद्ध रहा है और ऐसी मान्यता के लिए इसमें कुछ न कुछ मौलिक भेद तो होना ही चाहिए।[2]

---

1 पृ0 156-157, गीता रहस्य (पूना)

2. सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, पृ0 35

महाभारत में प्रतिपादित सांख्य

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि महाभारत में सांख्य शब्द के अपरसंज्ञा के रूप में यथाश्रुति – निदर्शनम् शब्द का प्रयोग हुआ हैं।[1] यदि यह श्रुतिमूलक न होता तो परमआस्तिक वैदिक विद्वानों की सांख्य के अध्ययन में प्रवृत्ति क्यों होती ? भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्यदर्शन का अपना महत्वपूर्ण स्थान था । महाभारतकार ने स्वयं इसकी पुष्टि की हैं :– ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्।"[2] महाभारत के अनेक स्थलों में संवाद के रूप में सांख्य का विवेचन मिलता है । इन सम्वादों से यह प्रकट होता है कि ये वर्णन किसी सांख्य – ग्रन्थ या परम्परा के आधार पर किए गए हैं। इन सम्वादों में एक कपिल – आसुरि संवाद है। इस सम्वाद में सांख्यदर्शन के तत्त्वों तथा त्रिगुण प्रकृति से महदादि की उत्पत्ति का वर्णन है । प्रकृति आदि 24 तत्त्वों के अतिरिक्त पच्चीसवें तत्त्व पुरूष का भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त पञ्चशिख – जनक सम्वाद[3], करालजनक – वशिष्ठ सम्वाद[4], जनक – याज्ञवलक्य सम्वाद[5], सुलभा – जनक सम्वाद[6], नारद – नरनारयण सम्वाद[7] एवं जनमेजय – वैशम्पायन संवाद[8] शान्तिपर्व में वर्णित हैं जिसमें सांख्य सिद्धान्तों का काव्यात्मक शैली में प्रकाशन हुआ है । ध्यान देने योग्य बात यह है कि सर्वत्र इसे पुरातनेतिहास[9] कहा गयाहै । इससे सांख्य की प्राचीनता सिद्ध होती है। महाभारत में सांख्य का यह सिद्धान्त कि प्रकृति सक्रिय जड एवं अचेतन है तथा पुरूष चेतन, निष्क्रिय एवं उदासीन है, ज्यों का त्यों प्राप्त

---

1. 12/310/25, 12/313
2. 12/301/103, 12/326-328
3. 12/307/3, 4 एवं 12/308/24, 12/211/10
4. 12/291/297
5. 12/296/21
6. 12/308 एवं 12/298
7. 12/321
8. 12/332/339
9. 12/291/7, 12/298/3, 12/307,3

होता है किन्तु वहां पर एक सर्वोच्च सत्ता के रूप में ईश्वर, ब्रह्म या परमात्मा का भी वर्णन हुआ है । शुक एवं व्यास सम्वाद में कहा गया :- तेजोमय महत्तत्त्व स्वरूप ब्रह्म ही समस्त जगत् का बीज है।[1] सत्स्वरूप प्रकृति गुणों को (विषयों को) उत्पन्न करती है । क्षेत्रज्ञ उसमें अधिष्ठित हुआ करता है और ईश्वर उदासीन भाव से इनका साक्षी बनता है।[2] इसी प्रकार अनेकशः ईश्वर या परमात्मा की चर्चा हुई है।[3] अज, निःसंग परमात्मा को षड्विंश कहा गया है।[4] कहीं-कहीं प्रकृति - पुरूष दोनों को अनादि, अनन्त ईश्वर कहा गया है और सांख्य विचारकों द्वारा इनको तत्त्व संज्ञा से अभिहित किया गया है।[5] यहां द्वैतवाद का स्पष्ट संकेत मिलता है किन्तु महाभारत में प्रतिपादित सांख्य का मुख्यरूप से झुकाव ईश्वरवाद की ओर ही है । महाभारत कोई शास्त्रीयग्रन्थ तो है नहीं, इसका मुख्य उद्देश्य सरल एवं सुबोध शैली में जनसाधारण के लिए ज्ञान का प्रतिपादन करना है । इसलिए इन विरोधी भावों से कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि महाभारत में प्रतिपादित सांख्य ईश्वरवादी है। डा0 दास गुप्त का मत है कि महाभारत में ही वर्णित पंचशिख का सिद्धान्त निरीश्वरवादी है।[6] प्रो0 हिरियन्ना का मत है कि महाभारत में प्रतिपादित सांख्य विकसित सांख्य नहीं है । उनकी धारणा हैं कि वहां ईश्वर को परमसत्ता के रूप स्वीकार किए जाने के कारण अधिक सम्भावना इसी बात की है कि महाभारत में वर्णित सांख्य परवर्ती सांख्य का आद्यरूप ही है।[7] श्वेता0 में सांख्य, कपिल एवं सांख्य

---

1 12/224/33
2 12/241/1
3 12/290/91, 109, 12/291/15, 12/295/26-22, 12/296/4
4 12/296/20
5 12/295/2, 12/240/21, 22, 12/303/12, 13
6 भारतीय दर्शन का इतिहास - भाग 1, पृ0 225
7 भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ0 107

सम्बन्धी अन्य शब्दों के प्रयोग से यही स्पष्ट होता है कि श्वेता0 से पूर्व सांख्य व्यवस्थित हो चुका था तथा महाभारतकाल तक इसकी लोकप्रियता बहुत बढ़ गयी थी ।

गीता एवं पुराणों में सांख्यदर्शन

भगवत्गीता में भी सांख्य विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । सांख्यवत् गीता में भी यह स्वीकार किया गया है कि :-

1 सत् का कभी भी विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती ।[1]

2 पुरूष या आत्मा अविनाशी, अजर, अमर और असंग है।[2]

3. त्रिगुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) के स्वरूप का वर्णन सांख्य सम्मत ही है।[3]

4 समस्त जगत् की सृष्टि क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के संयोग से होती है।[4] और सम्पूर्ण विकारों का आश्रय प्रकृति ही है।

5 कर्तृत्व गुणों में ही है किन्तु अहंकार से मोहित हुआ आत्मा अज्ञानवश अपने को कर्त्ता मानता हैं।[5] गीता का यह मत सांख्य में भी स्वीकृत हैं।[6] भगवत् गीता[7] में जहां एक ओर प्रकृति-पुरूष

---

1 नासतो विद्यते भावो (1/16) गीता

2 2/12, 17, 18, 20, 21, 23, 24, 25, 29 वी

3 15/10-15

4 यावत्संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजंगम ।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञ संयोगात्तत्विद्धि - भारतर्षभ।। 13/26 एवं 27

5 13/20, 21 गीता

6 "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते"।। : गीता 13/27 एवं 29 भी द्रष्टव्य ।

7 'तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम् ' सांख्यकारिका 20 का पूर्वार्द्ध

दोनों को अनादि व नित्य कहते है वहीं यह भी कहते हैं कि उन्हीं की अध्यक्षता में प्रकृति चराचर जगत को उत्पन्न करती है। इस प्रकार गीता में वर्णित सांख्य ईश्वरवादी है। गीता में सांख्य के सदृश पुरूष बहुत्व को स्वीकार नहीं किया गया है यद्यपि पुरूष का स्वरूप सांख्य में वर्णित पुरूष तत्त्व से भिन्न नहीं है ।

पुराणों में भी कपिल एवं कापिल सांख्य का प्रशंसापूर्ण शब्दों में उल्लेख किया गया हैं । ब्रह्म पुराण में 24 भेदों वाली प्रकृति को ब्रह्म की अभिव्यक्ति कहा गया है।[1] इसी प्रकार भागवतपुराण में सांख्य-सिद्धान्तों को विष्णु भक्तिपरक बताया गया है। इसमें विस्तार से सांख्य-सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। इस पुराण में निहित सांख्य – सिद्धान्त का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया गया है :–

1 सत्त्वादिगुणत्रय आत्मा के नहीं है, प्रकृति के हैं,[2] प्राकृत जगत् गुणक्षोभ का परिणाम हैं।[3]

2 प्रकृति – पुरूष भिन्न हैं किन्तु अन्योन्याश्रयत्व के कारण अज्ञानी (साधारण) पुरूष को इनकी भिन्नता का ज्ञान नहीं हो पाता।[4]

3 प्रकृति के गुणों में क्षोभ जीवों के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार स्वयं

---

1. गीता, 13/19 (5) 238 से 239 अध्याय
2. प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।
   सत्त्वं रजस्तमः इतिस्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।।, 11/12/12
3 11/22/29
4 प्रकृतिपुरूषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ ।
   अन्योन्याश्रयात् कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः ।।, 11/22/26, 27, 29

भगवान् ने ही किया है।[1] परमात्मा की ईक्षणशक्ति से ही प्रकृति अपना कार्य करती रहती है ।

भागवतपुराण के तीसरे स्कन्ध के 26वें अध्याय में प्रकृति को त्रिगुणमयी, नित्य, अव्यक्त तथा कार्यकारणरूपा कहा गया है। प्रकृति तथा 23 व्यक्त तत्त्वों के अतिरिक्त काल पच्चीसवां तत्त्व है। यह साम्यावस्थारूप निर्विशेष प्रकृति में गति उत्पन्न करने वाला भगवद्रूप माना गया है।[2] काल का इस प्रकार वर्णन परवर्ती सांख्य में नहीं मिलता । विष्णु पुराण में प्रधान एवं पुरूष को भगवान् विष्णु का ही रूप कहा गया है।[3] द्वितीयाध्याय की समाप्ति तक सांख्य सिद्धान्तानुसार प्रकृति महत् आदि की उत्पत्ति का क्रम पूर्वक वर्णन है। अग्निपुराण मत्स्यपुराण[4] एवं पद्मपुराण (2/6–25) में सांख्यानुसार सर्गोत्पत्ति का वर्णन है । वायु पुराण के सृष्टि प्रकरण (4, 5 अध्याय) में और स्कन्दपु0 के माहेश्वर खण्ड के अन्तर्गत कौमारिका खण्ड में (37/6–11) प्रकृति – पुरूष का उल्लेख है। वायु पुराण में सृष्टि – क्रम का भी वर्णन किया गया है। ब्रह्म वैवर्त पुराण के ब्रह्म खण्ड (3/4, 5) में संसार के कारण रूप तीन गुणों का उल्लेख किया गया है। प्रकृति खण्ड में प्रकृति के स्वरूप का एक विशिष्ट रीति से वर्णन है । देवी भागवत् पुराण में सांख्य को परमज्ञान तथा सर्व अज्ञान नाशक माना गया है ।

---

1 मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरूषानुमतेन च । (11/24/4, 9)

2 प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः ।।
3/26/17

3. तदेव सर्वमेवैतद्व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत् ।
तथा पुरूषरूपेण कालरूपेण च स्थितम ।।

4 69/1–5 (4) 221–229 अध्याय अग्निपु.
मत्स्यपुराण 3/14, 29

इस प्रकार पुराणों में प्रतिपादित सांख्य ईश्वरवादी ही है । प्रकृति और पुरूष की चर्चा जिन पुराणों में हुई है उन्हें ईश्वराश्रित ही बताया गया है। नित्य और स्वतन्त्र होते हुए भी ये परमात्मा की प्रेरणा के बिना कोई भी कार्य नहीं कर सकते । जगत् की रचना में परमात्मा की प्रेरणा को सर्वत्र स्वीकार किया गया है।[1] सर्वात्मा परमेश्वर इतना समर्थ है कि अपनी सन्निधि मात्र से प्रकृति–पुरूष को प्रेरित करता है।[2] ब्रह्मपुराण[3], वायुपुराण[4] एवं भागवत पुराण[5] में भी ईश्वर द्वारा प्रेरित प्रधान से जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है । भागवतपुराण में अव्यक्त पुरूष को प्रकृति का साक्षी और काल को साम्यावस्था रूप निर्विशेष प्रकृति में गति उत्पन्न करने वाला पुरूष रूप भगवान् माना गया है । इन सभी तत्वों में भगवान् अपनी माया के द्वारा व्याप्त हैं। वह सब प्राणियों में जीव रूप से और सर्वत्र काल के रूप में व्याप्त है। परमात्मा की ईक्षण शक्ति द्वारा ही संसारचक्र चलता रहा है।[6] उपनिषद् महाभारत, गीता एवं पुराणों में सांख्य की स्थिति की चर्चा करने के पश्चात् स्मृतियों में प्राप्त सांख्य के स्वरूप पर विचार किया जायेगा । सांख्यीय तत्वों का उल्लेख स्मृतियों में भी हुआ है। मनुस्मृति में सांख्य शब्द का उल्लेख रहने पर भी सत्त्व, रजस् और तमस् का वर्णन हैं।[7]

---

1 अव्यक्तं कारणं यत्तत् प्रधानमृषिसत्तमैः ।
प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदासदात्मकम् ।। विष्णुपु0, (1/2/19)
प्रधानपुरूषांचापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले द्विजोत्तम ।। (1/2/29, वही)

2 वही, 1/2/30

3 अव्यक्तं कारणं यत्तन्नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं पुरूषस्तस्मान्निर्ममे विश्वमीश्वरः ।। (ब्रह्मपु0 1/33)

4 वायुपु0 5/21

5 भागवतपुराण 11/22/13 एवं यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकं ।
प्रधानं प्रकृति प्राहुर विशेषं विशेषवत् ।।, 11/22/3

6 प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि। चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः
अन्तः पुरूषरूपेण कालरूपेण यो बहिः । समन्वेत्येष सत्त्वानां
भगवानात्मयया ।। 3/26/17 – 16 एवं 11/24/20

7 मनुस्मृति 1/5 से 19 एवं 27, 36

इसी स्मृति में 1/76 श्लोक की व्याख्या करते हुए मेधातिथि ने सांख्य सिद्धान्त के अस्तित्व को सूचित किया है।[1] विष्णु स्मृति में भी 24 तत्वों की पुरूष से भिन्नता जहां बतायी गयी है वही पर तीन गुणों का भी निर्देश है। इस स्मृति का एक श्लोक (2/25) तो द्वितीय कारिका के गौडपादभाष्य से बिल्कुल मिलता जुलता है । शंखस्मृति[2] तथा याज्ञवल्क्य स्मृति (3/179) में भी सांख्यीय तत्त्वों का वर्णन हुआ है । पञ्चरात्रागम से सम्बन्धित अहिर्बुध्न्य संहिता में सांख्य का प्रसंगतः उल्लेख हुआ है सांख्य का वर्णन इसमें इस प्रकार हुआ है जगत् का मूलकारण प्रकृति है, प्रकृति गुणों की साम्यावस्था है।[3] पुरूष कूटस्थ और एक है, जो सब पुरूषों की समष्टि हैं।[4] कालतत्त्व भगवान् विष्णु की संकल्पशक्ति से प्रेरित होकर प्रकृति और पुरूष को सम्बन्धित करता है।[5]

---

1 आकाशान्तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः' की व्याख्या " विकुर्वाणादहंकारात् आकाशस्तस्माद्वायुः" करते हुए मेधातिथि ने सांख्यसिद्धान्त के अस्तित्व को सूचित किया है। 1/76 – 78

2 शंख स्मृति – 7/21 – 25

3 अन्यूनानतिरिक्तं यद्गुणसाम्यं तमोमयं ।
तत्सांख्यैर्जगतो मूलं प्रकृतिश्चेति कथ्यते ।।
(7/1) अहिर्बुध्न्य संहिता

4 समष्टिः पुरूषो योनिः स कूटस्थ इतीर्यते, 7/2 वही ।

5 यत्तत्कालमयं तत्त्वं जगतः संप्रकालनम्
स तयोः कार्यमास्थाय संयोजक – विभाजकः ।।
वही, 7/31
मृतपिण्डीभूतमेतत्तु कालादि त्रितयं मुने ।
विष्णोः सुदर्शनेनैव स्वस्वकार्यप्रचोदितम् ।।
7/4, वही

कपिल का श्रुति, महाभारत पुराणों एवं संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में वर्णन

सांख्य दर्शन की प्राचीनता से उसके कर्तृत्व की प्राचीनता स्वयं मेव सिद्ध हो जाती है किन्तु इस विषय में विचार दो कारणों से अपेक्षित है:-

1 भारतीय इतिहास में कपिल नामक कई व्यक्ति हुए हैं । कपिलवस्तु नामक नगर जिसने बसाया वह कपिल, प्रह्लाद पुत्र असुर कपिल धर्म स्मृतिकार कपिल, उपपुराणकार कपिल तथा विश्वामित्र पुत्र कपिल! इनमें से कोई भी सांख्यप्रवर्त्तक कपिल नहीं है । इसके अतिरिक्त विष्ण्वावतार कपिल, अग्न्यावतार कपिल, ब्रह्मसुत कपिल का उल्लेख भी मिलता है ।

2. कुछ पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान कपिल को काल्पनिक व्यक्ति मानते हैं। कोलब्रुक, जैकोबी, मैक्समूलर,[1] कीथ[2], प्रो0 रानाडे[3], पुलिन बिहारी चक्रवर्ती[4], श्रीयुत पं0 गोपीनाथ कविराज[5] तथा डा0 हरदत्त शर्मा[6] इत्यादि कपिल को ऐतिहासिक पुरूष नहीं मानते ।

डा0 कीथ ने लिखा है कि - कपिल पद हिरण्यगर्भ का पर्याय है और अग्नि, विष्णु तथा शिव आदि के साथ (कपिल) हिरण्यगर्भ की एकात्मकता का भी उल्लेख संस्कृत साहित्य में मिलता है इसलिए कहा जा सकता है कि सांख्यप्रवर्त्तक कपिल नामक कोई व्यक्ति पृथ्वी पर कभी अवतीर्ण ही नहीं हुआ[7]।

---

1. Samkhya & Yoga, R. Garbe (P. 2-3).
2. Samkhya System, P. 9.
3. Constructive Survey of Uphistadic Phisolophy
4. Origin and Development of the Samkhya System of Thought, Pulin Bihari Ohakarborti P. 111
5. पं0 उदयवीरशास्त्रीकृत "सांख्यदर्शन का इतिहास" पृ0 21 दृष्टव्य ।
6. सांख्यतत्त्वकौमुदी, पूना संस्करण की भूमिका पृ0 14
7. सांख्य सिस्टम पृ0 9

महामहोपाध्याय पं0 गोपीनाथ कविराज जी ने भी सांख्यकारिका की जयमंगला टीका की स्वलिखित भूमिका में कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में संदेह व्यक्ति किया है।[1] कपिल का नामोल्लेख श्रुति, रामायण, महाभारत और पुराणादि में हुआ है किन्तु संस्कृत साहित्य में अनेक कपिल नामक पुरूषों का वर्णन होने से सांख्य – प्रवर्त्तक "कपिल" के विषय में ऐसी भ्रामक धारणा प्रचलित है कि वे काल्पनिक व्यक्ति थे या विष्ण्वावतार अथवा अग्न्यावतार या ब्रह्मसुत कपिल सांख्य दर्शन के प्रवर्त्तक थे ।

सर्वप्रथम कपिल का परमोच्चज्ञान वर्णन करने वाली श्वेताश्वतर श्रुति है।[2] आचार्य शंकर का इस विषय में यह मत है कि "ऋषि प्रसूतं" इत्यादि मन्त्र में कपिल का सामान्य रूप से ही कथन हुआ है अतः यहां कपिल का अर्थ सांख्य प्रवर्त्तक कपिल नहीं है । केवल शब्द सादृश्य के आधार पर अवैदिक सांख्यमत का प्रतिपादन करने वाले (प्रधानकारणवाद) कपिल का ही कथन श्रुति में हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है।[3] श्रुति में आये कपिल पद का अर्थ वे हिरण्यगर्भ करते हैं (सुवर्ण सदृश कपिल वर्ण या कनक वर्ण)[4] गोविन्दानन्द ने अपनी रत्नप्रभा नामक टीका में कपिल की इस प्रकार व्याख्या की है – कपिल शब्द मात्र से सांख्य कर्ता कपिलमुनि का ग्रहण कर लेना इसमें युक्त नहीं है क्योंकि वे द्वैतवादी हैं। सर्वज्ञता से सम्पन्न कहे जाने के कारण कपिल ऋषि भगवान् वासुदेव के अंश ही हैं। वही सर्वात्मत्व ज्ञानरूप वैदिक सांख्य

---

1 पृ0 2–3

2 'ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे'
(मंत्र 5/2 का उत्तरार्ध)

3 या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुति-विरूद्धमपि कापिलंमतं श्रद्धातुं शक्यम् । 2/1/1 ब्र सू शां. भा

4 कपिलं कनककपिलवर्णं प्रसूतं स्वेनैवोपादितं हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम् ।
श्वेता0 5/2 शांकर भा0

के उपदेष्टा थे।[1] इस प्रकार गोविन्दानन्द के अनुसार अवैदिक सांख्य के उपदेष्टा (प्रधानकारणवाद) एवं वैदिक सांख्य के प्रणेता दोनों का ही नाम कपिल है किन्तु वैदिक सांख्य के प्रवर्त्तक कपिल ही विष्णु के अवतार थे। शांकराचार्य को कपिल पद का कनकवर्ण कपिल अर्थ करके संतोष नहीं हुआ । उनको भी यह बात अवश्य अनुचित लगी होगी कि वे प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर अप्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण कर रहे हैं इसलिए श्वेताश्व0 श्रुति (5/2) "ऋषि प्रसूतं" में आए कपिल पद का अन्ततः वे परमर्षिकपिल ही अर्थ करते है।[2] ये कपिल भगवान् विष्णु के अवतार थे।[3]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि सृष्टि के आदिकाल में विष्णु के अवतार कपिल नामक परमर्षि हुए और इनका सम्बन्ध सांख्य दर्शन से था । महाभारत में कपिल का वर्णन शान्तिपर्व एवं वनपर्व में हुआ है । सगरोपाख्यान में कपिल को वासुदेव कहा गया है।[4] सगरपुत्रों को भस्म करने वाली कपिल सम्बन्धी घटना का वाल्मीकि रामायण में भी विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है । कपिलमुनि के लिए रामायण में भी वासुदेव एवं सनातन विशेषण

---

1 अत्र च सर्वज्ञानसम्भृत्वेन श्रुतः कपिलो वासुदेवांश एव स हि सर्वात्मत्वज्ञानं वैदिक सांख्यमुपदिशतीति सर्वज्ञभावः 1 (2/1/1)

2 सांख्यानां कपिलो देवो रूद्राणामसि शंकरः
इति परमर्षि प्रसिद्धः । . . स एव कपिलः
प्रसिद्धोऽग्रे सृष्टिकाले ।
5/2 शां0 भा0 श्वेता0 में उद्धृत

3 कपिलर्षि भगवतः सर्वभूतस्य वै किल ।
विष्णोरंशो जगन्मोहनाशाय समुपागतः ।
5/2 शां0 भा0 श्वेता0 में उद्धृत

4 वासुदेवेति यं प्राहुः कपिलं मुनिपुंगवम् ।
वनपर्व/107/32 पूवार्द्ध

आये है।[1] महाभारत में शान्तिपर्व के मोक्षधर्म प्रकरण (नारायणीयोपाख्यान) में नारायण-नारदसंवाद में भगवान् नारायण कपिल को सांख्याचार्य कहते है।[2] इसी प्रकार वैशम्पायन राजा जनमेजय से विभिन्न मतों का वर्णन करते हुए सांख्यवक्ता के रूप में कपिल को स्मरण करते हैं।[3] भवगद्‌गीता में भगवान् श्री कृष्ण अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए कहते है ... सिद्धानां कपिलो मुनिः।[4] सिद्ध और मुनि शब्द के द्वारा यह बात स्पष्ट होती है कि किसी काल विशेष में कपिल सशरीर विद्यमान थे और उन्होंने सर्वश्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त की थी ।

भागवतपुराण में कर्दम ऋषि एवं स्वम्भुवमनु की पुत्री देवहूति के गर्भ से जन्म लेने वाले कपिल मुनि को साक्षात् अक्षर, अविनाशी विष्णु का अवतार कहा गया है। भागवत के प्रथम स्कन्ध में इन्हें विष्णु का पञ्चम अवतार कहा गया है :-

> पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविलुप्तम्[5] ।
> प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्राम विनिर्णयम्[6] ।।

इन्होंने बहुत समय से लुप्त प्राय आत्मदर्शन के लिए उपयोगी सांख्य शास्त्र को असुरि के प्रति कहा था । भागवत का उपर्युक्त श्लोक मरूड़ पुराण में भी आया है । देवी भागवत पुराण में भी "कपिलं शास्त्रमाख्यातं सर्वाऽज्ञानननाशनम्' से

---

1 वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड, सर्ग (40/25)`ते तुसर्वे महात्मानोभीमवेगा महाबलाः ददृशः कपिलं तत्र वासुदेवं सनातनम्'।

2 कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्यनिश्चितनिश्चयाः 12/231

3 सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः, स उच्यते। 12/338

4 गीता 10/26

5 भगवन्तम् परम् ब्रह्म. सत्त्वेन अंशेन शत्रुहन्।
तत्त्वसंख्यान विज्ञप्त्यै जातम् विद्वान् अजः ।
भागवत् पुराणम् 3/24/10

6 1/3/10 वही ।

कपिल एवं उनके शास्त्र की प्रशंसा की गयी है । विष्णु पुराण[1], वायु पुराण[2], पद्म पुराण[3] (सृष्टि खण्ड) तथा स्कन्द पुराण (रेवाखण्ड)[4] में स्पष्ट शब्दों में कपिल मुनि को भगवान विष्णु का अंश कहा गया है और यही कपिल सांख्य के प्रवर्त्तक कहे गए है। अहिर्बुध्न्यसंहिता सांख्यमत के प्रतिपादन का श्रेय विष्णु के अवतार रूप कपिल को देती है।[5] सांख्य-कारिकाकार ईश्वरकृष्ण 69वीं एवं 70वीं कारिका में कहते हैं-महर्षि कपिल ने पुरूषार्थ को सिद्ध करने वाला, अत्यन्त गुह्य, पवित्र एवं श्रेष्ठ ज्ञान को दयावश आसुरि को दिया था।[6] सांख्य-कारिका की प्राचीन टीका माठरवृत्ति में भी महर्षि कपिल को प्रजापति कर्दम एवं देवहूति का पुत्र तथा नारायण का अवतार कहा गया है । इन्होंने अज्ञानसागर में डूबे हुए जन का उद्धार करने के लिए सांख्यशास्त्र रूपी नौका तैयार की थी।[7]

---

1 कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै द्विज ।
विष्णोरंशो जगमोहनाशयोर्वीमुपागतः । (2/14/9)

2 विष्णुं कपिलंरूपेण हंस नारायणम् प्रभुम् । 88/143-147

3 8/147, 2/6 - 25

4 175/2 - 7

5 कपिलश्च पुराणर्षिरादिदेवसमुद्भवः । 11/54
विष्णु संकल्प संभूतमेतद्वाच्यायनेरितम् ।
ततश्च कपिलः शास्त्राद्यवदंशमुदारधीः ।। 11/59
सांख्यरूपेण संकल्पो वैष्णवः कपिलादृषेः ।
उदितो यादृशः श्रुणु मेऽखिलम् ।। 12/18

6 पुरूषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् । (पूर्वार्द्ध, 69 कारिका)
एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ । (पूर्वार्द्ध, 70वीं कारिका)

7 कपिलाय नमस्तस्मै येनाविद्योदधौजगतिमग्ने
कारूण्यात् सांख्यमयी नौरिह विहता प्रतरणाय । (मंगलाचरण/2)
इह हि भगवान् महर्षि
सांसिद्धिकधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नो भगवतः पुराणपुरूष-स्यावतारो
जगदनुजिघृक्षया प्रजापतेः कर्दमस्य पुत्रः स्वायम्भु-वस्य मनोर्दुहितरि देवहूत्यां
कपिलो नाम बभूव । माठरवृत्ति पृ0 2

अग्न्यावतार एवं ब्रह्मसुत कपिल

कपिल के सम्बन्ध में महाभारत में ऐसे उद्धरण मिलते हैं जिससे कपिल अग्नि के अवतार सिद्ध होते है।[1] वायु पुराण में भी कपिल को अग्नि कहा गया है।[2] द्वाविंशतिसूत्री तत्तवसमास की सर्वोपकारिणी नामक टीका में भी महाभारत की ही भाँति दो कपिलों का उल्लेख हुआ है :–

1 तत्तवसमास के रचयिता, भगवान विष्णु के अवतार, देवदूति एवं कर्दम प्रजापति के पुत्र कपिल तथा सांख्यसूत्र षडध्यायी के रचयिता अग्नि के अवतार कपिल।[3] महाभारत में एक स्थान पर इन्हें ब्रह्माजी के सप्तमानसपुत्रों में से एक कहा गया है। अगले श्लोक में इन सातों को ही सांख्यविशारद एवं मोक्षधर्म प्रवर्त्तक कहा गया है । महाभारत के सदृश ही गोडपाद ने भी सांख्यकारिका के भाष्य में ब्रह्मसुत कपिल को ही सांख्योपदेष्टा माना है।[4]

---

1 कपिलं परमर्षि च यं प्राहुर्यतयः सदा ।
अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः ।
महाभारत वनपर्व 221/21

2 आदित्यसंज्ञः कपिलस्त्वग्रजोऽग्निरिति स्मृतः, वायुपुराण 5/45

3 सूत्रषडध्यायी तु वैश्वनरावतार महर्षिकपिल प्रणीता । इयं तु द्वाविंशति सूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणावतार महर्षि कपिलप्रणीतेति वृद्धाः ।
सनः सनत्सुजातश्च सनकः : सनन्दनः ।
सनत्कुमार कपिलः सप्तमश्च सनातनः ।
सप्तैते मानसाः प्रोक्ता ऋषयोर्ब्रह्मणाः सुताः ।
स्वयमागतविज्ञानानिवृत्ति धर्मम् स्थिताः । एवं महाभारत का
शान्तिपर्व 340/69, 70 द्रष्टव्य है।

4 इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम । तद्यथा सनकश्च, सनन्दश्च, तृतीयश्च सनातनः ।
आसुरिः कपिलश्च वोढु पञ्चशिखस्तथा । इत्येते ब्राह्मणः पुत्राः सप्तप्रोक्ता महर्षयः ।

विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्र में प्रवचनभाष्य के अन्त में इस विरोध का परिहार करते हुए कहा है कि दो कपिलों की धारणा व्यर्थ एवं दोषपूर्ण हैं।[1] उन्होंने विष्ण्वावतार कपिल को ही सांख्यशास्त्र का प्रवर्त्तक माना है। विज्ञानभिक्षु का यह मत उचित भी प्रतीत होता है । कपिल को अग्नि या ब्रह्मसुत कहने के निम्नलिखित कारण हो सकते है ।

1. 'अग्निः स कपिलो नाम सांख्यशास्त्र प्रवर्त्तकः' इत्यादि महाभारतीय वचन का तात्पर्य यह है कि अंग्नि नामक शक्ति का आवेश होने के कारण यत्र–तत्र उनका अग्नि नाम से उल्लेख हुआ है अथवा अत्यधिक तेजस्विता के कारण ही उन्हें अग्नि कहा गया होगा ।

2 ब्रह्मसुत कहने के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं :–

   1 सम्भवतः ब्रह्मा के समान अपूर्व वैदुष्य उनमें रहा होगा
   2 भागवतपुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा ने इनके जन्म के समय स्वयं उपस्थित होकर कर्दमऋषि से इनके सम्बन्ध में बहुत कुछ बताया था ।
   3 यह भी संभव है कि ब्रह्मा जी से इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ हो।[1]

---

1 उदयवीर शास्त्री कृत सांख्य दर्शन का इतिहास
द्रष्टव्य पृ0 5

कपिल की काल्पनिकता का खण्डन

योगसूत्र (1/25) के व्यास भाष्य में एक उद्धरण प्राप्त होता है, जिसे वाचस्पति पञ्चशिख का कहते हैं, वह इस प्रकार है – "आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारूण्याद् भगवान्परमर्षिः, असुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवचेति।" 'निर्माण चित्तमधिष्ठाय" के आधार पर ही अनेक विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि कपिल का कोई भौतिक शरीर नहीं था इसलिए वे ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं थे । पञ्चशिख के उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति जो लिखते हैं उसका सार यही है कि कपिल हिरण्यगर्भादि ने जीवों के कल्याण के लिए सर्ग के आदि में जिस ज्ञान का उपदेश दिया वे उन्हें परमेश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त हुआ है।[1] कपिल केवली मात्र थे, ईश्वर नहीं क्योकि इस तन्त्र में मान्य ईश्वर अवतार ग्रहण नहीं करता बल्कि संकल्पमात्र से ही जीवों का उद्धार करता है।[2]

43वीं सांख्यकारिका की व्याख्या में सांसिद्धिकभावों का उदाहरण देते हुए कपिल के विषय में वाचस्पतिमिश्र ने जो लिखा हैं,[3] संक्षेप में उसका भाव यही है कि "आदि विद्वान", "महामुनि" कपिल सृष्टि के आदिकाल में उत्पन्न हुए थे । भागवतपुराण में "भगवान् कर्दमऋषि से कहते है कि आत्मज्ञान का मार्ग (सांख्यशास्त्र) बहुत समय से लुप्त हो गया है। उसे पुनः प्रारम्भ करने

---

1 उद्धृत पृ0 91 योगसिद्धिः नामक व्याख्या डा0 सुरेशचन्द्र कृत,(तत्त्ववैशारदी 78 पृ0) इति पंचशिखाचार्यवचनमादिमुक्तस्वसन्तानादिगुरूविषयं, न त्वनादिमुक्त परमगुरूविषयम् । आदि मुक्तेषु कदाचिन्मुक्तेषु विद्वत्सु कपिलोऽस्माकमादि-विद्वानमुक्तः स एवं च गुरूरिति । कपिलस्यापि जायमानस्य महेश्वरानुग्रहादेव ज्ञानप्राप्तिः श्रूयते इति ।

2 डा0 सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव कृत योगसिद्धि व्याख्या पृ0 91, चौ0 सुरभारती प्रकाशन, 1988 वाराणसी

3 यथा सर्गादावादिविद्वान्-भगवान् कपिलो महामुनि धर्मज्ञान वैराग्येश्वर्यसम्पन्नः प्रादुर्बभूवेति स्मरन्ति। तत्त्वकौमुदी-43 सां0 का0

के लिए मैंने यह देह धारण की है।[1] देह धारण करने का तात्पर्य है कि भौतिक रूप से उनका अस्तित्व था इसलिए वे काल्पनिक व्यक्ति नहीं हो सकते। सांख्य-योग के अनुसार सभी शरीरों की प्रकृति पृथ्वी आदि भूत है और समस्त इन्द्रियों की प्रकृति `अस्मिता', अहंकार है। सिद्ध योगी भी आयोनिज देहों की रचना पृथ्वी आदि भूतों से ही करते हैं अन्य किसी तत्व से नहीं । इसलिए उनके भी निर्माणकाय भौतिक ही होते है अभौतिक नहीं।[2] भगवान् कपिल में जन्मतः सिद्ध ज्ञानधर्मादि के कारण इन्हें श्रद्धालु ऋषियों ने हिरण्यगर्भ नाम से भी सम्मानित किया है। किन्तु इन अर्थों से यह भ्रम नहीं करना चाहिए कि कपिल काल्पनिक व्यक्ति थे ।

कपिल का समय

परमर्षि कपिल के समय का निश्चित रूप से निर्देश कर सकना कठिन है । जैसा कि सांख्यशास्त्र के ऐतिहासिक विवरण से इस शास्त्र के प्रवर्त्तक का काल भी अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है । श्वेताश्वतरोप0 और कठो0 सांख्यशास्त्र के विचारों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। यदि कठो0 के विषय में यह मान लें कि इस उपनिषद का ही सांख्य पर प्रभाव पड़ा तो भी इस शास्त्र के प्रवर्त्तक का समय श्वेता0 से बाद का नहीं हो सकता । श्वेता0 में कपिल एवं सांख्य का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख हुआ है। ये उपनिषदें प्राचीनतम उपनिषदों बृहदा0 एवं छान्दोग्य से बाद की हैं। कपिल का काल श्वेता0 के आविर्भाव से पूर्व ही रखा जा सकता है। प्रो0 विंटरनित्स के अनुसार इसकी रचना

---

1 एष आत्मपथः अव्यक्तः नष्टः कालेन भूयसा ।
तम प्रवर्तयितुम देहम् इमम् विद्धि मया भृतम् ।।

2 आद्या प्रसाद मिश्र, सां0 द0 की ऐतिहासिक परम्परा पृ0 53

बुद्ध से पूर्व हो चुकी थी।[1] स्वयं महात्मा बुद्ध ने प्रमुख सांख्यचिन्तक अराड से सांख्य प्रतिपादित तत्त्वज्ञान का श्रवण किया था।[2] स्पष्ट है कि महर्षि कपिल बुद्ध से पूर्व हुए होंगे । डा0 राधाकृष्णन भी कपिल का काल बुद्ध से पूर्व मानते हैं।[3] श्रीमद्भागवतपुराण के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि कर्दम प्रजापति (कपिल के पिता) का आश्रम सरस्वती नदी के तट पर बिन्दुसरस् के समीप कहीं था।[4] शतपथ ब्राह्मण सरस्वती विनशन का उल्लेख मिलता है।[5] पद्म पुराण में भी इस घटना का उल्लेख है।[6] अतः कपिल का समय उसी प्राचीन काल में मानना चाहिए जबकि सरस्वती नदी अविरल रूप से प्रवाहित हो रही थी । इतिहासकारों ने सरस्वती नदी के सूखने की घटना को 25 हजार वर्ष पूर्व माना है। उससे पहले ही कर्दम ऋषि का आश्रम सरस्वती नदी के तट पर रहा होगा, न मालूम कितने वर्ष पहले।[7] भागवत पुराण में कपिल को पाँचवा अवतार मानने से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि वर्तमान कल्प के किसी आदिम युग में किसी समय कपिल मुनि अवतीर्ण हुए थे।[8] विष्णु पुराण के कपिल विषयक,

---

1. A History of India Literature, Vol. 4, p. 237
2 बुद्ध चरितम् 12/1-21
3 भा0द0, खण्ड-2, पृ0 253
4 तत् कर्दम आश्रम पदम् सरस्वत्या परिश्रितम्।
स्वयम्भूः साकम् ऋषिभिः मरीचि आदिभिः नम्ययात्।
भागवत पुराण 3/24/9
5 1/4/1/10-17, शतपथ ब्रा0
6 सृष्टि खण्ड 18/159-200
7 उदयवीर शास्त्री कृत सां0 द0 का इति0, पृ0 42
8 सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, डा0 आद्या प्रसाद मिश्र पृ0 70

"कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादि स्वरूप धृत्। ददाति सर्व भूतानां सर्वभूतहिते रतः।[1] इस श्लोक से यह प्रतीत होता है कि इनका जन्म कृतयुग (सत्ययुग) में किसी समय हुआ होगा । अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार कपिल का जन्म त्रेता के आदि काल में हुआ था।[2] यद्यपि कपिल के जन्म के विषय में उक्त विरोध मिलता है किन्तु इससे कपिल की प्राचीनता ही सिद्ध होती है।

कपिल की कृति

कपिल ने आसुरि को जो उपदेश दिया वह लिखित था या मौखिक ? क्या कपिल ने कोई ग्रन्थ भी लिखा था ? प्राचीन भारतीय परम्परा षष्टितन्त्र को कपिल की रचना मानती है। योगसूत्र के व्यास भाष्य में आये पंचशिख के प्रसिद्ध कथन "आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारूण्याद्भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच"[3] में कपिल के उपदेश के लिए तन्त्रशब्द का प्रयोग हुआ है।ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्यकारिका द्वारा इस मत की पुष्टि होती है – पुरूषार्थ . । `पुरूषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्'।[4] और एतत् पवित्र्यमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ, आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रं।।[5]

71वीं एवं 72वीं कारिका में आगे कहा गया है शिष्य परम्परा द्वारा यह ज्ञान ईश्वर कृष्ण को प्राप्त हुआ जिसे उन्होंने 70 कारिकाओं द्वारा संक्षेप में प्रस्तुत किया । इन 70 आर्याओं में निःसंदेह षष्टितन्त्र के प्रतिपाद्य विषयों का ही निरूपण हुआ है।केवल आख्यायिकाओं एवं परमत खण्डन को छोड़

---

1 3/2/54 नाग पब्लिसर्स देलही

2. त्रैतादौ सत्त्वसंकोचाद् रजति प्रतिजृम्भिते। 11/51

3 1/25 योगसूत्र व्यासभाष्य

4 69 कारिका

5. 70 वीं सां0 कारिका

दिया गया है।[1] पञ्चशिख और ईश्वरकृष्ण के द्वारा कथित तन्त्र शब्द का प्रयोग षष्टितन्त्र के लिए ही किया गया है। पूरे नाम के लिए आधे पद का प्रयोग व्यवहार में ही नहीं अपितु साहित्य में भी मिलता है । ईश्वरकृष्ण ने पूरे नाम के लिए आधे का ही प्रयोग कई स्थानों पर किया है।[2] उदाहरण के लिए – 'तस्मादपि षोडशकात् पंचम्यः पंचभूतानि' इस कारिका का युक्तिदीपिकाकार अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं – पूर्वपदलोपेनात्र – महाभूतानीति वक्तव्ये भूतानीत्युच्यते । भूत संज्ञा हि तन्मात्राणां न पृथिव्यादीनाम् । इस प्रकार तन्त्र का प्रयोग ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में और पञ्चशिख सूत्र में षष्टितन्त्र के लिए ही किया गया है।[3] युक्तिदीपिका में कहा गया है कि सांख्यकारिका के विषय परमर्षि प्रणीत (षष्टितन्त्र) तन्त्र का आदर्शगत बिम्ब अर्थात् प्रतिबिम्ब है। शंकराचार्य ने भी षष्टितन्त्र को कपिल प्रणीत माना है।[4] वेदान्तसूत्रों के भाष्यकार आचार्य भास्कर ने भी इस सूत्र की व्याख्या करते हुए स्पष्ट शब्दों में षष्टितन्त्र को कपिल की रचना कहा है।[5] कल्पसूत्रनामक जैन ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में महावीर स्वामी की 'सट्ठितन्त विसारए' कहा गया है। व्याख्याकार यशोविजय ने इस पद की व्याख्या इस प्रकार की है – षष्टितन्त्रं कापिलशास्त्रं, तत्र विशारदः पण्डितः ससे यह प्रतीत होता है कि महावीर स्वामी ने षष्टितन्त्र का अध्ययन ही नहीं बल्कि उसमें विशेष योग्यता भी प्राप्त की थी।[6]

---

1 सप्त्यां किल येऽर्थास्तेऽर्था कृत्स्नस्य षटितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि॥ 72वीं कारिका

2 सां0 का0–22 का उत्तरार्द्ध

3 तत्त्वं जिज्ञासमानाय विप्रायासुरये मुनिः। यदुवाच महत्तन्त्रं दुःखत्रयनिवृत्तये।
युक्तिदीपिकाकारिका एवं अल्पग्रंथमनल्पार्थं सर्वैस्तन्त्रगुणैर्युतम्। पारमर्षस्य तन्त्रस्य बिम्बादर्शगं यथा। (कारिका–14 युक्तिदीपिका)

4 स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षि प्रणीता "ब्रह्मसूत्र (2/1/1)

5 यदि ब्रह्मौवोपादानकारणञ्च ततः कपिलमहर्षिप्रणीत – षटितन्त्राख्यस्मृतेरन–वकाशो निर्विषयत्वम्। (ब्रह्मसूत्र भास्कर भाष्य 2/1/1)

6 सां0 द0 का इतिहास

इससे महावीर स्वामी के समय षष्टितन्त्र की उपलब्धता की सूचना मिलती है। पांचरात्र सम्प्रदाय की अहिर्बुध्न्य संहिता के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि षष्टितन्त्र (साठ भागों वाला) भगवान् विष्णु के संकल्प से सांख्य रूप में कपिल ऋषि से प्रकट हुआ।[1] आधुनिक विद्वानों में पण्डित उदयवीर शास्त्री,[2] डा0 आद्या प्रसाद मिश्र[3] तथा डा0 राम सुरेश पाण्डेय षटितन्त्र को कपिल प्रणीत मानने के पक्ष में हैं।[4] चीनी परम्परा में षष्टितन्त्र को पञ्चशिख की रचना माना गया है ।पं॰गोपीनाथ कविराज ने जयमंगला की भूमिका में इसे कपिलकृत कहा है।[5] प्रो0 हिरियन्ना ने सांख्यकारिका[6] एवं जयमंगला टीका के कुछ वाक्यों के आधार पर इस मत का समर्थन किया है।[7] डा0 हरदत्त शर्मा एवं डा0 कीथ इसे अविश्वासनीय एवं भ्रान्ति मानते हैं।[8] प्रायः समाख्यातम्[9] पद के आधार पर ही विद्वान यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि समाख्यातम् का अर्थ मुख से उच्चारण करना होता है इसलिए कपिल ने किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी बल्कि मौखिक ही उपदेश किया था । पं0 उदयवीर शास्त्री इस मत का खण्डन करते हुए कहते है कि उपदेश सदैव मौखिक ही होता है

---

1 सांख्यरूपेण संकल्पो वैष्णवः कपिलादृषेः
उदितौ यादृशः पूर्व तादृशं श्रुणु मेऽखिलम्
षष्टिभेदं स्मृतं तन्त्रं सांख्यं नाम महामुनैः।
प्राकृतं वैकृतं चेति मण्डले द्वे समासतः। (12/19)

2 सां0द0 का इतिहास, पृ0 104

3 सां0द0 की ऐति0 परम्परा, पृ0 83

4 महाभारत और पुराणों में सांख्य दर्शन, पृ0 76

5 जयमंगला (भूमिका), पृ0 1

6 जयमंगला, पृ0 65, का0 51, 70-72

7

8 सां0 द0 की ऐति0 परम्परा, पृ0 77

9 .. परमर्षिणा समाख्यातम् ।। सां0कारिका 69

किन्तु उसका ग्रन्थ रचना से कोई विरोध नहीं हैं।[1]

ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका के वाक्य ही – "आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रं"[2] में आये "बहुधा" पद का प्रयोग यह स्पष्ट कर देता है कि तन्त्र पहले से विद्यमान था, पञ्चशिख ने आसुरि से उसका अध्ययन कर उसे अनेक शिष्यों को पढ़ाया तथा प्रचार किया । यदि[2] ईश्वरकृष्ण का अभिप्राय यह बताना अभीष्ट होता कि पञ्चशिख की कृति षष्टितन्त्र है तो वे कृतं तन्त्रं ही लिख देते । बहुधा का अनावश्यक प्रयोग न करते।[3] बहुधा पद के प्रयोग का एक और प्रयोजन है जिसे माठर[4] तथा युक्तिदीपिकाकार[5] ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि पञ्चशिख तक यह क्रम रहा कि गुरू ने एक ही शिष्य को तन्त्र का अध्ययन कराया, कपिल ने आसुरि को, आसुरि ने पञ्चशिख को, किन्तु पञ्चशिख ने इसका अध्ययन बहुत से शिष्यों को कराया । जयमंगलाटीका से इस बात की और अधिक पुष्टि होती है कि पञ्चशिख से पूर्व षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ विद्यमान था । पञ्चशिख ने उसमें प्रतिपादित साठ पदार्थो के आधार पर साठ खण्डों की रचना की।[6] इस टीका से मूल षष्टितन्त्र के रचयिता पञ्चशिख नहीं सिद्ध होते । संभव है व्याख्याकार होने के कारण ही चीन देशी परम्परा में पञ्चशिख को षष्टितन्त्र का कर्त्ता माना जाने लगा हो।[7]

---

1 सां0 द0 का इति0 पृ0 83

2 सांख्यकारिका – 70

3 सां0 द0 का इति0 पृ0 83

4 पञ्चशिख तेन बहुधाकृत तन्त्रम् । बहूनां शिष्याणां प्रदत्तम् ।
माठरवृत्ति, कारिका – 70

5 तेन च बहुधाकृतं तन्त्रं बहुभ्यो जनकवशिष्ठादिभ्यः समाख्यातम् ।
युक्तिदीपिका, कारिका – 70

6 "बहुधाकृतं तन्त्रं षष्टितन्त्रम् षष्टिखण्डं कृतमिति ।
तत्रैव हि षटिरर्था व्याख्याताः।"

7 सां0 द0 का इति0, पृ0 85 पाद टिप्पणी

कुछ विद्वान् तन्त्र का रचयिता वार्षगण्य को मानते है[1] यदि ऐसा होता तो ईश्वरकृष्ण कारिका में इनका उल्लेख अवश्य करते । उपसंहार करते हुए जहां वे कपिल, आसुरि एवं पञ्चशिख का उल्लेख करते हैं, वहां वार्षगण्य का नामोल्लेख भी नहीं करते । वार्षगण्य के पूर्ववर्ती आचार्यों ने तन्त्र का उपदेष्टा कपिल को माना है।[2] अतः वार्षगण्य को षष्टितन्त्र का रचयिता मानना कथमपि युक्त नहीं हैं। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मूल षष्टितन्त्र सांख्यप्रवचनसूत्र में निहित है या तत्वसमास सूत्र ही षष्टितन्त्र है ? पं0 उदयवीर शास्त्री[3] तथा डा0 आद्या प्रसाद मिश्र[4] के अनुसार उपलब्ध सांख्यप्रवचनसूत्र में ही मूल षष्टितन्त्र निहित है। इसे सांख्य षडध्यायी भी कहा जाता है । शास्त्री जी बहुत विस्तार के साथ कारिकाओं एवं सांख्य सूत्रों की तुलना करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यद्यपि यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि इनसूत्रों में न्यूनाधिक मात्रा में कुछ परिवर्तन हुए है तथापि कपिल की कृति इसी षडध्यायी में निहित है।[5] इसमें जो अर्वाचीन आचार्यों के नाम, विचारों एवं सिद्धान्तों का अनेकशः उल्लेख हुआ है वे निश्चित ही प्रक्षिप्त हैं।[6] सांख्य सूत्रों के अर्वाचीन होने के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि वर्तमान सांख्यसूत्रों के उद्वरण प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलते जबकि कारिकाओं के उद्वरण मिलते हैं। किन्तु यह तर्क सांख्यसूत्रों के प्राचीनता का बाधक नहीं है उदाहरणार्थ सायण के ऋग्वेद भाष्य में स्कन्दस्वामी नारायण भट्ट, भास्कर आदि प्राचीन भाष्यकारों में से किसी का भी उल्लेख नहीं किया

---

1 उदयवीर शास्त्री कृत सां0 द0 का इति0, पृ0 87

2 आदिविद्वान् निर्माण चित्तमधिष्ठाय कारण्याद् भगवान्-
परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।

3 सां0 द0 का इतिहास, पृ0 105 एवं 115

4. सांख्य दर्शन की ऐति0 परम्परा, पृ0 113

5. सां0 द0 का इति0, पृ0 105 के आधार पर

6 वही

है। तीनों ने ही सायण से 1000 वर्ष पूर्व ऋग्वेद भाष्य लिखा था । इससे इन भाष्यकारों की प्राचीनता नहीं भंग होती।[1] अनिरूद्ध ने कहीं भी ईश्वरकृष्ण की किसी कारिका का उद्धरण नहीं दिया है । इन सूत्रों पर सर्वप्रथम वृत्ति लिखने वाले अनिरूद्ध ने सांख्य सूत्रों को कपिल प्रणीत कहा है । यदि ये अर्वाचीन हों तो अनिरून्द्ध द्वारा इन सूत्रों को कपिल कृत बताना एवं उस पर वृत्ति लिखना उचित नहीं प्रतीत होता।[2] आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी इन सूत्रों को कपिलकृत मानकर इनकी विस्तृत व्याख्या की है।[3]

ईश्वरकृष्ण से पूर्व प्रसिद्ध आचार्य सुश्रुत ने सुश्रुत संहिता[4] में तथा अहिर्बुध्न्यसंहिता के कर्त्ता ने इस संहिता[5] में सांख्यमत का उल्लेख सांख्यसूत्र (1/61) के आधार पर किया है । इसी प्रकार श्रीकण्ठ[6] और अमरकोश के व्याख्याकार क्षीरस्वामी[7] भी सांख्यसूत्र (1/61) को उद्धृत करते प्रतीत होते हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिता षष्टितन्त्र के अध्यायों का परिगणन भी कराती है।[8] माठरवृत्ति में माठराचार्य[9] कहते हैं षष्टितन्त्र एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें साठ विषयों का वर्णन है, न कि साठ अध्यायों वाला है। डा0 दास गुप्त का मत है कि माठराचार्य कृत परिगणना मनमानी प्रतीत होती है।[10]

---

1 सां0 द0 का ऐति0 परम्परा , पृ० वही

2 'अतिकारूणिको महामुनिर्जगदुद्दिधीर्षुः कपिलो मोक्षशास्त्रमारभमाणः प्रथमसूत्रं चकार' अनिरूद्धवृत्ति, ग्रन्थ के आरम्भ में

3 श्रुत्यविरोधिरूपपत्तीः षडध्यायी रूपेण विवेकाशास्त्रेण कपिलमूर्ति- भगवानुपदिदेश, सांख्य प्र0भा0 के आरम्भ में

4 सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणम् अव्यक्तनाम्। अ0 1 सुश्रुत संहिता

5 अहिर्बुध्न्य संहिता, 6/17; 18

6 श्रीकण्ठ ब्रह्मसूत्र 2/1/2, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति इत्यंगकारात् (2/1/1 एवं 2/2/8)

7 1/4/29 अमरकोश, क्षीरस्वामी

8 12/18, 19 से 20

9 माठरवृत्ति, 72वी, कारिका

10 भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग 4, पृ0 40

ईश्वरकृष्ण के विषय में इनका मत है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ईश्वरकृष्ण को षष्टितन्त्र पढ़ने का अवसर मिला होगा या उन्हें इस पर आधारित कोई संशोधित संग्रह ही प्राप्त हुआ होगा । इसके विपरीत अहिर्बुध्न्यसंहिता में वर्णित सांख्य षष्टितन्त्र से पूर्णत: सहमत है । ऐसा प्रतीत होता है कि इसके लेखक ने षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ अवश्य देखा होगा । यह भी सम्भव है कि कपिलकृत तन्त्र ने कुछ महत्वपूर्ण दृष्टियों से अपना स्वरूप बदलना प्रारम्भ कर दिया हो और परम्परा में जब यह ईश्वरकृष्ण तक पहुंचा तब तक यह काफी बदल चुका था । षष्टितन्त्र से बहुत भिन्न हो जाने पर भी वह दर्शन कपिल के उपदेशों से पूर्ण समझा जाता रहा होगा।[1] डा0 दास के अनुसार कपिल प्रणीत तन्त्र वाचस्पति के समय से पूर्व ही लुप्त हो चुका था।[2] अत: नवीं शताब्दी के बाद ही किसी ने प्रचलित सांख्य दर्शन के आधार पर सांख्यसूत्र तथा तत्त्वसमाससूत्र की रचना की होगी । डा0 उर्मिला चतुर्वेदी के अनुसार सांख्यदर्शन में किसी प्राचीन सूत्र ग्रन्थ के न मिलने के कारण कालान्तर में इन्हीं सूत्र ग्रन्थों को कपिल प्रणीत मान लिया गया।[3]

शिष्य परम्परा और साहित्य :

स्मृति, पुराणों एवं महाभारत के आधार पर सांख्यदर्शन के आचार्यों का विवरण इस प्रकार है – 'कपिल', इनका परिचय इसी अध्याय में दिया जा चुका है। 'आसुरि' सांख्यदर्शन के प्रवर्त्तक कपिल के साक्षात् शिष्य

---

1 वही, पृ0 40

2 हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलास्फी पार्ट 1, पृ0 221

3 'सांख्यदर्शन और विज्ञानभिक्षु' डा0 उर्मिला चतुर्वेदी कृत, पृ0 19

आसुरि थे।[1] माठरवृत्ति के आरम्भ में सांख्य सम्प्रदाय की गुरू - शिष्य परम्परा का उल्लेख इस प्रकार हुआ है – कपिलादासुरिणा प्राप्तम् .. ततः पञ्चशिखेन। इनकी आज कोई भी कृति उपलब्ध नहीं होती। आसुरि के शिष्य 'पञ्चशिखाचार्य' थे । महाभारत[2] वर्णन के अनुसार ये आसुरि के प्रथम शिष्य थे । इन्होंने कपिल रचित षष्टितन्त्र का अध्ययन अनेक शिष्यों को कराया । यद्यपि आसुरि की ही भांति इनका भी कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता तथापि इनके सिद्वान्त एवं मतों के उद्धरण सांख्य-योग के प्राचीन ग्रन्थों में सूत्रात्मक शैली में प्राप्त होते हैं । योगसूत्र, व्यास भाष्य में सबसे अधिक उद्धरण प्राप्त होते हैं जिन्हें वाचस्पति ने तत्त्ववैशारदी तथा विज्ञानभिक्षु आदि परवर्ती टीकाकारों ने पञ्चशिखाचार्य का कहा है।[3] कुछ सांख्य सूत्रों में भी पञ्चशिख के मत का उल्लेख है।[4] सांख्यसूत्र के भाष्य में भी यत्र–तत्र पञ्चशिख के वाक्यों का उल्लेख है।[5] वाचस्पति मिश्र कृत भामती में भी पञ्चशिख के उद्धरण आये हैं।[6] गौडपादभाष्य (कारिका–1) एवं माठरवृत्ति (कारिका–22) में एक उद्धरण इस प्रकार आया है – पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमेरतः। 'जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः।' यही उद्धरण भावागणेश ने भी तत्त्वसमाससूत्रों की व्याख्या में 'तथा चोक्तं पञ्चशिखेन प्रमाणवाक्यम्' यह लिखकर उद्धृत किया है । ग्रन्थारम्भ में वे लिखते हैं कि उन्होंने तत्त्वसमास

---

1 महाभारत 12/218/10, भागवत पुराण 1/3/10 एवं योग सूत्र 1/25

2 आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम् । (12/218/10) 'एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय, तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् (सां0 कारिका 70) 'बहुभ्योः जनकवसिष्ठादिभ्यः समाख्यातम्' युक्तिदीपिका कारिका 70

3 एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम्, योगभाष्य 1/4 इसी प्रकार 1/25, 1/36, 2/5, 2/6, 2/13, 2/15, 3/13, 2/17, 2/18, 2/20 एवं 2/22 व 3/14 ।

4 कुछ सांख्यसूत्रों में आचार्य पञ्चशिख का विवरण इस प्रकार आया है पञ्चशिखः आधेयशक्तियोगः 5/32, अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः 6/68 ।

की पञ्चशिख कृत व्याख्या का आधार लेकर तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम् लिखा है।[1] इन उद्धरणों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि पञ्चशिख ने सांख्यसिद्धान्त का आश्रय लेकर स्वतन्त्र रूप से किसी ग्रन्थ की रचना की होगी । पञ्चशिख के पश्चात् शिष्य परम्परा का क्रम इस प्रकार है :– 4. धर्मध्वज जनक[2], 5. वशिष्ठ, 6. याज्ञवल्क्य, 7. वोढु, 8. सनक, 9. सनन्दन, 10. सनत्कुमार, 11. सहदेव, 12. प्लुति, 13. पुलह, 14 भृगु, 15. अंगिरस, 16. मारीचि, 17 क्रतु, 18 दक्ष,[3], 19 जैगीषव्य, 20 देवल, 21. हारीत, 22. वाल्मीकि, 23. पराशर, 24 भार्गव, 25. उलूक,[4] 26 वार्षगण्य, 27. ईश्वरकृष्ण, 28 विन्ध्यवास आदि। इन सभी विद्वानों की कोई कृति अथवा विस्तृत परिचय उपलब्ध नहीं होता किन्तु नामोल्लेख मात्र प्राप्त होता है। इन आचार्यों में से ईश्वरकृष्ण कृत सांख्य कारिका लिखता बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह षष्टितन्त्र के आधार पर आर्याछन्द में लिखा गया है । इसमें केवल सांख्य - सिद्धान्तों का ग्रहण किया गया है।[5] आख्यायिकाओं एवं परमत खण्डन को छोड़ दिया गया है। इनका काल प्रायः प्रथम शताब्दी माना जाता है । डा0 दासगुप्त इन कारिकाओं का समय 200 ई0 मानते हैं।[6] ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका संक्षिप्त एवं सारगर्भित होने के कारण इतनी प्रसि हुई कि इस पर अनेक टीकाएं लिखी गयीं जिनमें सुवर्ण - सप्तति, माठर वृत्ति, गौडपादभाष्य आदि महत्त्वपूर्ण टीकाएं है :–

---

1. भूमिका, श्लोक 3
2. युक्तिदीपिका–70, में इन्हें पञ्चशिख का साक्षात् शिष्य कहा गया है।
3. वोढु सनकादि आचार्यों के नामों की सूची कालीपद भट्टाचार्य ने दी है। सां0 दर्शन और विज्ञानभिक्षु, उर्मिला चतुर्वेदी, पृ0 24
4. माठरवृत्ति 71 एवं युक्तिदीपिका – 71
5. कारिका – 72
6. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलास्फी, पृ0 212

सुवर्णसप्ततिशास्त्र – सुवर्ण सप्ततिशास्त्र सांख्यकारिका की सबसे प्राचीन टीका मानी जाती है। इसका अनुवाद उज्जयिनी के बौद्धभिक्षु परमार्थ ने 557 से 569 ई0 के मध्य चीनी भाषा में किया था। पण्डित उदयवीर शास्त्री सुवर्णसप्तति का उपजीव्य माठरवृत्ति को मानते हैं।[1] लो॰तिलक गौडपादभाष्य में तथा अय्यास्वामी शास्त्री सुवर्णसप्ततिशास्त्र को माठरवृत्ति तथा गौडपादभाष्य से भिन्न माठरभाष्य पर आधारित मानते है ।

माठरवृत्ति – आचार्य माठर कृत सांख्यकारिका पर एक टीका है।[2] पं॰ उदयवीर शास्त्री इसे सर्वाधिक प्राचीन टीका मानते हैं और सुवर्ण सप्तति से इसको अभिन्न मानते है।[3] युक्तिदीपिका के अनेक स्थलों पर ऐसे मतों का वर्णन या खण्डन किया गया है जो माठरवृत्ति में उपलब्ध हैं। अतः यह युक्तिदीपिका से भी प्राचीन है। अर्थ सम्बन्धी मतभेद इस वृत्ति में नहीं है जबकि अन्य टीकाओं में है।[4]

युक्तिदीपिका – इसके रचयिता का नाम संदिग्ध है। यह 450 ईस्वी के लगभग की टीका है। युक्तिदीपिका में माठर के मतों का उल्लेख, अनुकरण एवं खण्डन[5] तथा जयमंगला[6] टीका में युक्तिदीपिका के मतों का उल्लेख प्राप्त होने से युक्तिदीपिका माठरवृत्ति से प्राचीन एवं जयमंगला से पूर्ववर्ती सिद्ध होती है।

---

1 सां0 द0 का इति0, पृ0 467
2 सां0 द0 और विज्ञानभिक्षु, पृ0 29
सुवर्ण सप्तति भूमिका, पृ0 38
3 सां0 द0 का इति0, पृ0 423
4 वही – 473
5 युक्तिदीपिका – 38, 43
6 जयमंगला – 15

गौडपादभाष्य :

यह सांख्यकारिका पर लिखी गयी प्राचीन टीका है। पंडित उदयवीर शास्त्री इसे माठरवृत्ति की छाया मात्र मानते है[1] इसका समय 550 ई0 निर्धारित करते हैं।[2] कुछ विद्वान् इसे शंकराचार्य के परमगुरू की कृति मानते हैं।[3] पंडित उदयवीर शास्त्री इस भाष्य के कर्त्ता को माण्डूक्यकारिका के रचयिता से भिन्न मानते हैं।[4]

डा0 राधाकृष्णन का मत है कि इस बात का निर्णय नहीं किया जा सकता कि ये गौडपाद माडूक्यकारिका के रचयिता हैं क्योंकि दोनों ग्रन्थों में विचारों की भिन्नता है।[5]

जयमंगला – सांख्यकारिका की प्राचीन टीकाओं में यह एक है। यह शंकराचार्य के नाम से प्रचलित है परन्तु इसका प्राचीन संस्करण जो काशी से प्रकाशित हुआ था उसकी भूमिका में पं0 गोपीनाथ कविराज जी ने स्पष्ट किया है कि यह भाष्यकार शंकराचार्य नामक कोई बौद्ध भिक्षु था।[6] इस प्रकार इसके रचयिता का नाम संदिग्ध है। इसके भाष्यकार कहीं–कहीं गौडपादभाष्य को उद्धृत करते हुए प्रतीत होते हैं। 51वीं सांख्यकारिका में आठ सिद्धियों का स्वाभिमत व्याख्यान देकर आचार्य वाचस्पति मिश्र ने 'अन्ये व्याचक्षते' इत्यादि शब्दों द्वारा अपने

---

1. सां0 द0 का इति0, पृ0 405
2. वही, पृ0 473
3. गीता रहस्य – 153
4. सां0 द0 का इति0 – 405
5. भारतीय दर्शन – 2, पृ0 221
6. जयमंगला कारिका – 23

पूर्ववर्ती किसी व्याख्याता के मत का उल्लेख किया है । डा0 हरदत्त शर्मा का कथन है कि यह मत जयमंगलाकार का है।[1] इसके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थलों में वाचस्पति द्वारा जयमंगलाकार का अनुसरण किए जाने[2] से जयमंगलाकार का समय निःसंदेह वाचस्पति से पूर्व का सिद्ध होता है ।

तत्त्वकौमुदी – सर्वदर्शननिष्णात आचार्य वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिकाओं पर तत्त्वकौमुदी नामक अति प्रसिद्ध टीका लिखी। इनका समय 9वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने सांख्यशास्त्र के पूरक शास्त्र योगभाष्य पर तत्त्ववैशारदी नामक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी । आधुनिककाल में तत्त्वकौमुदी पर अनेक टीकाएं लिखी जा चुकी हैं जिसमें स्वामी बलराम उदासीन की विद्वत्तोषणी, पं0 सम्राट वंशीधर मिश्र की बृहत् टीका सांख्य-तत्त्व-दिवाकर, श्रीकृष्ण बल्लभाचार्य की किरणावली, शिवनारायणशास्त्री की सारबोधिनी तथा पं0 हरीरामशुक्ल की सुषमा नामक प्रसिद्ध टीका है ।

नारायणतीर्थकृत चन्द्रिका नामक व्याख्या गौडपादभाष्य के ऊपर लिखी गई टीका है। इसके अतिरिक्त मुडुम्ब नरसिंह स्वामी कृत सांख्यतरूबसन्त नामक टीका अप्रकाशित एवं अनुपलब्धं है।

सांख्य प्रवचनसूत्र के भाष्यकार – सांख्य प्रवचनसूत्र जिसके विषय में 'कपिल की कृति' नामक शीर्षक के अन्तर्गत चर्चा हो चुकी है, के ऊपर तीन प्रसिद्ध व्याख्याएं हैं। अनिरूद्ध वृत्ति – अनिरूद्धकृत है। यह सांख्यसूत्र की प्राचीनतम उपलब्ध टीका है। इनका समय 11वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी

---

1. Jayamangala and other Commentaries on the Samkhya Karikar in Indian Historical Quarterly Vol. V, P. 429.
2. तत्त्वकौमुदी, 11, 22, 30, 44, 51

के मध्य माना गया है।[1]

विज्ञान भिक्षु कृत भाष्य – यह अत्यन्त प्रसिद्ध भाष्य है। डा0 दास गुप्त[2] एवं डा0 राधाकृष्णन[3] ने इनका समय सोलहवीं शताब्दी माना है। डा0 सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव ने इनका काल 1525–1600 तक निर्धारित किया है।[4] सांख्यदर्शन के ऊपर इनका एक और ग्रन्थ है – सांख्य सार।

महादेव वेदान्ती कृत वृत्तिसार – यह अनिरूद्ध वृत्ति का सार है। वे अपने टीका के प्रारम्भ में लिखते है कि उन्होंने अपनी टीका अनिरूद्ध वृत्ति का अध्ययन करके लिखी है।[5]

इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट की एक व्याख्या है, जो पूर्व व्याख्याताओं का ही प्रायेण अनुसरण करने से वैशिष्ट्य शून्य है। सांख्यदर्शन से सम्बन्धित एक संक्षिप्त ग्रन्थ तत्वसमाससूत्र है। इनकी कई व्याख्याएं मुद्रित हो चुकी हैं। इन व्याख्याओं का एक संग्रह 1918 में चौखम्भा संस्कृत सीरीज बनारस से सांख्य संग्रह नाम से प्रकाशित हुआ था । इस संग्रह में निम्नलिखित व्याख्याएं संग्रहित हैं :–

---

1 पंडित उदयवीर शास्त्री जी ने 11 वीं शताब्दी माना है। सां0 द0 का इतिहास पृ0 312

डा0 आद्या प्रसाद ने 15वीं शताब्दी माना है, सां0द0 की ऐति0 परम्परा पृ0 313, डा0 राधाकृष्णन ने भी 15 वीं शताब्दी माना है भा0द0 भाग–2, पृ0 255, डा0 सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त ने इनका काल 14वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया ।
हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, वाल्यूम 1, पृ0 212

2 वही, पृ0 221

3. भारतीय दर्शन, खण्ड–2, पृ0 255

4 आचार्य विज्ञान भिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान

5 सां0 सू0

1 सांख्य तत्त्व विवेचन – श्री षिमानन्द कृत यह 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की रचना है। सूत्रों की संख्या 25 है किन्तु व्याख्यान केवल 22 पर ही है ।

2 तत्त्वयाथार्थ्यदीपन – श्री भावागणेश कृत 16वीं शताब्दी की रचना है इसमें सूत्र 25 हैं। सर्वोपकारिणी टीका[1] – इसमें 22 सूत्र हैं। सांख्य सूत्र विवरण – इसमें 23 सूत्र है। क्रमदीपिका या तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति – पं0 उदयवीर शास्त्री ने इसे तत्त्वसमास की अन्य टीकाओं की अपेक्षा प्राचीन कहा है।[2] इसमें 23 सूत्र हैं। इसके अतिरिक्त एक और व्याख्या कापिलसूत्र विवरण अथवा कापिलसूत्रवृत्ति है, जिसका प्रकाशन कलकत्ते से सन् 1980 ई0 में हुआ था[3]। चौखम्भा सीरीज से प्रकाशित सांख्य संग्रह के अन्त में कुछ स्वतन्त्र निबन्ध संग्रहित हैं ।

3. सांख्यतत्त्वप्रदीपिका (यजुर्वित् केशव), सांख्य तत्त्व प्रदीपन (कविराजयति) तत्त्वमीमांसा, (आचार्य कृष्णा मित्र), सांख्य परिभाषा इत्यादि ।

---

1. 2, 3, 4, 5 के रचयिताओं के नाम अज्ञात है ।
2. सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ0 333
3. वही, पृ0 334

अद्वैत वेदान्त का इतिहास

अद्वैतमत की विचारधारा भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रवाहित हो रही है । अद्वैत दर्शन के रूप में शंकराचार्य ने किसी नवीन दर्शन का प्रवर्त्तन नहीं किया प्रत्युत वेदों में निहित सत्य को सरल सुबोध एवं सुगम बनाकर जनसाधारण के समक्ष प्रकाशित किया । जीव ब्रह्म का सत्यत्व आदि अद्वैत दर्शन का सार हैं। ये सभी विचार भारतीय संस्कृति के अक्षय स्रोत वेदों, उपनिषदों, महाकाव्यों एवं पुराणों में उपलब्ध होते हैं । वैदिक संहिताओं में कर्मकाण्ड की प्रधानता होते हुए भी अद्वैतमत का यत्र–तत्र आभास दृष्टिगोचर होता है । संसार का कारण क्या है ? मैं कौन हूँ ? क्या इस सम्पूर्ण जगत का नियन्ता जगत् से परे है ? यदि हां, तो उसका स्वरूप क्या है ? तत्वचिन्तन की इस विचारधारा से विकसित हुई अनेक देववाद की भावना – सूर्य, अग्नि तथा इन्द्र आदि प्राकृतिक शक्तियों के समक्ष मनुष्य नतजानु हो गया किन्तु इस अनेक देववाद की भावना ने जिज्ञासु की आध्यात्मिक प्यास नहीं बुझायी । उनके मन में उठी आत्म–जिज्ञासा उन्हें इस निष्कर्ष पर ले आयी कि अभिव्यक्तियों असंख्य भले ही हों किन्तु इनके पीछे कोई एक महान्शक्ति अवश्य है । इसी भावना का प्रकाशन "एकं सद्–विप्रा बहुधा वदन्ति"[1] एवं "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति"[2] हुआ है। वह एक सत् अर्थात् सदैव स्थिर रहने वाला है उसी को लोग अनेक नामों से पुकारते है। ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था के सम्बन्ध में कहा गया है "नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्"[3] इस सूक्त के प्रारम्भ में ऋषि कहता है सृष्टि के पूर्व न सत् था, न असत् था, न अन्तरिक्ष था और न आकाश । उस समय जल भी नहीं था । उस समय

---

1 ऋक् संहिता – 1/164/46

2 10/114/5 वही

3 ऋ0 सं0 10/129/1

जल भी नहीं था । उस समय एक ही तत्व अपनी शक्ति से वायु के बिना ही प्राण सम्पन्न था । उस समय दिन और रात्रि का भेद भी नहीं था । सब कुछ तम से आच्छादित होने के कारण गूढ या अविविक्त सा था।[1] इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि सृष्टि के प्रारम्भ में विद्यमान तम के लिए यहां "तुच्छ" शब्द का प्रयोग किया गया है ।[2] इसी प्रकार ऋग्वेद के वागाम्भृणि सूक्त में रूद्र, आदित्य, मित्र, वरूणादि देवों को धारण करने वाली शक्ति एक ही कही गयी है । यह सर्वत्र विराजमान है इन्द्रलोक से परे भी इसका अस्तित्व है।[3] पुरूष सूक्त में पुरूष से ही समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का वर्णन उपलब्ध होता है । यहां समस्त ब्रह्माण्ड को विराट् पुरूष माना गया है।[4] ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 164वें सूक्त में इन्द्र, मित्र, वरूण, यमादि भिन्न-भिन्न नामों से एक ही परमेश्वर का वर्णन माना गया है । इसी प्रकार यजुर्वेद के बत्तीसवें अध्याय में अग्नि, वायु, आदित्य, जल और प्रजापति इन सबको एक ही कहा गया है।[5] सदेव सोम्यमिदं अग्रासीत्, एकमेवाद्वितीयं" इत्यादि अद्वयतत्त्व का सत्यत्व श्रुतियों में अनेकशः वर्णित[5]। नासदीय सूक्त में वर्णित उसी एक तत्त्व से काम अर्थात् सृजन करने की शक्ति उत्पन्न हुई । इसी विचार को उपनिषदों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है – सोऽकामयत[6]। तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति

---

1 वहीं 10/129/2, 3

2. तुच्छत्रेनाभ्यपिहितं यदासीत् ऋ010/129/3

3 10/125/1

4 पुरूष एवेदं सर्वं यदभूत यच्चभाव्यम् 1 (ऋ0 10/90/3)

5. यजु0 (32/1) उद्धृत 'भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन' – पृ0 2

6. तैत्तिरीयो0 (2/6)

तत्तेजोऽसृजत्[1] एवं "आत्मा वा इदमेक एवाग्रासीत् । नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति[2]। सा ईक्षाञ्चक्रे[3]। अथर्ववेद में भी ऐसा वर्णन है कि इस सारी सृष्टि के मूलभूत द्रव्य से ही सर्वप्रथम काम उत्पन्न हुआ । जीवनानात्व एवं जगत में अनेकत्व की कल्पना भ्रम है । नेह नानास्ति किंचन (बृ0 4/4/19), ब्रह्मैवेदम् सर्वम् (मु0 2/2/11), आत्मेवेदं सर्वम् (छा0 7/25/2), ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि (छा0 6/8/7), प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत0 आरण्यक 5/3), अहंब्रह्मास्मि (माण्डूक्यो) आदि श्रुतिवाक्यों में जीव–ब्रह्म का एकत्व प्रतिपादित है। इस प्रकार जीव भी ब्रह्म ही है क्योंकि ब्रह्म ज्ञान होने पर द्वैत नहीं रह जाता।[4] यह सृष्टि इस बात में विचित्र और आश्चर्यजनक है कि इसका कर्ता और उपादान कारण एक ब्रह्म ही है, यजैसा कि मुण्डकोपनिषद में कहा गया हैं :-

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्रते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरूषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्[5] ।।

इसी प्रकार 'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म' की भावना पुरूषसूक्त में मिलती है – "पुरूष एवेदं सर्वं यदभूतं यच्चभव्यम्" । जीव का अनेकत्व, जगत्नानात्वादि सत्य नहीं है । ब्रह्म ही एक मात्र सत्य हैं आचार्य शंकर इस सिद्धान्त को "मायावाद" के आधार पर स्थापित करते हैं। अद्वैतवाद का उपांगभूत सिद्धान्त मायावाद है। जीव, जगत्, ईश्वर आदि सभी भेद मायाकृत हैं। सम्प्रति मायावाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार किया जायेगा ।

---

1 छान्दो0 6/2/3

2. ऐत0 1/1/1

3 प्रश्नो0 6/3

4 यत्र वास्य सर्वमात्मेवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन कं विजानीयात् (बृ उ0 2/4/4)

5. मुण्डको0 1/1/6

मायावाद

"माया" शब्द का अर्थ है – मापना या सीमांकन करना (मीयते अनया इति) । माया का अर्थ है अपरिमेय ब्रह्म को ससीम जगत् के रूप में परिणत करना । माया के अन्य अर्थों में ऐन्द्रिक छल, चमत्कार, धूर्तता, इन्द्रजाल अभिचारऔरजादू–टोना इत्यादि अर्थ प्रसिद्ध हैं।[1] माया का यह अर्थ सार्थक है क्योंकि वह अनन्त को सान्त रूप में, नित्य को अनित्य रूप में, महान को अणु और इसके विपरीत भी प्रकट करके सबको छलती रहती है। माया वह है जिसके द्वारा अपरोक्ष प्रत्यक्ष की भांति प्रदर्शित किया जाता है । मीयते अपरोक्षवत् प्रदर्शयतेऽनया इति[2]। माया का ही अपर नाम अविद्या, अज्ञान, प्रकृति इत्यादि है। ऋग्वेद में "इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप इयते" में माया का प्रयोग इन्द्र की अपनी आश्चर्यजनक असाधारण दैवीय शक्ति के अर्थ में किया गया है, जिससे वह अनेक रूप धारण करता है। डा0 राधाकृष्णन के अनुसार माया का अर्थ रूप परिवर्तन की शक्ति अथवा अद्भुत रूप धारण करने की शक्ति है।[3] यजुर्वेद के अन्तर्गत माया का संकेत अनेक स्थलों पर हुआ है । मन्त्र (11/69वें) में आसुरी माया का वर्णन निर्मात्रीशक्ति के रूप में हुआ है ।

वेद में माया शब्द निम्नलिखित अर्थो में प्रयुक्त हुआ है :–

1 दिव्यशक्ति, रहस्यमयी इच्छा शक्ति

2 जादू या भ्रम

---

1. Dr. Prabhu Dutt Shastri 'The Doctrine of Maya : Page 36. "Illusion, Unreality, Deception Fraud Trick, Secrecy, Witch Craft, magic,etc.". Dr. Prabhu Dutt Shastri 'The Doctrine of Maya

2 शब्दकल्पद्रुम, तृतीयकाण्ड, पृ0 72

मा + य + टाप "इसका अर्थ होता है बनाना या निर्माण करना या नाना प्रकार की विषय वस्तुओं को उत्पन्न करना ।

3. भारतीय दर्शन–2, पृ0 492

अथर्ववेद में माया का जादू अर्थ, प्राचीन दिव्यशक्ति एवं आधुनिक आभासभ्रम रूप अर्थ के बीच एक कड़ी का कार्य करता है। डा0 पी डी शास्त्री ने यह निष्कर्ष निकाला है कि शांकर मायावाद का विचार ऋग्वेद एवं उपनिषदों में प्राप्त हैं।[1] ब्राह्मणग्रन्थों में भी माया शब्द का प्रयोग हुआ है । ऐतरेय ब्राह्मण में माया शब्द को प्रयोग अद्भुत एवं ऐन्द्रजालिक चातुरी के अर्थ में किया गया है।[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण में माया का अर्थ दैवीय शक्ति है।[3] शतपथब्राह्मण में भी माया से अद्भुत शक्ति का ही अभिप्राय प्रकट होता है।[4] उपनिषदों में प्राचीनतम उपनिषद् बृहदारण्यक में माया शब्द का प्रयोग एक बार हुआ है । इस उपनिषद में ऋग्वेद का मन्त्र 'इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते' आया है । वहां इसका अर्थ रहस्यमयी दैवीयशक्ति है।[5] प्रश्नोपनिषद् में माया का प्रयोग आचार की कुटिलता के अर्थ में हुआ है ।

---

1. Doctrine of Maya by Dr. P.D.Shastri, P. 8/23
2 ऐत0 ब्रा0 8/23
3 तै0 ब्रा0 3/10-8-23
4 शतपथ ब्रा0 शुक्ल यजु0 3/2/4/1, 13/5/4/12
5. 2/5/19

गीता, बौद्धदर्शन एवं पुराणों में माया सम्बन्धी संकेत

गीता में प्रकृति के लिए माया शब्द का प्रयोग हुआ है । यह माया जीवों को मोहित करने वाली है।[1] यहां पर माया का प्रयोग दुर्बोध अद्भुत शक्ति के रूप में किया गया है।[2] इस माया शक्ति के मोहपाश में बंधा जीव परमेश्वर को व्यापक रूप से नहीं जान पाता । परमेश्वराधीन यह मायाशक्ति जीव के स्वरूपज्ञान करने में बाधक है।[3] गीता में श्रीकृष्ण प्रकृति अर्थात् मायाशक्ति का विस्तार से उल्लेख करते हैं । सप्तम अध्याय में श्रीकृष्ण जीव एवं जगत् दोनों को ही अपनी प्रकृति से उत्पन्न हुआ कहते हैं ।

बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत माया के अनेक अर्थ होते हैं । प्राचीन पाली बौद्धलेखों में माया का अर्थ प्रवंचना मिलता है । अश्वघोष ने माया का प्रयोग इन्द्रजाल के अर्थ में किया है । माध्यमिक कारिका में माया का लगभग वही अर्थ है जो शांकरमत में स्वीकृत है । राहुलसांकृत्यायन ने बौद्धों के शून्यवाद और शंकर के मायावाद में नाममात्र का अन्तर माना है।[4] पुराणों का काल-निर्णय यद्यपि सुनिश्चित नहीं है तथापि इनकी प्राचीनता निर्विवाद है । विष्णु पुराण में विष्णु की माया का उल्लेख है । मोहिनीरूपधारी भगवान् विष्णु ने अपनी माया से दानवों को मोहित कर लिया था[5] । भागवत पुराण में कहा गया है कि परमात्मा अपनी मायाशक्ति द्वारा ही जगत् का स्रष्टा है । ब्रह्म से पृथक् माया की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है[6]।

---

1. 7/4, 5, 7/14 गीता
2 7/25, गीता
3. 4/6, 13/12, 7/25, 18/61, 14/1
4 दर्शन दिग्दर्शन , पृ॰ ४२०
5. 1/12/13, 1/2/32, 1/17/41
6. 2/9/33, 3/27/1 भागवत् पुराण

इस प्रकार शंकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित मायावाद का सिद्धान्त वेदों उपनिषदों, गीता एवं पुराणों में किसी न किसी रूप में मिलता है। आचार्य ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय श्रुतिवाक्यों को उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है । अतः यह कहना अनुचित न होगा कि उन्होंने वेदों एवं उपनिषदों में निहित सत्य को अपनी तीक्ष्ण बुद्धि एवं प्रतिभा के बल पर परिभाषित करके अद्वैतमत का रूप दे दिया । कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने शांकरमत को उपनिषदों की देन नहीं माना हैं । इनमें जार्ज थीबो[1], मैक्समूलर[2] और क्रोलब्रुक महोदय[3] प्रमुख हैं । मैक्समूलर महोदय मायावाद को उपनिषदों के उत्तरकाल की देन मानते हैं । प्रो0 गफ़ महोदय ने मायावाद के सिद्धान्त को उपनिषदों का मूल सिद्धान्त माना है।[4] इनका कहना है कि शंकर की शिक्षा उपनिषदों की उचित व्याख्या है ।

शंकर का जन्म एवं काल-निर्धारण

भारत के "मूर्धन्य दार्शनिक एवं विद्वान् शंकराचार्य का जन्म-काल अभी भी विवाद का विषय बना हुआ है । अधिकांशतः विद्वान् इनका समय 788 से 820 ई0 मानते हैं।[5] सर्वप्रथम प्रो0 तेले ने अपने ग्रन्थ आउट लाइन्स आफ दी हिस्ट्री ऑफ रिलिजन्स में यह विचार प्रतिपादित किया।[6] इसके बाद 1882 ई0 में डा0 के0बी0 पाठक ने इस मत का समर्थन किया।[7]

---

1. S.B.E. XXIV, P. XIX
   Vedanta Sutra with the Commentary of Shankaracharya.
2. Max Muller Three Lectures on Vedanta Philosophy. P. 128 & 130.
3. Ibid
4. Philosophy of the Uphisadas, Chapter 9 and Preface, P. VIII.
5. 'PRE-SAMKARA ADVAITA PHILOSOPHY', P. 61
6. Ibid

डा0 पाल ड्सूसन ने आचार्य का जन्म लगभग 700 से 800 ई0 के बीच स्वीकार किया है।[1] पं0 बलदेव उपाध्याय ने इस मत को सिद्ध करने के लिए नीलकण्ठ भट्ट, बालकृष्ण, ब्रह्मानन्द तथा राजचूड़ामणि दीक्षित आदि प्राचीन विद्वानों के विचार प्रमाण रूप में उद्धृत किया है । शंकराचार्य की यह तिथि (788-820) चुनौतीपूर्ण है क्योंकि यह तिथि मानने पर उनके जीवन और कृतियों से सम्बद्ध अनेक बातें स्पष्ट नहीं हो पाती । अतः उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर आचार्य का जन्म-काल निर्धारण करने का प्रयास किया गया है। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं :-

(1) अद्वैत परम्परा में यह स्वीकार किया जाता है कि गौडपाद आचार्य शंकर के दादा गुरू थे । आचार्य शंकर अपने जीवनकाल में गौडपाद के जीवित होने को स्वीकार करते है।[2] गौडपाद का समय विधुशेखर भट्टाचार्य के द्वारा 500 ई0 निर्धारित किया गया है।[3] डा0 टी.एम पी. महादेवन भी गौडपाद का यही समय स्वीकार करते हैं।[4] आचार्य शंकर का काल यदि 788-820 ई0 स्वीकार किया जाता है तब गौडपाद के जीवन-काल में श्री शंकराचार्य की स्थिति संदेहास्पद हो जाती है। गौडपाद की उम्र शायद लम्बी रही हो, तब भी शंकराचार्य का काल सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बाद नहीं रखा जा सकता।[5]

---

1. System of Vedanta by Dr. Paul Dussen English Translation by Charles Johnston.
2. 'PRE-SANKARA ADVAIT PHILOSOPHY BY SANGAM LAL PANDEY', P. 61.
3. 'The Agamasastra of Gaudapada, P. 76.
4. Gaudapada by T.M.P. Mahadevan Madras, 1962, P. 14-5
5. PRE-SANKARA ADVAIT PHILOSOPHY, P. 64.

(2) भास्कर ने बादरायण रचित शारीरकभाष्य पर अपनी टीका में शांकरभाष्य की समालोचना की है। श्री वाचस्पति मिश्र ने अपनी भामती नामक टीका में भास्कर और शंकराचार्य के परमशिष्य पद्मपाद की भी समालोचना की है। वाचस्पति जी का समय लगभग 841 ई0 है क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है कि उनकी न्यायसूची निबन्ध 898 विक्रम संवत में (841 ई0) में लिखी गयी । भास्कर, आचार्य शंकर से करीब एक पीढ़ी (25 वर्ष) बाद के हैं। इसी प्रकार वाचस्पति, भास्कर से (एक पीढ़ी) परवर्ती हैं। भास्कर का समय 750-816 ई0 निश्चित किया जाता है । अतः शंकराचार्य का समय 750 ई0 के पहले का ही हो सकता है।[1]

(3) अद्वैत परम्परा में हस्तामलक को श्री शंकराचार्य का साक्षात् शिष्य कहा गया है । हस्तामलक प्रभाकर के पुत्र थे । आचार्य शंकर ने अपने शारीरकभाष्य में प्रभाकरवृत्ति से उद्धरण दिए हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रभाकर शंकर के पूर्ववर्ती थे । प्रभाकर का समय डा0 जी एन झा एवं डा0 ए बी कीथ द्वारा 600-650 ई0 निश्चित किया गयाहै । अतः शंकर का समय 625 ई0 होना चाहिए ।[2]

अतः साक्ष्य के आधार पर शंकर की तिथि निर्धारित करने का भी प्रयास किया गया इनमें से कुछ इस प्रकार हैं :-

(1) शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र 2/1/17 में पूर्ववर्मा का नामोल्लेख किया है इसके अतिरिक्त बलवर्मा और राजवर्मा का भी उल्लेख इनकी कृतियों

---

1. PRE-SANKARA ADVAIT PHILOSOPHY, P. 64.
2. वही ।

से प्राप्त होता है। ये सभी ऐतिहासिक राजा थे । पूर्णवर्मा ने 637 ई0 में मगध पर अधिकार किया था। 640 ई0 के पहले ही उसकी मृत्यु हुई थी । ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य में स्रुध्न और पाटलिपुत्र नगर उल्लिखित है। ये दोनों की नगर युवान च्वांग के भारत आने पर (636 ई0 में) नष्ट हो चुके थे। अतः शारीरक भाष्य की रचना दोनो नगरों के नष्ट होने के बहुत पहले ही हो चुकी होगी। इन ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर श्री एस. श्रीकण्ठशास्त्री ने शंकराचार्य का समय 550 ई0 से 650 ई0 के बीच निश्चित किया है।[1]

(2) शंकराचार्य के साक्षात् शिष्य सुरेश्वराचार्य थे इन्होंने धर्मकीर्ति नामक बौद्ध दार्शनिक का उल्लेख किया है।[2] इतिहास में धर्मकीर्ति का समय 629 ई0 से 658 ई0 के मध्य माना जाता है। धर्मकीर्ति की कारिका है :- "सहोपलम्भ नियमादभेदो प्रमाण विनिश्चय तथा प्रमाणवार्त्तिक नीलतद्धियोः । भेदैश्च भ्रान्त विज्ञानैर्दृश्येत तेन्दाविवाद्वये" धर्मकीर्ति की इस कारिका के "सहोपलम्भ नियमादभेदः" अंश को आचार्य ने भी शारीरक भाष्य में उद्धृत किया है।[3] अतः शंकराचार्य का काल 650 ई0 के बाद का होना चाहिए । आचार्य शंकर द्वारा शारीरकभाष्य में उद्धृत 'यदन्तर्ज्ञेय रूपं तद्बहिर्वदवभासते" यह अंश दिंगनाग की आलम्बन कारिका से लिया गया है। दिंगनाग का काल

---

1. The date of Sankaracharya by S. Srikantha Shastri Quarterly Journal of Mythic Society Bajglore, VOl. XX, 1929-30, Page 313-316.

2. 4/3/15/5

3. 2/2/28 ब्र० सू० शां० भा०

510–570 ई0 है[1] इसलिए शंकर का काल 5वीं शताब्दी से पूर्व का नहीं हो सकता ।

(3) युवान च्वांग ने 631 ई0 से 644 ई0 के बीच भारत भ्रमण किया था । उसने लिखा है कि ब्राह्मण धर्म उस समय फूल–फल रहा था और बौद्धधर्म क्षीण हो रहा था । इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण धर्म के दो प्रमुख कर्णधार कुमारिल और आचार्य शंकर का अभ्युदय 630 ई0 के पूर्व हो चुका था।[2] हर्ष के दरबारी कवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में लिखा है कि ब्राह्मणवाद में निष्णात् सन्यासी सम्राट हर्ष के पास जाते थे।[3] इससे यह प्रतीत होता है कि बाणभट्ट के हर्षचरित लिखने के पूर्व ही शंकराचार्य ने अपना सैद्धान्तिक तथा संगठनात्मक कार्य पूरा कर लिया था क्योंकि अनेक वर्षों तक बौद्ध धर्म के बाद आचार्य शंकर ने ही सन्यास और ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा की थी ।

(4) जैसा कि बताया जा चुका है कि भामतीकार ने अपने न्याय सूची–निबन्ध नामक ग्रन्थ में इसका (ग्रन्थ का) रचनाकाल वस्वंक वसुवत्सरे कहकर 898 संवत् लिखा है :–

> न्यायसूची निबन्धोऽयमकारि विदुषां मुदे ।
> श्री वाचस्पतिमिश्रेण वस्वंक वसुवत्सरे ।।

---

1. PRE-SANKARA ADVAIT PHILOSOPHY BY SANGAM LAL PANDEY, P. 352.
2. PRE-SANKARA ADVAIT PHILOSOPHY BY SANGAM LAL PANDEY, P. 71.
3. हर्ष चरित, जीवानन्द विद्यासागर प्रकाशन, पृ0 389

संवत् से यहां अभिप्राय विक्रम संवत् प्रतीत होता है इसलिए वाचस्पति का समय नवीं शताब्दी का मध्य भाग 7841 ई0) सिद्ध होता है। शांकरभाष्य पर वाचस्पति ने भामती नामक व्याख्या लिखी है। अतः शंकर का काल 788 से 820 के मध्य होना चाहिए क्योंकि वाचस्पति की शारीरकभाष्य पर एकमात्र पांडित्यपूर्ण व्याख्या और शंकर के स्थिति काल में लम्बा अन्तर नहीं माना जा सकता। जैनमत के खण्डन के प्रसंग में शंकर ने जिसके मत का खण्डन किया है वह दिगम्बराचार्य अकंलक के गुरू समन्तभद्र का प्रतीत होता है । अकंलक साहसतुंग राजा के सभासद थे । इनका शासन काल 675 शकाब्द अथवा 753 ई0 था। आचार्य की अवस्था के सम्बन्ध में तीन पत्रों की एक छोटी सी पुस्तक प्रमाण भी है जो डा0 के0बी0 पाठक को बेलगांव में प्राप्त हुई थी । इस पुस्तक में उद्धृत अंश से आचार्य की आयु 32 वर्ष सिद्ध होती है –

> दुष्टाचार विनाशाय प्रादुर्भूतां महीतले ।
> स एव शंकराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः
> अष्टवर्षे चतुर्वेदान् द्वादशे सर्वशास्त्रकृता ।
> षौडशेकृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यागात्।।[1]

नीलकण्ठ भट्ट रचित शंकरमन्दार सौरभ के अनुसार भी आचार्य का जन्म-काल 788 ई0 वैशाख में (शुक्ल पक्ष 10) निश्चित होता है। कहा जाता है कि आचार्य शंकर की मुलाकात कुमारिलभट्ट से पवित्र प्रयाग में हुई थी जब वे आत्मदाह का अनुष्ठान करने जा रहे थे। इस घटना से यह अनुमान लगाया जाता है कि कुमारिल उस समय पचहत्तर वर्ष के और शंकर कम से कम तीस वर्ष के रहे होंगे । तिब्बतियन स्रोत के अनुसार कुमारिल भट्ट धर्मकीर्ति से ज्येष्ठ होते हुए भी समवर्ती थे । उन्होंने अपने श्लोकवार्तिक में धर्मकीर्ति के द्वारा दी गयी

---

1 उद्धृत डा0 राममूर्ति शर्मा कृत 'शंकराचार्य के मायावाद और उनके सिद्धान्तों का अलोचनात्मक' अध्ययन, पृ0 12

प्रत्यक्षीकरण की परिभाषा की आलोचना की है । धर्मकीर्ति की साहित्यिक क्रियाओं का समय 635–650 ई0 निश्चित किया गया है।[1] अतः कुमारिल का समय 635 ई0 रहा होगा । और शंकराचार्य का काल सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में होना चाहिए । इस प्रकार विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं एवं स्रोतों एवं साहित्यिक विवरणों के आधार पर शंकराचार्य का समय सातवीं–आठवीं शताब्दी के मध्य रखा जा सकता है ।

आचार्य शंकर का जन्म – स्थान

आचार्य शंकर का अवतरण केरल प्रान्त के कालटी या कालड़ी नामक ग्राम में हुआ था।[2] शंकर के जन्म स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों के मध्य मतैक्य न होने के कारण कई किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। आनन्दगिरि का कथन है कि चिदम्बरम में एक सात्त्विक ब्राह्मण सपत्नीक निवास करता था। ब्राह्मण के सन्यास ग्रहण करने के पश्चात् समीपवर्ती किसी वन में चले जाने पर ब्राह्मणी ने चिदम्बरम के भगवान शंकर की आराधना की। भगवान् के वर से शंकर उत्पन्न हुए थे । इस कहानी के आधार पर आनन्दगिरि ने आचार्य का जन्म-स्थान चिदम्बरम माना है।[3] एक अन्य कहानी प्रसिद्ध है कि कालटी में एक विधवा ब्राह्मणी रहती थी जो वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करती थी । वह विधवा ब्राह्मणी अपनी समवयस्क कन्याओं के साथ एक बार शिव मन्दिर में गयी । अन्य कन्याओं की तरह उसने भी पुत्र प्राप्ति की याचना की । भगवान शंकर के वर के रूप में उस ब्राह्मणी के गर्भ से आचार्य का जन्म हुआ।

---

1. A History of Indian Logic, S.C. Vidyabhushana, Motilal Banarsidas, Varanasi, 1971, P. 303.
2. लाइफ एण्ड थाट शंकराचार्य, पृ0 77–78 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय कृत
3. आनन्दगिरि कृत शंकरविजय, पृ0 9

Asiatic Society of Bengal.

केरल प्रदेश की यह मान्यता है कि शंकर की माता नम्बूदरी ब्राह्मण कुल की थीं। यह कुल सदा से त्रिचूर के पास निवास कर रहा है । वह स्थान जहां शंकर ने अपनी मां का अन्तिम संस्कार किया था वह भी कालटी के पास स्थित है। यह अतीव विलक्षण बुद्धि के थे । कहा जाता है जब वे मात्र 8 वर्ष के थे तभी उन्होंने चारों वेदों को कंठस्य कर लिया था । वैदिक धर्म के पुनरूत्थान के लिए उन्होंने गोविन्दाचार्य से सन्यास की दीक्षा ग्रहण की और वहीं पर वेदान्त के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों की शिक्षा ली । वीतरागी शंकर ने आचार्य के रूप में जगह-जगह भ्रमण किया । शास्त्रज्ञानोन्नमत अनेक विद्वानों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया । वैदिक क्रिया-कलाप अप्रतिष्ठा को प्राप्त होने लगा था । ऐसे धर्म संकट के समय वेदों में निहित सत्य का प्रसार किया । आज जैसे साधन न होने पर भी भारत के चारों कोणों में धार्मिक संघ की स्थापना की जिनमें दक्षिण भारत में श्रृंगेरी, पूर्व में गोवर्धन, पश्चिम में शारदा, उत्तर में ज्योतिर्मठ है। शंकर का यह कार्य अद्वितीय था । इस कार्य के द्वारा उन्होंने भारत की सांस्कृतिक और धार्मिक एकता को सुदृढ़ किया । आचार्य शंकर के कार्यों की चर्चा आगे इसी अध्याय में की जायेगी ।

अद्वैत वेदान्त की आचार्य - परम्परा

अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों के कारण ही शंकर अद्वैत वेदान्त के प्रवर्त्तक के रूप प्रसिद्ध हो गये यद्यपि शंकर के पूर्व अनेक आचार्य हुए । शंकर के पूर्ववर्ती आचार्य की चर्चा करना आवश्यक है । शांकर सम्प्रदाय में जो आचार्य वन्दनात्मक मंगलाचरण प्रसिद्ध है उसमें आरम्भ से लेकर गुरू-शिष्य परम्परा का वर्णन इस प्रकार से है -
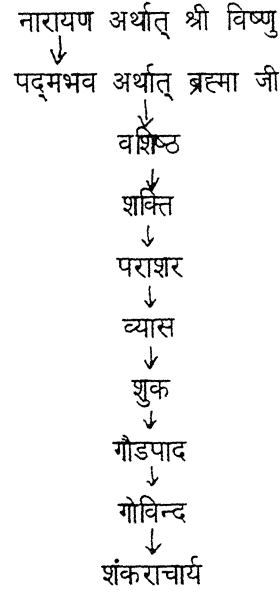
नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपादं महान्तँ, गोविन्द योगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ।।
श्री शंकराचार्यमथास्य पद्मपादश्च हस्तामलकं च शिष्यम् ।
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद् गुरून् सन्ततमानतोऽस्मि ।।[1]

शांकर सम्प्रदाय की इस परम्परा में नारायण से शुक तक के आचार्य एक ही परिवार के हैं । नारायण पद्मभव के पिता व गुरू दोनों थे । इसी प्रकार पद्मभव वशिष्ठ के पिता और गुरू दोनों ही थे । शुक तक यह परम्परा कायम रही । इसके बाद गुरू और शिष्य दोनों सन्यासी रहे।[2] व्यास का नाम

---

1 'मंगलपाठ' ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्यम्, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली 1981

2. Pre-Samkara Advaita Philosophy by S.L. Pandey, P. 14-15.

अद्वैत वेदान्त में महत्त्वपूर्ण है। "भारतीय परम्परा के अनुसार वेदान्तसूत्र के रचयिता बादरायण और व्यास एक ही व्यक्ति थे किन्तु यह निम्नलिखित तर्क के आधार पर उचित नहीं प्रतीत होता । वेद व्यास महाभारत के रचयिता थे वे प्रागैतिहासिक पुरूष थे जबकि बादरायण एक ऐतिहासिक पुरूष थे जिन्होंने बौद्ध जैन, सांख्यादि मतों की आलोचना की और ब्रह्मसूत्र की रचना की थी।[1] ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि बादरायण मुनि से पूर्व अनेक आचार्यों ने वेदान्त तत्त्व की मीमांसा की । किन्तु इनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते । इन आचार्यों में प्रमुख आचार्य हैं – आत्रेय, आश्मरथ्य,[2] औडुलौमि,[3] कार्ष्णाजिनि,[4] काशकृत्स्न,[5] जैमिनी,[6] बादरि,[7] पराशर,[8], भर्तृप्रपंच,[9] भर्तृहरि, उपवर्ष[10] ब्रह्मनन्दी, ब्रह्मदत्त बोधायन[11], सुन्दरपाण्डेय[12] और द्रविड़ाचार्यादि प्रमुख हैं। इन दार्शनिकों के मतों के विषय में जितना ज्ञात होता है उसके आधार पर हम इनके मतों की कुछ विशेषताओं का निर्धारण कर सकते है।

---

1 वही, पेज 16 से 17

2 आत्रेय ब्र0सू0 3/4/44, आश्मरथ्य (1-2-19)

3 औडुलोमि, ब्र0सू0 1/4/2, 3/4/45, 4/4/6

4 कार्ष्णाजिनि – 3/1/9

5 1/4/22

6 4/4/5, 4/4/11

7. 1/2/30, 3/1/11

8 4/3/7

9 भर्तृप्रपञ्च – ब्र0द0भा0 2/3/6

10 1/3/28

11 1/1/4

12 वेदान्तकल्पतरू 12/3/25

1 ये सभी मत अद्वैतवादी है – इस अर्थ में कि वे जीव–ब्रह्म की आत्यन्तिक एकता का प्रतिपादन करते है ।

2 ये सभी मत वेदों का प्रमाण्य स्वीकार करते हैं और वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति आस्था प्रकट करते हैं ।

3 "मोक्ष" को एक ऐसा लक्ष्य स्वीकार किया गया है, जो मात्र प्रयत्न साध्य है। अतः इनके मत में अविद्या का स्थान नहीं के बराबर स्थान हैं ।

4 इन सभी मतों ने उन श्रुतियों को महत्त्व नहीं दिया जो जीव और ब्रह्म की नित्य एकता का तथा ब्रह्मज्ञान मात्र से मोक्ष की प्राप्ति का उपदेश करती है। सम्भवतः इसलिए कि वे यह अनुभव नहीं कर पाये कि "अविद्या" ही "मोक्ष" प्राप्ति में एक मात्र बाधा है। उन्होंने पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दृष्टि के अन्तर को महत्व नहीं दिया।[1]

प्राचीन वेदान्ताचार्यों में कुछ अद्वैत दृष्टि के समर्थक थे । इनमें से किसी ने गीता के ऊपर भाष्य की रचना की थी और किसी ने ब्रह्मसूत्र और गीता दोनों पर। उपनिषदों पर भी किसी–किसी ने भाष्य लिखा था । भर्तृप्रपंच ने कठोपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् पर भाष्य लिखे थे । दार्शनिक दृष्टि से इनका मत द्वैताद्वैत, भेदाभेद आदि नामों से प्रसिद्ध है। इनके मत में परमार्थ सत्ता एक भी है और अनेक भी । अद्वैत के समान द्वैत भी सत्य है।[2] भर्तृहरि का नाम यामुनाचार्य के सिद्धित्रय में किया गया है। इनका वाक्यपदीय नामक ग्रन्थ व्याकरण विषयक होने पर भी दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण है। इसमें अद्वैतमत

---

1 उद्धृत डा0 आरती श्रीवास्तव कृत (शोध - प्रबन्ध) `संक्षेप शारीरक का समीक्षात्मक अध्ययन,' 1977, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2 द्रष्टव्य, सत्यदेवशास्त्रीकृत "भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन", पृ0 2

का प्रतिपादन किया गयाहै। शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में कहीं-कहीं उपवर्ष नामक एक प्राचीन वृत्तिकार के मत का भी उल्लेख किया है। शंकराचार्य के पूर्व सुन्दर पाण्डेय नामक आचार्य ने एक कारिकाबद्ध वार्तिक की रचना की थी। शंकराचार्य ने ब्र0सू0 भा0[1] में इनके तीन श्लोक उद्धृत किए है। मधुसूदन सरस्वती ने संक्षेप शारीरक की टीका (3/217) में ब्रह्मनन्दी के मत का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि ये भी अद्वैतवाद के आचार्य रहे होंगे । आचार्य शंकर से पूर्व आचार्य-प्रवर गौडपाद हुए (500 ई0) जिन्होंने माण्डूक्योपनिषद पर कारिकाएं लिखकर अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया। कलेवर की दृष्टि से यह उपनिषद् अत्यन्त लघु है। इसमें कुल 12 मन्त्र हैं। इन मन्त्रों पर गौडपाद जी ने कारिकाएं लिखकर इसका महत्व और बढ़ा दिया। इसमें 4 प्रकरण हैं :- 1. आगम प्रकरण 2 वैतथ्य प्रकरण 3. अद्वैत प्रकरण 4. अलातशन्ति प्रकरण यह अद्वैतवेदान्त की आधारशिला है। जिस प्रकार गीता के विषय में एक कहावत प्रसिद्ध है "गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैर्छास्त्रविस्तरैः" उसी प्रकार अद्वैतबोध के लिए इस ग्रन्थरत्न का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य गौडपाद ने अजातिवाद की स्थापना की है।उनके अनुसार न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।[2]

प्रथम प्रकरण में जीव-ब्रह्म की एकता तथा प्रपंच का मायामयत्व प्रतिपादित करते हुए वैतथ्य प्रकरण में उसी को युक्ति द्वारा पुष्ट किया है। अद्वैत प्रकरण में अद्वैत तत्त्व की युक्ति द्वारा सिद्धि की है। अलातशान्ति नामक चौथे प्रकरण में आचार्य ने अन्य मतावलम्बियों के पारस्परिक मतभेद का दिखलाते हुए उन्हीं की युक्तियों से उनका खण्डन किया है। आचार्य गौडपाद के शिष्य गोविन्दाचार्य थे। श्री गोविन्दाचार्य शंकराचार्य के साक्षात गुरू थे। अपने सभी ग्रन्थों में आचार्य शंकर

---

1. 1/1/4

2 2/32 माण्डूक्यकारिका

स्वयं को गोविन्दाचार्य के शिष्य के रूप बताते हैं। गोविन्दाचार्य के पश्चात् उनके शिष्य शंकराचार्य से अद्वैत परम्परा के प्रसिद्ध केवलाद्वैत सम्प्रदाय का प्रारम्भ होता है। कहा जाता है बत्तीस वर्ष की अल्पायु में ही आचार्य शंकर ने अपना पाञ्च–भौतिक शरीर त्याग दिया था । उस परिमित आयु में उन्होंने विशाल वाड्.मय का प्रणयन किया। जब वे पांच वर्ष के थे तब उन्होंने अट्ठाइस पंक्तियों की देवीभुजंगस्तव नामक स्रोत की रचना की थी । सात वर्ष में कनकधारस्त्रोत, तथा गुरूकुल में बाल–बोध–संग्रह लिखा था । इनकी अन्य कृतियों के नाम इस प्रकार से है – माया विवरण, नर्मदाष्टक[1] प्रातःस्मरण[2], साधना–पंचक[3], यति–पंचक[4], वाक्यवृत्ति विवेक–चूड़ामणि, दश–श्लोकी, आत्मानात्म–विवेक, एकादशोत्तरशत–वाक्यग्रन्थ, पंचीकरण, बालबोधिनी, शतपदी, हरिश्रुति, शतश्लोकी, स्यात्म - निरूपण, परमार्थ–सारसंग्रह, प्रौढ़ानुभूति प्रकरण, पर—पूजा, दक्षिणामूर्ति-स्त्रोत और ध्यानमूर्ति – स्त्रोत । शंकराचार्य ने दस उपनिषदों, गीता एवं वेदान्त सूत्रों पर महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखे । ये अद्वैत वेदान्त के तीन स्तम्भ प्रस्थानत्रयी कहे गये हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य बहुत से ग्रन्थ मिलते हैं – कहा जाता है उन्होंने अपनी मां के लिए तत्त्व–बोध, कृष्णाष्टक और मातृ–स्तुति नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था । तीर्थराज प्रयाग जाते समय गंगाष्टक, यमुनाष्टक, प्रयागाष्टक, लक्ष्मी – नृसिंह – रत्न और वेदसार–शिव–स्त्रोत की रचना की।[5] विशुद्ध अद्वैतवादी होने पर भी आचार्य विविध देवी देवताओं की उपासना को सार्थक समझते थे यही कारण है कि उन्होंने गणेश, शिव, विष्णु आदि देवताओं से सम्बन्धित अनेक स्त्रोत ग्रन्थ लिखे । वाणी विलास प्रेस से प्रकाशित "शंकर ग्रन्थावली" में 64 स्त्रोत संग्रहित है। इनमें से अनेक स्त्रोतों का परिगणन ऊपर किया जा चुका है । कुछ अन्य स्त्रोत इस प्रकार से हैं – आनन्द लहरी, गोविन्दाष्टक, चर्पट

---

1 1, 2, 3, 4, लघु पद्य है ।

5. लाइफ एण्ड थाट आफ शंकराचार्य,
गोविन्द चन्द्र पाण्डेय कृत, पृ0 99–110

पंजरिका, द्वादशपंजरिका, षट्पदी, हरिमीडेस्त्रोत, मनीषापंचक, सोपानपंचक तथा शिवभुजंगप्रयातस्त्रोत प्रमुख हैं। आचार्य ने वेदान्ततत्त्व को सरल एवं संक्षिप्त ढंग से प्रतिपादित करने के लिए अनेक प्रकरण ग्रन्थों की भी रचना की। इन ग्रन्थों की संख्या लगभग 40 है। सभी कृतियां नि:संदिग्ध और प्रामाणिक नहीं है। कुछ कृतियां जो आचार्य कृत कही जाती हैं, वे इस प्रकार से हैं – अपरोक्षानुभूति, आत्मबोध, स्वात्मनिरूपण, उपदेशसाहस्त्री, पंचीकरण प्रकरण, प्रबोध सुधाकर, लघुवाक्यवृत्ति, वाक्यवृत्ति, विवेक–चूड़ामणि तथा शतश्लोकी । आचार्य तन्त्र के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे । "सौन्दर्यलहरी" तथा "प्रपंचसार" नामक उनके दो ग्रन्थ तन्त्रपरक है। "सौन्दर्यलहरी" भावपूर्ण स्तोत्रग्रन्थ भी है। इसके अन्तिम उनसठ (59) श्लोकों में आचार्य ने भगवती त्रिपुरसुन्दरी का अत्यन्त सरस तथा हृदयग्राही वर्णन किया है।[1] आचार्य का जीवनकाल जितना कम था, उनके रचनाओं का संग्रह उतना ही विशाल। अनेक विद्वानों ने तो यहां तक कह दिया कि इतने कम समय में कोई भी इतना विशाल लेखन – कार्य नहीं कर सकता। कुछ विद्वानों ने लेखन शैली के आधार पर अनेक ग्रन्थों को शंकराचार्य कृत मानने से इन्कार किया है । उनका कहना है कि शंकराचार्य के पश्चात् उनके द्वारा स्थापित चतुर्मठों के अध्यक्ष भी शंकराचार्य कहलाए और इन परवर्ती शंकराचार्यों ने बहुत से वेदान्त ग्रन्थों की रचना शंकराचार्य के नाम से ही की। यही कारण है कि शंकराचार्य के नाम से उपलब्ध होने वाले ग्रन्थों में कौन–कौन से ग्रन्थ आदि शंकराचार्यकृत है, इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो गया है। केनोपनिषद पर शंकराचार्य के नाम से दो भाष्य पदभाष्य और वाक्यभाष्य मिलते हैं, परन्तु पण्डितों की शंका है कि वाक्यभाष्य आदि शंकर की रचना नहीं है। तैत्तिरीयो० भाष्य का मंगलाचरण प्रक्षिप्त माना जाता है। इसी प्रकार श्वेताश्तरो०

---

1 आचार्य की रचनाओं के उल्लेख का आधार है – डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय कृत – लाइफ एण्ड थाट आफ शंकराचार्य और जयराम मिश्र कृत – "आदि शंकराचार्य" जीवन और दर्शन ।

माण्डूक्यो0 और नृसिंह तापिनी उपनिषदों के भाष्यों के सम्बन्ध में संदेह व्यक्त किया गया है । पं0 गोपीनाथ कविराज ने गोविन्दपाद के शिष्य शंकराचार्य के नाम से 76 ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त नब्बे स्त्रोत ग्रन्थों का भी परिगणन किया है ।

शंकराचार्य के प्रमुख शिष्य एवं उनकी रचनाएं :

शंकराचार्य ने अपने जीवनकाल में ही चार पीठों की स्थापना करके सुरेश्वर, पद्मपाद, त्रोठक और हस्तामलक इन चार प्रतिभा सम्पन्न शिष्यों को चारों पीठों के पीठाधीश्वर पद पर अभिषिक्त किया था । इन शिष्यों में सुरेश्वर और पद्मपाद ने विशेष ख्याति अर्जित की थी इन सभी का विवरण इस प्रकार से हैं :-

हस्तामलक :

यह आचार्य शंकर के शिष्यों में से एक थे । इनके नाम से बारह श्लोकों का "हस्तामलकस्त्रोत" मिलता है । इस पर शंकर का भाष्य मिलने से इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध प्रतीत होती है । कुछ विद्वानों का मत है-सम्भव है कि यह भाष्य किसी परवर्ती शंकर द्वारा प्रणीत है । इस स्त्रोत पर वेदान्त सिद्धान्तदीपिका नाम से प्रसिद्ध एक टीका भी मिलती है ।

पद्मपादाचार्य :

ये शंकराचार्य के साक्षात् शिष्य के रूप में प्रसिद्ध थे । इनका समय लगभग आठवीं शताब्दी स्वीकार किया गया है । इन्होंने आचार्य के ब्र0सू0 शां0भा0 पर पंचपादिका नामक व्याख्या लिखी । ये अद्वैतमत के समर्थक थे । इनके अन्य ग्रन्थों में विज्ञानदीपिका और प्रपंचसारटीका प्रमुख है । यह व्याख्या ही शांकर अद्वैत के विवरण प्रस्थान का मूलाधार हैं। इसको पंचपादिका कहने का कारण

यह है कि इसमें वेदान्तशास्त्र की उपादेयता को सिद्व करने वाले अध्यास, ब्रह्म जिज्ञासा, ब्रह्म का लक्षण, ब्रह्म में प्रमाण और ब्रह्म में समन्वय इन पंचपादों का विस्तृत व्याख्यान किया गया है । इस व्याख्या पर प्रकाशात्मा (1200 ई0) ने पंचपादिका विवरण लिखा और पंचपादिका विवरण पर माधवाचार्य ने (1350) विवरण प्रमेय संग्रह नामक एक अत्यन्त उपयोगी और विस्तृत निबन्ध ग्रन्थ लिखा। पंचपादिका पर विवरण के अतिरिक्त अन्य टीकाएं लिखी गयीं – विद्यासागर कृत पंचपादिका टीका, अमलानन्दकृत पंचपादिकादर्पण, नृसिंहाश्रम कृत वेदान्तरत्न कोश तथा नरसिंह-स्वरूप के शिष्य आत्म-स्वरूप की प्रबोध-परिशोधिनी आदि टीकाएं उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार पंचपादिका-विवरण पर भी अनेक टीकाएं लिखी गयी है, जिनमें अखण्डानन्द कृत तत्वदीपनम्, चित्सुख कृत विवरण – भावद्योतनिका, विद्या-सागर कृत टीकारत्नम्, ; रंगराजाध्वरीन्द्र विवरण-दर्पण, विष्णुभट्‌ट कृत ऋजुविवरण, रामानन्द कृत विवरणोपन्यास, तथा तत्त्वदीपन पर नृसिंहाश्रम (1500 ई0) कृत भाव-प्रकाशिका विशेष प्रसिद्ध हुई है। प्रकाशात्मा ने शारीरकभाष्य पर न्याय-संग्रह नाम की एक टीका लिखी थी।

त्रोटकाचार्य :

शंकराचार्य के चार प्रमुख शिष्यों में त्रोटकाचार्य तथा हस्तामलकाचार्य की रचना के विषय में निश्चित प्रमाण नहीं मिलता । आचार्य के नाम से केवल त्रोटकस्तोत्र मिलता है ।

सुरेश्वराचार्य :

शंकराचार्य द्वारा लिखे गये भाष्यों पर इन्होंने इतने महत्त्वपूर्ण वार्त्तिक लिखे हैये कि वार्त्तिककार के रूप में प्रसिद्ध हो गये । इनकी प्रमुख कृतियां इस प्रकार हैं :–

बृहदारण्यकोपनिषद्—भाष्यवार्त्तिक, तैत्तिरीयोपनिषद्—भाष्यवार्त्तिक, दक्षिणामूर्तिस्तोत्र—वार्त्तिक, पंचीकरण—वार्त्तिक तथा नैष्कर्म्यसिद्धि आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया । कहा जाता है कि शंकराचार्य से शास्त्रार्थ में पराजित होकर मण्डल मिश्र ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और सन्यासाश्रम में प्रविष्ट होकर वे ही सुरेश्वराचार्य कहलायें। सन्यास लेने से पूर्व मण्डन मिश्र ने ब्रह्म सिद्धि नामक एक उच्च कोटि का वेदान्त ग्रन्थ लिखा था । पं० गोपीनाथ कविराज प्रभृति विद्वान् मण्डन और सुरेश्वर के ऐक्य को स्वीकार नहीं करते ।

वाचस्पति मिश्र (841 ई०) ने ब्रह्मसिद्धि पर ब्रह्मतत्त्व—समीक्षा नामक एक टीका लिखी थी जिसका उल्लेख भामती में मिलता है; किन्तु अभी तक यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो पाता है । ब्रह्मसिद्धि पर चित्सुखाचार्य की अभिप्राय-प्रकाशिका, विद्यासागर की भाव—शुद्धि और शंखपाणि की टीका मिलती है। नैष्कर्म्यसिद्धि पर ज्ञानोत्तम कृत चन्द्रिका, ज्ञानमृत—यतिकृत विद्यासुरभि तथा चित्सुख कृत भावतत्त्व—प्रकाशिका आदि प्रसिद्ध टीकाएं है । बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक पर विद्यासागर की न्यायकल्पलतिका नामक टीका मिलती है। दक्षिणामूर्तिस्तोत्र पर कैवल्यानन्द के शिष्य स्वयं—प्रकाशयति ने तत्त्वसुधा नामक एक टीका लिखी है। दक्षिणामूर्तिस्तोत्र या मानसोल्लास पर रामतीर्थ की टीका है ।

अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य एवं उनकी रचनाएं — शांकर अद्वैत सम्प्रदाय के अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान् कृतिकार श्री वाचस्पति मिश्र जी हैं जिनका समय 841 ई० स्वीकार किया गया है । ये अनेक दर्शनों के ज्ञाता एवं विद्वान् थे। वेदान्तमत पर इनके दो ग्रन्थ हैं :— ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य पर भामती नामक टीका एवं मण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि पर ब्रह्मतत्त्व—समीक्षा । इसकी अपनी विशेषतायें एवं मान्यताएं इतनी विशिष्ट हैं कि इसके आधार पर शांकर अद्वैत में भामती नामक एक प्रस्थान ही प्रचलित हो गया । मधुसूदन की अद्वैतसिद्धि में

इनका उल्लेख अवच्छेदवाद के प्रवर्त्तक के रूप में हुआ है । भामती पर अमलानन्द या व्यासाश्रम (1250 ई0) ने कल्पतरू नाम की टीका लिखी और कल्पतरू पर अप्पयदीक्षित (1520–1593 ई0) ने कल्पतरू परिमल तथा वैद्यनाथ ने कल्पतरूमंजरी की रचना की थी । अप्पयदीक्षित ने सिद्धान्तलेश संग्रह और न्यायरक्षामणि नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना भी की थी । अखण्डानन्दरचित ऋजु प्रकाशिका व्याख्या तथा अल्लालकृत भामतीतिलक नामक महत्वपूर्ण टीका है । सुरेश्वराचार्य के शिष्य सर्वज्ञात्ममुनि (990 ई0) ने संक्षेपशारीरक नामक अद्वैत वेदान्त के एक सुन्दर पद्यात्मक ग्रन्थ की रचना की । इसकी लोकप्रियता का प्रमाण यह है कि इस पर श्रेष्ठ आचार्यों की छः टीकाएं मिलती हैं। मधुसूदन सरस्वती प्रणीत सार-संग्रह, नृसिंहाश्रम प्रणीत तत्त्वबोधिनी, रामतीर्थ प्रणीत अन्वयार्थ प्रकाशिका, अग्निचित्पुरूषोत्तमकृत सुबोधिनी, राघवानन्दकृत विद्यामृतवर्षिणी और विश्ववेदप्रणीत सिद्धान्तदीप । सर्वज्ञात्ममुनि का "पंचप्रक्रिया" नामक एक और ग्रन्थ मिलता है परन्तु उसकी प्रमाणिकता संदिग्ध है। विमुक्तात्मा की "इष्टसिद्धि", मधुसूदन सरस्वती की "अद्वैतसिद्धि" अद्वैतवेदान्त का बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। नैषधकार श्री हर्ष ने बारहवीं शताब्दी ई0 के उत्तरार्द्ध में खण्डनखण्डखाद्य नामक एक अप्रतिम ग्रन्थ लिखा है । इसमें नैयायिक मत का खण्डन करके अनिर्वचनीयता को प्रतिष्ठापित किया गया है । इस ग्रन्थ पर प्रसिद्ध नैयायिक शंकरमिश्र की आनन्दवर्धिनी और विद्यासागर की टीकाएं विशेष प्रसिद्ध हुई हैं । इन टीकाओं को "शांकरी" और "विद्यासागरी" भी कहा जाता है । चित्सुखाचार्य ने इसके ऊपर एक टीका लिखी तथा इसके अतिरिक्त एक स्वतन्त्र ग्रन्थ "तत्त्वदीपिका" भी लिखा । चित्सुखाचार्य की कीर्तिपताका केवल इसी ग्रन्थ के कारण आज भी फहरा रही है। आत्मवास के शिष्य आनन्दबोध भट्टारक का ग्रन्थ न्यायमककन्द एक अमरकृति है । इस ग्रन्थ पर चित्सुखाचार्य और उनके शिष्य सुख प्रकाश ने टीकाएं लिखी है । चित्सुखाचार्य की अत्यन्त प्रौढ़ एवं प्रसिद्ध टीकाओं का विवरण इस प्रकार है – शारीरक भाष्य पर भाव प्रकाशिका, ब्रह्मसिद्धि पर अभिप्राय प्रकाशिका, नैष्कर्म्यसिद्धि पर भावतत्त्व प्रकाशिका, पंचपादिका विवरण पर

भावद्योतनिका, खण्डनखण्डखाद्य की टीका, आनन्दबोध के न्यायमकरन्द तथा प्रमाणरत्नमाला पर टीकाएं – ये आचार्य के प्रसिद्ध टीका ग्रन्थ हैं । अधिकरण-संगति और अधिकरण मंजरी नामक दो छोटे-छोटे ग्रन्थ भी उनके नाम से प्रकाशित हैं। अद्वैत के एक अन्य प्रसिद्ध विद्वान् चौदहवी शताब्दी में हुए, जिनका नाम था माधवाचार्य । सन्यास लेने के पश्चात वे विद्यारण्यस्वामी के नाम से प्रख्यात हुए। वे श्रृंगेरीमठ की गद्दी पर 1377 से 1386 ई0 तक आसीन रहे । इन्होंने अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की विवरण प्रमेय संग्रह, पंचदशी, जीवन्मुक्ति विवेक, वाक्यसुधा, बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकसार अनुभूति प्रकाश, शंकर दिग्विजय तथा दृग्दृश्यविवेक, आदि अद्वैत ग्रन्थों की रचना करके महनीय कीर्ति अर्जित की । इन्होंने ब्रह्मगीता, सूतसंहिता[1] तथा अपरोक्षानुभूति पर टीकाएं भी लिखीं हैं। दृग्दृश्यविवेक का कर्तृत्व विवादास्पद है। इसके टीकाकार ब्रह्मानन्द भारती इसे भारती तीर्थ विरचित मानते हैं। पंचदशी पर रामकृष्ण की तात्पर्य दीपिका टीका बहुत उत्तम है। वाक्यसुधा पर ब्रह्मानन्दभारती, विश्वेश्वरमुनि तथा मुनिदास भूपाल की टीकाएं मिलती हैं। मुनिदास इसे शंकरकृत मानते हैं। शुद्धानन्द के शिष्य आनन्द या आनन्दज्ञान थे । उनकी प्रसिद्ध रचनाएं इस प्रकार से हैं – शारीरकभाष्य की टीका – न्यायनिर्णय, गीता तथा मुख्य-मुख्य उपनिषदों के भाष्य पर टीकाएं, उपदेशसाहस्त्री, न्यायरत्नदीपावली और अपरोक्षानुभूति आदि ग्रन्थों पर व्याख्याएं लिखी हैं । 15वीं शताब्दी में अद्वैत सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध आचार्य सदानन्दयोगीन्द्र ने वेदान्तसार नामक एक अत्यन्त लोकप्रिय प्रकरण ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ पर नृसिंह सरस्वती कृत सुबोधिनी, रामतीर्थकृत विद्वन्मनोरंजनी तथा आपदेवकृत बालबोधिनी नामक टीकाएं उपलब्ध होती है। अप्पयदीक्षित के शिष्य, सिद्धान्त कौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित ने शांकर वेदान्त पर भी लेखनी चलायी है। इन्होंने वेदान्ततत्त्वकौस्तुभ नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया । आचार्य मधुसूदन

---

1 सूतसंहिता प्राचीनशिवाद्वैत सम्प्रदाय का ग्रन्थ है ।

सरस्वती ने वेदान्त दर्शन पर अनेक प्रमुख ग्रन्थों की रचना की। ये अप्पयदीक्षित के परवर्ती थे। सिद्धान्तबिन्दु की भूमिका में श्रीकृष्ण पन्त ने उनका समय 17वीं शताब्दी ई0 का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ इस प्रकार है – सिद्धान्तबिन्दु, वेदान्तकल्पलतिका, अद्वैतसिद्धि, अद्वैतरत्नरक्षण, प्रस्थानभेद, भक्तिरसायन, संक्षेपशारीरक पर सारसंग्रह, गीता पर गूढार्थदीपिका, महिम्न:स्तोत्र टीका और भागवत व्याख्या आदि। इनके द्वारा उचित सिद्धान्तबिन्दु शंकराचार्य की दशश्लोकी का व्याख्यान ग्रन्थ है। सिद्धान्त बिन्दु पर गौडब्रह्मानन्द कृत न्यायरत्नावली, नारायण तीर्थ कृत लघुव्याख्या तथा अभ्यंकरशास्त्रिकृत बिन्दुप्रपात नामक टीकाएं मिलती है। आचार्य मधुसूदन की रचनाओं में सर्वप्रसिद्ध रचना "अद्वैतसिद्धि है इसमें माध्यसिद्धान्त का खण्डन करके अद्वैत सिद्धान्त को परिष्कृत नैयायिक शैली से प्रतिष्ठापित किया गया है। वेदान्तकल्पलतिका में मुक्ति के स्वरूप का पर्यालोचन किया गया है। नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य तथा वेंकटनाथ के शिष्य धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत (1550 ई0) वेदान्तपरिभाषा नामक वेदान्तदर्शन का लब्धप्ररता ग्रन्थ है। इस पर उनके पुत्र रामकृष्णाध्वरीन्द्र की वेदान्त शिखामणि तथा उस पर अमरदास की "मणिप्रभा" नामक टीका है। गोविन्दानन्द की रत्नप्रभा, प्रकाशानन्द की सिद्धान्त मुक्तावली, लक्ष्मीधर का अद्वैतमकरन्द आदि ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के अक्षयनिधि हैं। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये । यद्यपि ये ग्रन्थ एक ही अद्वैत

सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं तथापि सभी की विषय आकलन की अपनी निजी एवं स्वतन्त्रशैली, तथा सभी विषय के प्रति अपनी विशिष्ट दृष्टि का परिचय देते हैं।

*****

द्वितीय अध्याय

'प्रकृति का स्वरूप'

जगत् की प्रत्येक घटना कारण कार्य श्रृंखला में बद्ध है। इसी तार्किक प्रक्रिया का आश्रय लेकर जगत् के उपादान कारण के विषय में अनेक मत उपस्थित होते हैं। कोई स्वभावतः, कोई परमाणुओं से, कोई अचेतन प्रधान से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं । मानव बुद्धि की सीमाएं सत्य को पूर्णरूपेण जानने में असमर्थ है। अतः तर्क के आधार पर सदैव उचित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है । श्रुतियों में उक्त तथ्य के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं –

श्रुतियां एवं स्मृतियां असत् से सत् की उत्पत्ति का निषेध करती हैं – कथमसतः सज्जायेत[1] एवं नासतो विद्यते भावः[2] इत्यादि। श्रुति नानात्व का निषेध करती हैं – 'नेह–नानास्ति किञ्चन्[3] सदेव सोम्यमिदं अग्रासीत एकमेव अद्वितीयं'।[4] निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जगत् का कारण कोई एक सत् तत्त्व है। नानात्व या अनेकत्व सत्य नहीं है। यदि अद्वितीय सत् ही जगत् का कारण है, उसके अतिरिक्त कुछ भी सत् नहीं है तो – अनुभव मूलक अनेकत्व क्या असत्य हो जाएगा ? अनुभव का विरोध नहीं किया जा सकता है । अतः संसार में विद्यमान पदार्थों के कम से कम दो विभाग अवश्य करने पड़ेंगे क्योंकि जड संसार का कारण चेतन नहीं हो सकता । चेतन आत्मा को चेतन ब्रह्म के अन्दर समाहित किया जा सकता हे किन्तु अचेतन संसार का कारण चेतन

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 6/2/2
2. गीता 2/16
3. बृहदारण्यक उपनिषद् 4/4/19
4. छान्दोग्योपनिषद् 6/2/5

ब्रह्म को मानने में अनेक दोष आते हैं। सभी उपनिषद् इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र जीवन का स्रोत है। अनेकता उसी ब्रह्म में पिरोई हुई है किन्तु एकता और अनेकता के सह-अस्तित्व की समस्या का समाधान उपनिषद् उपमाओं एवं संकेतों के माध्यम से देते हैं।[1] श्रुतियों की सांकेतिक भाषा को दार्शनिकों ने जिस-जिस रूप में समझा, उसी रूप में जगद्कारण की विवेचना की । प्रस्तुत अध्याय में सांख्य एवं शांकर अद्वैत दर्शन में वर्णित जगत् की कारणभूता प्रकृति के स्वरूप के विषय में तुलनात्मक अध्ययन किया जा रहा है ।

कोई भी कार्य शून्य अथवा असत् से उत्पन्न नहीं होता बल्कि अपने उपादानकारण का ग्रहण करके या उससे सम्बद्ध होकर ही उत्पन्न होता है । उपादानकारण वह है जो अपने समान पदार्थ को उत्पन्न करे - स्वाभिन्नकार्यजनकत्वम् उपादानत्वम् । समस्त जागतिक वस्तुएं नश्वर हैं। अतः इनका कारण कोई ऐसा तत्त्व होना चाहिए जिसमें ये कार्य आविर्भूत एवं तिरोभूत होते हों । महाभारत में भी कहा गया है - जिससे जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसी में लीन होते हैं।[2] सांख्यमत में वह कारण अव्यक्त अर्थात् प्रधान या

---

1. The Upnisads are decisive about the principal that the Brahman is the sole source of life, in all that lives, the single thread binding the whole plurality to a single unity. When the problem of the co-existence of the plurality and unity is taken up the Upnisads speak in language of similes and symbols.
   Dr. Radha Krishna - Indian Philosophy, Vol. I, P. 183.

2 महाभारत शान्तिपूर्व (12/294/31,32) यस्माद्यदभिजायेत तत्तत्रैव प्रलीयते ।

प्रकृति है। शंकराचार्य के अनुसार आकाशादि प्रपंच रूप कार्य का कारण परमेश्वर है[1] किन्तु निर्गुण, निष्क्रिय, कूटस्थ, निर्विकार ब्रह्म प्रकृति शक्ति के बिना स्रष्टा नहीं सिद्ध हो सकता है। श्रुतियों में आत्मा से आकाशादि की उत्पत्ति जो कही गई है, उस विषय में शंकराचार्य कहते हैं कि माया शक्ति से सम्पन्न ईश्वर ही जगत् का कारण सिद्ध होता है – परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते, न स्वतन्त्रा । सा चावश्याभ्युपगन्तव्या"।[2] अतः परमेश्वर की माया शक्ति से सत्–असत् विलक्षण अनिर्वचनीय नामरूप प्रपंच की उत्पत्ति होती है।[3]

सत्कार्यवाद– जगत् रूप प्रपंच की उत्पत्ति का कारण दोनों ही दर्शनों में स्वीकार किया गयाहै किन्तु प्रकृति के अस्तित्व विषयक मतभेद के कारण दोनों में अन्तर हो जाता है । सांख्य में प्रकृति के अस्तित्व को दृढ़ता के साथ स्वीकार किया गया है यथा – नाऽवस्तुनोवस्तुसिद्धिः[4] अर्थात् अवस्तु से वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती । जगत् रूप प्रपंच का कारण प्रकृति वस्तुतः सत् है, अस्तित्ववान् है। इस प्रसंग में सत्कार्यवाद का विवेचन अति आवश्यक है। सत्कार्यवाद का अर्थ है – उत्पत्ति से पूर्व कार्य सत् है। यदि कार्य असत् हो तो प्रयत्न करने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती यथा – न हि नीलं शिल्पि सहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते।[5] शांकरमत में भी सत्कार्यवाद स्वीकृत है। आचार्य शंकर कहते हैं कि कार्य, कारण से अनन्य है। जब कारण सत् है तो

---

1. कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपंचम् जगत् कारणं परं ब्रह्म। ब्र0सू0शां0 भा0 2/1/14 एवं तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः (तै0 उ0 2/1)
2. 1/4/3, ब्र0सू0शां0भा0
3. ब्र0सू0 शां0 भा0 2/1/14
4. सांख्यसूत्र 1/78, 1/4
5. तत्त्वकौमुदी, पृ0 93 चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

कार्य असत् कैसे हो सकता है ? यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्तत् उत्पद्यते, यथा सिकताभ्यस्तैलम् । तस्मात्प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वादुत्पन्नमप्यनन्यदेव कारणात्कार्यमित्यव–गम्यते।[1] सांख्य सिद्धान्त का आधार ही सत्कार्यवाद है। सांख्यकारिकाकार सत्कार्यवाद का प्रतिपादन निम्नलिखित कारिका में इस प्रकार से करते हैं –

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्।।[2]

अर्थात् कारण व्यापार के पूर्व भी कार्य सत् है क्योंकि –

1. असत् होने पर कार्य की उत्पत्ति असम्भव हो जाएगी यथा – शशश्रृंग; खकुसुम इत्यादि अत्यन्त असत् की उत्पत्ति नहीं देखी जाती ।

2 कार्य अपने उपादान का ग्रहण करके ही उत्पन्न होता हे अर्थात् कार्य अपने उपादानकारण से नियत रूप से सम्बन्धित होता है। इस तर्क को और स्पष्ट करने के लिए अन्य तर्क दिए जाते हैं –

3 सभी कारण से सभी कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं । जो जिससे सम्बन्धित होता है (कारण–कार्यरूप से), वह उसी से उत्पन्न होता है ।

4. समर्थ कारण ही कार्य को उत्पन्न करता है। यदि ऐसा न हो, तो सभी कारण से सभी कार्य उत्पन्न हो जाते, यथा – जब दही बनेगा तब दुग्ध का ग्रहण करके ही, तिलादि अन्य वस्तुओं से नहीं क्योंकि दुग्ध ही दधि को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है।

---

1 वेदान्तसूत्र शांकरभाष्य 2/1/16–17

2 सांख्यकारिका – 9

5 कार्य, कारण की व्यक्तावस्था है और कारण, कार्य की सूक्ष्य या अव्यक्तावस्था है जैसे – पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है।[1] तन्तुओं की ही अवस्था विशेष पट है। दो पदार्थ जो एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न होते हैं उनमें इस प्रकार का उपादानोपदेयभाव होता ही नहीं, जैसे – घट और पट में । वट वृक्ष में वट बीज कारण है और विशालवृक्ष उसका कार्य है । विशालवृक्ष की अव्यक्तावस्था या बीजावस्था वटबीज है ।

विज्ञानभिक्षु इस विषय में कहते हैं कि यह समस्त प्रपंच अपने कारण प्रकृति में उसी प्रकार सूक्ष्मरूप से रहता है, जैसे – शिला के अन्दर चक्र, पद्मादि रेखाएं पहले से ही विद्यमान रहती हैं, जिन्हें शिल्पि विभिन्न साधनों से बाह्याकार प्रदान करने का निमित्त बनता है। शांकरमतानुयायी भामतीकार कहते है कि महाप्रलयावस्था में यह समस्त प्रपंच अविद्या में लीन हो जाता है और समय आने पर पुनरूद्बुद्ध होता है।[2] 'नैवेह किंचनाग्र आसीत्' एवं 'मृत्युनैवेदमावृत्तमासीत् इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति का आशय स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जिसके द्वारा आवृत्त था, वह कारण एवं जो आवृत्त था वह कार्य था । इस प्रकार सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व दोनों ही विद्यमान थे।[3] सत्कार्यवाद के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि दोनों के ही मत में उत्पत्ति से पूर्व कार्य सत् माना गया है। कार्य के अस्तित्व के सम्बन्ध में दोनों ही दर्शनों में भिन्न–भिन्न मत हैं। सांख्यमत में जगत् रूप कार्य प्रकृति का वास्तविक विकार

---

1 न हि कारणाभ्दिन्नं एवं न पटस्तन्तुभ्यो भिद्यते (सांख्यकारिका–9) तत्त्वकौमुदी ।

2 भामती – 1/3/30, एवं ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य – 2/1/16, 17, 18, 19, 20 तथा 2/1/6, 7, 14, 15

3 बृहदारण्यक एक समीक्षात्मक अध्ययन पृ0 85
डा0 रघुवंश झा, किशोर विद्या निकेतन, वाराणसी, 1984

है क्योंकि तत्त्वान्तर का आरम्भक होना ही प्रकृति का प्रकृतित्व है।[1] इसके विपरीत आचार्य शंकर के मत में जगत् रूप कार्य ब्रह्म के तात्त्विक परिवर्तन का रूप नहीं है बल्कि जगत्, ब्रह्म का विवर्त है।

परिणामवाद एवं विवर्त्तवाद

वेदान्त परिभाषाकार ने परिणामवाद एवं विवर्त्तवाद को इस प्रकार परिभाषित किया है –

परिणामो नाम उपादान समसत्ताककार्यापत्तिः ।
विवर्त्तो नाम उपादान विषमसत्ताककार्यापत्तिः।।[2]

अर्थात् जहां कारण के समान कार्य भी वास्तविक सत्ता रखता है वहां परिणामवाद होता है और विवर्त्तवाद उसे कहते है जहां कारण के सदृश कार्य की यथार्थ सत्ता नहीं होती । वेदान्तसार में परिणामवाद एवं विवर्त्तवाद को इस प्रकार परिभाषित किया गया है –

स तत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः ।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः ।।[3]

सिद्धान्तलेशसंग्रहकार के अनुसार –

"कारण सलक्षणोऽन्यथाभावः परिणामः तद्विलक्षणो विवर्त्तः"।[4]

सांख्यदर्शन के अनुसार जिस प्रकार दुग्ध का परिणाम दधि या घृत है, उसी प्रकार जगत् प्रकृति का विकार है। प्रकृति कारण है, जगत् उसका परिणाम या

---

1 भावागणेश विरचित सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्
सांख्यसंग्रहः चौ0 सं0 सीरीज, वाराणसी, द्वितीय संस्करण

2. वेदान्त परिभाषा, पृ0 141, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1154

3 पृ0 154, पीयूष प्रकाशन, 1983

4 सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ0 58

विकार। दोनों ही सत् हैं। वेदान्तमत में जगत ब्रह्मरूप वस्तु का विवर्त्त है जैसे रज्जु का विवर्त्त सर्प, रज्जुमात्र ही होता है रज्जु से भिन्न नहीं होता। उसी प्रकार ब्रह्मरूप वस्तु का विवर्त्त नानारूपात्मक जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है । विवर्त्त का धात्वर्थ है – उलट जाना या विपर्यास। ब्रह्म वह है जिसका विवर्त्त या विपर्यास देशकालादि बद्ध यह जगत् है।[1] वस्तुतः शंकराचार्य जगत् की सत्ता सम्बन्धी विचार दो दृष्टियों से करते हैं – जगत् को व्यावहारिक सत् की कोटि में रखते हैं,[2] जिसकी सत्ता संसारावस्था या अज्ञानावस्था तक ही रहती है। ब्रह्मज्ञान होते ही जगत् तुच्छ प्रतीत होने लगता है। ऐसी स्थिति में जगत को असत् नहीं कह सकते क्योंकि अज्ञानावस्था में उसकी प्रतीति हुई थी । असत् की प्रतीति कभी नहीं हुआ करती । सत् वह है जिसकी सत्ता त्रिकालाबाधित हो – "कालत्रयाबाध्यस्वरूपं सत्"। अबाध्य स्वरूप वाला तत्त्व ब्रह्मातिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता । जिस प्रकार शुक्ति में रजत की प्रतीति अज्ञानवश होती है और शुक्ति ज्ञान से रजत की प्रतीति बाधित हो जाती है, उसी प्रकार अविद्यावश जीव, ब्रह्मरूप अधिष्ठान में नानारूप जगत् को देखता है।[3] पारमार्थिकदृष्टि से अर्थात् ब्रह्मज्ञान के अनन्तर जगत् सत् नहीं रह जाता उसकी सत्ता केवल व्यवहारकाल तक ही है। पारमार्थिकदृष्टि प्राप्त होने पर ज्ञानी को जगत् की नश्वरता का ज्ञान हो जाता है और जगत् तुच्छ प्रतीत होने लगता है। जगत् रूप कार्य के स्वरूप का उपर्युक्त विवेचन करने का यही अभिप्राय है कि यदि कार्य की प्रतीति किसी न किसी रूप में होती है तो उसका कारण अवश्य ही होना चाहिए और यह कारण सांख्यमत में अचेतन

---

1 भारतीय दर्शन – 2, पृ0 496

2 व्यवहारकालमात्राबाध्यस्वरूपवत् व्यावहारिकं यथा वियदादि प्रपंच। 2/1/14, ब्र0 सू0 शां0 भा0

3 मायामात्रं ह्येतद्यत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मभावभासनं रज्जवा इव सर्पादिभावेनेति 2/1/9, ब्र0 सू0 शां0 भा0

प्रकृति है एवं वेदान्तमत में ब्रह्माश्रित प्रकृति है। सांख्य एवं अद्वैतमत में स्वीकृत प्रकृति की धारणा स्पष्ट करने के लिए अब उसकी स्वरूपगत विशिष्टताओं पर विचार किया जा रहा है ।

प्रकृति के विभिन्न नाम

सांख्यमत में अव्यक्त, जड़, दृश्य, प्रधान, तम अप्रतिबुद्ध, क्षर, क्षेत्र, अलिंग, गुणक्षोभिणी बहुधानक; प्रसवधर्मिणी, शक्ति, अजा, माया, अविद्या अविवेकी, त्रिगुणात्मिका, भोग्य, अचेतन तत्त्व, बीजशक्ति, मूलोपादान इत्यादि को प्रकृति का पर्यावाची कहा गया है ।

अद्वैतमत में प्रकृति को ब्रह्माश्रित अथवा ब्रह्म की शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। अद्वैतवादी अविद्या, अज्ञान अध्यास, अध्यारोप, अनिर्वचनीय, विवर्त्त, भ्रान्ति, भ्रम, नामरूप, अव्यक्त, अक्षर, आकाश, बीजशक्ति, मूल प्रकृति, तम और माया इत्यादि नामों से प्रकृति को व्यवहृत करते है।[1] महाभारत (के शान्ति पर्व) में इसे स्वभावतः अज्ञ होने के कारण अप्रतिबुद्ध कहा गया है।[2] "अव्यक्तस्तु न जानीते पुरूषो ज्ञ स्वभावतः" (महाभारत 12/303/4) विकारशील, अचेतन व जड होने के कारण ही सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थ में इसे विषय, प्रसवधर्मी एवं अविवेकी कहा गया है –

---

1. 'A Critical Survey of Indian Philosophy' Dr. C.D. Sharma, Delhi.

2 महाभारत (20/6/4)

"त्रिगुणमवितेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि"[1]

"जडा च परदृश्यत्वात् घटदीपवन्मता"।[2]

विचित्र सृष्टि कर्त्री होने के कारण इसे माया शक्ति कहते हैं –

"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्"[3]

इसे प्रकृति इस लिए कहा जाता है क्योंकि यह सम्पूर्ण विकारो की उपादानकारण है। विकारों का यह उपादानकारणत्व ही प्रकृति का प्रकृतित्व है – तत्त्वान्तरारम्भकत्वं प्रकृतित्वमिति सामान्यलक्षणं।[4] शंकराचार्य इसे मायामयी एवं महासुषुप्ति कहते हैं जिसमें स्वरूपज्ञान से रहित संसारीजीव शयन करते हैं।[5] इसे मायावी परमेश्वर की शक्ति कहा गया है जो उसे स्पर्श न करते हुए जीवों को भ्रमित करती है।

प्रकृति की सत्ता

जैसा कि पूर्व विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि जगत् का उपादान कारण प्रकृति सत् है। उसकी सत्ता चेतनतत्त्व के समानान्तर स्वीकार की गई है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि प्रधान क्षर है और अविनाशी अमृत, इन दोनों का एक ही देव नियमन करता[6] है। यहां प्रधान का अर्थ

---

1 सांख्यकारिका – 11

2. सांख्यसारः 1/3/10, पंचोली पुस्तकमाला, दिल्ली, प्रथम संस्करण

3 4/9 श्वेता0

4. भावागणेश कृत तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम् सांख्यसंग्रहः चौ0 सं0 सीरीज वाराणसी, द्वितीय संस्करण

5 ब्र0 सू0 शां0 भा0 2/1/9

6. श्वेता0 1/10

प्रकृति है। इसी उपनिषद् में कहा गया है – जगत् कारण की मीमांसा करते हुए ब्रह्मवादियों ने जिस मायाशक्ति का साक्षात्कार किया वह देव की आत्मभूता शक्ति[1] है। ब्रह्म की शक्ति माया, प्रकृति और मायावी अर्थात् माया का स्वामी महेश्वर है।[2] अजामेकां0 इत्यादि मन्त्र से त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ही निर्देश किया गयाहै। इस उपनिषद् में प्रकृति या मायाशक्ति को कहीं भी तुच्छ या मिथ्या नहीं कहा गया है। इसकी सत्ता परमेश्वराधीन अवश्य स्वीकार की गई है। महाभारत में सांख्य का अनेकशः वर्णन हुआ है। महाभारत में प्रकृति को सत्स्वरूपा विषयों को उत्पन्न करने वाली कहा गया है किन्तु यह क्षेत्रज्ञ अर्थात् ईश्वर के द्वारा अधिष्ठित कही गई है। ईश्वर उदासीन भाव से इसका साक्षी बनता है।[3] दोनों ही प्रकृति और जीव, अनादि, अनन्त और तत्त्व कहकर व्याख्यात किए गए हैं।[4] दोनों ही सूक्ष्म किन्तु पृथक हैं। एक दृश्य है, दूसरा दृष्टा है।[5] गीता में जगत् के उपादान कारण प्रकृति एवं जगन्निमित्त के रूप में पुरूष का वर्णन हुआ है। प्रकृति ब्रह्म की ही मायाशक्ति है। क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ विचार के अन्तर्गत प्रकृति–पुरूष का विवेचन चेतन–अचेतन, तमः–प्रकाश और विकारी–अविकारी रूप में हुआ है।[6] जीव–प्रकृति एवं जड–प्रकृति दोनों ही परब्रह्म के अन्तर्गत समाहित हैं। गीता में प्रकृति–पुरूष दोनों को ही अनादि कहा गया है। इस प्रकार श्रुति, महाभारत और गीता में प्रकृति को कहीं भी तुच्छ या मिथ्या नहीं कहा गया है। योगसूत्र में कारणरूप प्रकृति को नित्य कहा गया है –

---

1 1/3 वही 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'.

2. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्, 4/10, वही।

3 12/241/1, 12/290/109, 110, 12/291/40

4 12/295/2, 12

5 12/240/21, 22

6 अध्याय – 13

निःसत्ताऽसत्तं चालिंगपरिणाम इति। अलिंगावस्थायां न पुरूषार्थो हेतुः। नालिंगावस्थायामादौ पुरूषार्थता कारणं भवतीति न तस्याः पुरूषार्थता कारणं भवति। नासौ पुरूषार्थकृतेति नित्याख्यायते।[1] अभिप्राय यह है कि कारण रूप प्रकृति नित्य है। यह प्रकृति अभिव्यक्ति से रहित किन्तु भावरूप है। पुरूष और प्रकृति की नित्यता में अन्तर है – "कूटस्थ नित्यत्वादि पारमार्थिकं सत् .. तच्च सत्त्वं प्रधाने नास्ति"[2] अर्थात् पुरूष कूटस्थ नित्य है और प्रकृति कूटस्थ नित्य नहीं है। प्रकृति परिणामिनित्य है। परिणामिनित्य का अर्थ है – प्रकृति महदादि तत्त्वान्तर की आरम्भक होते हुए भी नित्य है। महदादि विकारों के रूप में निरन्तर परिणमित होती रहती है। इससे प्रकृति की नित्यता में कोई क्षति नहीं आती, जैसे – मृतिका से कितने ही घट क्यों न बना लिए जाएँ, फिर भी उसमें (मृतिका) कोई कमी नहीं आने पाती। इस प्रकार प्रकृति निरन्तर परिणाम को प्राप्त करते हुए भी नित्य है। सांख्यकारिका में सत्कार्यवाद के आधार पर जड जगत् का उपादान एक, जड, अनाश्रित, अलिंग और नित्य प्रकृति को कहा गया है।[3] माठरवृत्ति में कहा गया है – "अहेतुमान्नित्यो व्यापी निष्क्रिय एकोऽनाश्रितोऽलिंगो निरवयवः" इति।[4] प्रकृति का निरवयव, अनाश्रित, अलिंग एवं व्यापी होना उसके स्वतन्त्र

---

1 योगसूत्र 2/19, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, द्वितीय संस्करण ।

2. योगवार्तिक, पृ0 205

तथा च नात्यन्तनित्यो येन चितिशक्तिवत् कूटस्थनित्या स्यात् किन्तु कथञ्चिन्नित्यः तथा च परिणामि इति सिद्धम्। पृ0 300, तत्त्ववैशारदी उद्धृत पातंजलयोगदर्शनम् (पृ0 351 फुटनोट) चौ0 सुरभारती प्रकाशन, 1988

3 सांख्यकारिका – 11

4 माठरवृत्ति – 15वीं एवं 16वीं कारिका ।

बुटाला एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1981

अस्तित्व का द्योतक है। सांख्यसूत्र में भी कहा गया है कि प्रकृति का वास्तविक सृष्टृत्व मानने पर ही पुरूष में अध्यास सिद्ध होता है । यहां प्रसंगतः 'अध्यास' की संक्षिप्त चर्चा की जा रही है ।

प्रकृति और अध्यास

अध्यास एक ऐसी भ्रान्ति है जो पुरूष को अपने स्वरूपज्ञान से वंचित रखती है और पुरूष, प्रकृति के साथ अपना तादाम्य इस प्रकार स्थापित कर लेता है कि जड बुद्धि इत्यादि को अपना स्वरूप समझाने लगता है । अध्यास दोनों ही मतों में (सांख्यदर्शन एवं अद्वैतदर्शन) पुरूष के बन्धन में मुख्य भूमिका अदा करता है। सांख्यमत में गुण अत्यन्त असत् नहीं हैं। भावरूप नित्य एवं सत् हैं। यदि प्रकृति असत् हो जाए तो अध्यास सम्भव ही नहीं है। अध्यास चेतन में अचेतन और अचेतन प्रकृति में चेतन की प्रतीति रूप भ्रम या भ्रान्ति है। प्रकृति की सत्ता वास्तविक न हो तो परस्पर अध्यास सम्भव नहीं हो सकता।[1] दोनों को स्वतन्त्र रूप में भिन्न-भिन्न समझ पाना ही विवेकज्ञान है इसलिए प्रपंच का (उपादानकरण) कारण प्रकृति अवस्तुरूप नहीं हो सकती।[2]

शांकरमत में अध्यास :

शंकर के अनुसार – 'अध्यासो नाम अतस्मिंतद्बुद्धि'[3] अर्थात् अतद् में तद् बुद्धि अध्यास है। शंकराचार्य के अनुसार सांख्यमत् ही अध्यास भ्रम है, अविद्यात्मक है। ब्रह्मसूत्र की भूमिका में ही शंकराचार्य अध्यास का स्वरूप इस

---

1 प्रकृतिवास्तवे च पुरूषस्याध्यास सिद्धिः ।
(2/5) सांख्यसूत्र एवं इस पर प्रवचनभाष्य

2 नाऽवस्तुनो वस्तुसिद्धिः (सांख्यसूत्र 1/78)

3 शांकरभाष्य ब्रह्मसूत्र, अध्यास विवेचन

प्रकार निरूपित करते हैं – 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः अर्थात् ऐसा भास या प्रतीति जिसका उत्तरकाल में प्रत्ययान्तर से बाध हो जाए।[1] अध्यास के इस लक्षण में 'परम अवभासः' इतना ही अध्यास का लक्षण है स्मृतिरूप और पूर्वदृष्ट ये दोनों पद अध्यास के साधक हैं। परत्र अर्थात् अन्य में (अधिष्ठान) स्मृतिरूप पूर्वानुभूत वस्तु की अवभास या प्रतीति अध्यास है। अध्यास के लिए वस्तु का पूर्वदृष्ट होना ही उपयोगी है उसका सत् होना नहीं, किन्तु आरोप के विषय का सत्यत्व आवश्यक है। निरधिष्ठान अध्यास असंभव है।[2] परत्र अर्थात् चिदात्मरूप अधिष्ठान में यह सम्पूर्ण प्रपंच अध्यस्त है। यह प्रपंच अनादिकाल से बीजांकुरवत् प्रवाह रूप से चला आ रहा है । मिथ्यारूप होने पर भी पूर्व–पूर्व अध्यास जन्य संस्कार के अनुभव स्मृतिरूप होकर अन्तःकरण में नूतन अनुभव को उत्पन्न करते हैं। अध्यास दो सत् वस्तुओं के मध्य ही हो यह आवश्यक नहीं । जैसे – द्विचन्द्रदर्शन में अध्यास दो वस्तुओं के बीच नहीं होता बल्कि अंगुली आदि उपाधि के कारण से होता है। जीव अज्ञानवश मायाशक्ति के अधीन होकर ब्रह्मरूप अधिष्ठान पर नानारूप प्रपंच का आरोपण कर लेता है । शरीरादि में आत्माभिमान, इन्द्रियों में आत्माभिमान अर्थात् जड में चेतन का भ्रम और चेतन के धर्म ज्ञानादि का अचेतन में अध्यास होता है । यहां अनात्मतत्त्व, आत्मतत्त्व के सदृश सत् नहीं है क्योंकि सत् का बाध आत्मज्ञान से हो जाता है ।

सांख्यमत में अधिष्ठान और आरोप दोनों ही सत् हैं। शुक्ति में प्रतीत होने वाला रजत शुक्तिज्ञान से बाधित हो जाता है किन्तु हाटस्थ रजत सत् ही है। इसी प्रकार प्रकृति का स्वरूपतः बाध नहीं होता क्योंकि वह सत् है। चेतन के धर्मों का अचेतन में जो भ्रम होता है केवल उसी भ्रान्ति की निवृत्ति

---

1 भामती, पृ0 11 मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1988
अवसन्नोऽवमतो वा भासः अवभासः

2 न क्वचिन्निरधिष्ठानोऽध्यासः (पंचपादिका) पृ0 68

शांकर
होती है। अतः यहां कल्पित तादात्म्यसम्बन्ध का ही हान होता है ।/ अद्वैतमत में आत्मज्ञान से प्रकृति एवं तज्जन्य कार्य की सत्यता बाधित हो जाती है। सम्पूर्ण प्रपंच ब्रह्म में उसी प्रकार अधिष्ठित हो जाता है जैसे रज्जुस्थित सर्प, रज्जुज्ञान होने के पश्चात् रज्जु के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता । अविद्या के नाश से उसके कार्य अन्तःकरण आदि का भी ध्वंस तत्काल हो जाता है। अध्यास विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है –

1 अध्यास ही 'मम', 'इदं' आदि अभिमान का कारण है ।

2 अध्यास के समय अज्ञान या अविद्या विद्यमान रहती है ।

3 इसी समय आत्मानात्म धर्मों का परस्पर अध्यास होता है ।

4 शांकरमत में अनात्मवस्तु की सत्ता वास्तविक न होने पर भी अध्यास संभव है । सांख्यमत में प्रकृति की सत्ता है क्योंकि जब तक जगत् का मूल कारण वस्तुरूप न हो, तब तक प्रत्यक्ष दिखने वाला यह प्रपंचरूप कार्य सिद्ध नहीं हो सकेगा।[1]

<u>शांकरमत में प्रकृति सत्–असत् विलक्षण है</u> –

अध्यास के संक्षिप्त विवेचन में अनात्मतत्त्व की चर्चा की गई है। किन्तु प्रकृति की सत्ता का स्पष्ट चित्रांकन नहीं हो पाया । अतः प्रस्तुत है, अद्वैतमत में प्रकृति की सत्ता – अद्वैतवादी प्रकृति को महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा कहते हैं। इसे सत् नहीं माना जा सकता क्योंकि सत् का कभी विनाश नहीं होता (ऐसी स्थिति में द्वैतापत्ति होगी)। असत् या अवस्तुरूप मानने पर यह शशविषाणवत् कपोलकल्पित हो जाएगी । इसे सदसत् उभयरूप भी नहीं कह

---

1 एवं कार्यस्तत्सिद्धेः (सांख्यसूत्र 2/6) भावे तद्योगेनतत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः – सांख्यसूत्र 1/180

सकते और न ही सदसत् भिन्नरूप क्योंकि ऐसे किसी भी तत्त्व की प्रतीति संसार में नहीं होती।[1] इसका विचार भिन्न–भिन्न दृष्टियों से किया जाता है–

1 व्यावहारिक दृष्टि – इस दृष्टि से अज्ञानियों को यह सत् प्रतीत होती है इसलिए शंकर ने संसारावस्था में इसे सत् माना है ।

2 पारमार्थिक दृष्टि – परमार्थतः ब्रह्म ही सत् है। ब्रह्मज्ञान के अनन्तर सब कुछ तुच्छ या मिथ्या ही सिद्ध होता है। तत्त्वज्ञान के पश्चात् द्वैत नहीं रह जाता इसलिए उस अवस्था में प्रकृति (माया) की सत्यता का निषेध पूर्णत. नहीं किया जा सकता क्योंकि उसकी प्रतीति संसारावस्था में होती है।[2] ऐसी स्थिति में उसे सदसत् विलक्षण अनिर्वचनीय कहना उचित ही है ।

"अव्यक्तं हि सा माया तत्त्वान्यत्व निरूपणस्यऽशक्यत्वात्"[3]

भामतीकार के अनुसार[4]

"अनिर्वाच्याऽविद्या"

"ब्रह्मणस्त्वियमविद्याशक्तिर्मायादिशब्दवाच्या न शक्त्या तत्त्वेनान्यत्वेन वा निर्क्क्तुम"[5]

---

1. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।
संगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो,
महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा ।। विवेकचूड़ाणि (111)
एवं भामती – अनिर्वाच्याऽविद्या, उपोद्धातः और अव्यक्तं हि सा मायातत्त्वान्यत्वनिरूपणस्यऽशक्यत्वात् । ब्र0सू0 शां0 भा0 (1/4/3)

2. यदि माया असत् हो तो उसकी प्रतीति ही नहीं होनी चाहिए ।

3. ब्र0सू0 शां0 भा0 1/4/3

4 उपोद्धातः, परिमल प्रकाशन 1981

5. भामती, अनुमानाधिकरण

विवरणकार प्रकाशात्मा ने अविद्या की अनिर्वचनीयता का समर्थन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार शुक्ति में प्रतीत होने वाला रजत मिथ्या एवं अनिवर्चनीय है तथा यह अविद्योपादानक है, उसी प्रकार जगत् भी मिथ्या एवं अनिर्वचनीय है। वार्तिककार इसकी विलक्षणता को ही इसकी विशिष्टिता कहते हैं।[1] पंचदशीकार के मत में लौकिक दृष्टि से यह अज्ञान सत् है, युक्ति पूर्वक विचार करने पर अनिर्वचनीय लगता है और आत्मज्ञान हो जाने पर यह तुच्छ या निःसार . है।

"नासदासीद्विभावत्वान्नोसदासीच्च बाधनात् ।
विद्या दृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः" ।

एवं तुच्छानिर्वचनीय च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः"।।[2]

स्वतन्त्र सत्ता से रहित, मिथ्या, तुच्छ वेदान्त प्रतिपादित प्रकृति को कोई अभाव रूप न समझ ले, इसलिए वेदान्त दर्शन में इसे भावरूप कहा गया है । इसके भावरूप होने में निम्नलिखित प्रमाण है –

1. यदि यह अभाव रूप होती तो इसकी निवृत्ति का प्रश्न ही न उठता । विद्या अथवा ज्ञान से इसकी निवृत्ति देखी जाती है ।

2. कालत्रयानपायित्व इसमें नहीं है इसलिए इसे वस्तुसत् नहीं कहा जा सकता।[3] दासगुप्त के अनुसार अद्वैतसिद्धि के लिए इसका मिथ्यात्व

---

1. बृ0 भा0 वा0 1/4/217, 332, 333, 444, 1170
2. 6/129, 130 पंचदशी
3. नासदासीद्विभावत्वान्नोसदासीच्च बाधनात् ।
(6/129 पंचदशी)

प्रतिपादन करना आवश्यक है नहीं तो दो सत्ताएं स्वीकार करनी पड़ेगी।[1] इसे भावरूप कहने का अभिप्राय है – कि यह अभाव से विलक्षण है। इसकी भावरूपता शाश्वत नहीं है क्योंकि जब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता, तभी तक इसकी भावरूपता है। चूंकि सदसत् किसी भी प्रकार इसका निरूपण करना असम्भव है इसलिए वेदान्तसार के कर्त्ता ने इसको 'यत्किंचित्' कहा है।[2] समस्त प्रपंच के कारण की भावरूपता श्रुति–स्मृति में भी कही गई है। यह समस्त प्रपंच तमोभूत, अज्ञात, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय, सर्वतः प्रसुप्त सा था, किन्तु उस समय भी वह एक तत्त्व (ब्रह्म) अपनी शक्ति से बिना वायु के श्वास ले रहा था।[3] सृष्टि सूक्त के इस मन्त्र में जो शक्ति की बात कही गयी है अद्वैत वेदान्तमत में यह शक्ति ही प्रकृति शब्द वाच्य है। शक्तिमान् के आधार पर ही शक्ति का कथन किया जाता है। दोनों एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं।[4] अत. सृष्टि के पूर्व भी प्रकृति या माया अथवा ब्रह्म की शक्ति का अस्तित्व था किन्तु स्वतन्त्र रूप से नहीं । वाचस्पति मिश्र ने अज्ञान या अविद्या की भावरूपता स्वीकार करते हुए यह कहा है – महाप्रलय के समय अन्तःकरणादि स्वकारणभूत अनादि अविद्या में सूक्ष्म रूप से अवस्थित रहते हैं। सृष्टिकाल में पुनः उसी प्रकार आविर्भूत होते हैं जैसे – वर्षा ऋतु की समाप्ति पर मण्डूक के शरीर मृदभाव

1- History of Indian Philosophy, Vol. I, P. 444

2 वेदान्तसार

3 अनीदवातं स्वधया तदेकं (10/129/2) ऋक् सूक्त संग्रह
वैदिक संशोधन मण्डल, पूना

3. शक्तिकार्यं तू नैवास्ति द्वितीयं शक्यते कथम्। पंचदशी – 2/53
संस्कृति संस्थान, बरेली, द्वितीय संस्करण

को प्राप्त होकर जहाँ-तहाँ पड़े रहते हैं। वर्षा होने पर पुनः विकसित होते हैं या जैसे कूर्म के देह में निलीन अंग उससे निःसृत होते हैं।[1] वेदकल्पतरूकार ने कहा है कि वाचस्पति को अविद्या की भावरूपता स्पष्ट रूप से मान्य है।[2] अविद्या को वे भ्रम या भ्रम के संस्कार से सर्वथा भिन्न मानते हैं। विवरणकार ने अज्ञान की भावरूपता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध की है। मैं अज्ञ हूँ, मैं अपने को और दूसरे को नहीं जानता"[3] इस प्रत्यक्ष प्रतीति से अज्ञान की भावरूपता सिद्ध होती है।[4]

सुरेश्वराचार्य कहते हैं प्रमाणों से ज्ञात न होना ही इसकी विलक्षणता है।[5] अविद्या को प्रमाण द्वारा जानने का प्रयत्न करना उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे. दीपक से गुफा के अन्तर्वर्ती घोर अन्धकार को देखने के लिए प्रयास करना है। दीपक की ज्योति अन्धकार को नष्ट कर देगी, दिखलायेगी नहीं, वैसे ही अविद्या, प्रमाण को प्रकाशित करने के बजाए उसे नष्ट कर देगी।[6] माया या प्रकृति को भावरूप मानना इसलिए आवश्यक है – (1) यह ज्ञान द्वारा निवर्त्य है। (2) जगद् भ्रम की व्याख्या बिना (भावरूप) प्रकृति के सम्भव नहीं है। यदि इसे भावरूप न मानें तो यह शशविषाणवत् असत् हो जाएगी फिर जगत् की रचना निर्गुण ब्रह्म अकेले नहीं कर सकता।

---

1 1/3/30

2 भावरूपामताऽविद्या स्फुटं वाचस्पतेरिह
अमलानन्द कृत वेदकल्पतरू, 1/3/30

3 'प्रत्यक्षतावत् अहमज्ञ मामन्य च न जानामि इत्यपरोक्षावभासदर्शनात्'
पंचपादिका का विवरण, पृ0 74

4. 'तस्मात्साक्ष्यनुभूतं यदज्ञानं भावरूपकं' बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकसार, पृ0 503

5 अतः प्रमाणतोऽशक्याऽविद्याऽस्येति निरीक्षतुं कीदृशी कुतो वाऽसावनुभूते कस्मतः

6 तै0 भा0 वा0,
२/177

इसके अस्तित्व के विषय में अनुभव इस प्रकार है – "मैं अज्ञानी हूँ" और श्रुति भी प्रमाण है – "उन ब्रह्मवेत्ताओं ने ध्यान–योग द्वारा सत्त्वादि गुणों से आलिंगित परमात्मदेव की आत्मभूता मायाशक्ति[1] का साक्षात्कार किया।

सी डी शर्मा के अनुसार –

"It is something positive. It is called positive in order to emphasize the fact it is not merely negative."[1]

सांख्यमत में प्रकृति सत् एवं भावरूप है –

सांख्य का आक्षेप यह है कि जगत् का मूल कारण वस्तु रूप होना चाहिए। वे अवस्तु और अभाव एवं वस्तु और भाव को समानार्थी मानते हैं।[3] शांकर अद्वैत की सांख्य से यही भिन्नता है। सांख्यानुसार/ जगत के कारण का सत् होना आवश्यक है – क्योंकि कार्य, कारण की अभिव्यक्त अवस्था है और कारण, कार्य की सूक्ष्म अवस्था है। प्रलयकाल में जब यह कार्य दृश्यमान नहीं होता, तब अपने कारण में सूक्ष्मतया स्थित रहता है। यह कारण शुद्ध चेतन तत्त्व तो हो नहीं सकता क्योंकि चेतन तत्त्व निर्गुण, निष्क्रिय, निर्विकार एवं कूटस्थ है। त्रिगुणात्मक (सुख, दुःख, मोहात्मक) जगत् के कारण को स्वतन्त्र एवं भावरूप मानना आवश्यक है।[4] यह कारण अतीन्द्रिय है[5] इसलिए महान् योगी पुरूष को

---

1. वेदान्तसार, पृ0 71, पीयूष प्रकाशन इलाहाबाद 1983

2. A Critical Survey of Indian Philosophy, p.274

3 अवस्तुनोऽभावान्न वस्तुसिद्धिः (1/78) सां0 प्र0 भा0 एवं भावे कारणस्य सद्रूपत्वे इत्यादि (1/80) वही ।

4 सांख्यसूत्र 1/74 एवं 75

5 सूक्ष्म अव्यक्त तत्त्व परमाणु आदिवत् सूक्ष्म नहीं है क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है। दैशिक-कालिक अवयव का न होना ही सूक्ष्मता का साधक है।

ही इसका प्रत्यक्ष होता है। योगी पुरूष बुद्धि के माध्यम से महदादि विकारों एवं अव्यक्त प्रकृति का पूर्णरूपेण साक्षात्कार करता है और पुरूष एवं अव्यक्त में विवेक करता है।[1] अभिप्राय यह है कि सूक्ष्मतम अव्यक्त तत्त्व वस्तुतः अस्तित्व रखता है तभी तो योगी को उसका साक्षात्कार होता है । श्रुति, स्मृति एवं पुराणों में जगत्कारण के रूप में प्रकृति की चर्चा की गई है –

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां ।

बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः।।[2]

प्रकृतिं पुरूषं चैव विद्वयनादि उभावपि।

विकारांश्च गुणांश्चैव, विद्धि प्रकृति सम्भवान्।।[3]

महाभारत में कहा गया है सर्ग और प्रलय धर्म वाला अव्यक्त ही अविद्या है। समस्त विकार प्राकृतिक हैं।[4] सत्त्वरजस् तमस् ये तीनों गुण कारणभूत प्रकृति से उत्पन्न होकर देवता, मनुष्यादि समस्त भूतों में समान रूप से निवास करते हैं।[5] कारण के भावरूप रहने पर ही उससे सम्बद्ध सद्रूप प्रपंच की सिद्धि हो सकती है क्योंकि अभाव से, सद्रूप प्रतीत होने वाले जगत् का सम्बन्ध असम्भव हो जाएगा।[6]

---

1 सां० का० 44 पर तत्त्वकौमुदी ।

2. श्वेताश्वतरो० 4/5, 4/9

3 गीता 13/19

4 12/307/2, 12/238/1

5. सांख्य में सत्त्व, रजस् व तमस् ये तीनों गुण प्रकृति रूप ही कहे गए हैं किन्तु यहां पर इन्हें प्रकृति से उत्पन्न कहा गया है। यदि हम गुणों का अर्थ महदादि विकार करें तो यह असंगति दूर हो सकती है।

6 सां० सूत्र (1/80)

सांख्यमत में असत् का अर्थ

सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थ में यदा–कदा प्रकृति को असत् कहा गया है[1] – 'परिणामित्वेन हि पुरूषापेक्षया प्रकृतिरसतीति' यहां असत् का अर्थ वेदान्त के समान नहीं है। बृहन्नारदीय एवं सौर वाक्यों को उद्धृत करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि इन वाक्यों में माया को जो सदसद् से विलक्षण, सनातनी मिथ्या कहा गया है।[2] उसका अर्थ है श्रुति वाक्यों से सिद्ध माया पुरूषवत् कूटस्थ सत् नहीं है क्योंकि विकारों से प्रतिक्षण उसका परिवर्तन होता रहता है। सृष्टि काल में परिणमनशील तो है ही प्रलयकाल में भी नित्य परिवर्तनशील है। सृष्टि में सदृश और प्रलय में विसदृश परिणाम होते रहते हैं – 'विकार जननी मायामष्टरूपामजां ध्रुवाम्'[3] अविद्या की कूटस्थ नित्य रूप पारमार्थिक सत्ता न होने पर भी घटादिवत् इसकी वास्तविक सत्ता है।[4] जड तत्त्व का असत्त्व सांख्य में यदि कहीं कहा गया है तो वह विकारत्वेन ही कहा गया है कारणत्वेन नहीं। विकार ही असत्त्व का द्योतक है –

'प्रकृत्यादिरसत् सर्वे जडार्थोऽब्धौ तरंगवत्'।[5]

महाभारत में कहा गया है सृष्टि–प्रलय प्रकृति से ही होते हैं इसलिए कारणत्वेन इसे अक्षर एवं विकारत्वेन इसे क्षर कहते हैं।[6]

---

1 सां० प्र० भा० (1/68)

2 नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका। सदसद्भ्यामनिर्वच्या मिथ्याभूत सनातनी (सौर वाक्य 11/29) इसी प्रकार बृहन्नारदीय वाक्य भी है।

3 चूलिको० – 3
नापि परमार्थसतीभवति । अर्थक्रियाकारित्वेन शशश्रृंग विलक्षणत्वात् नाऽपि (सां० प्र० भा० 1/26)

4 सां० प्र० भा० (1/22)

5 सांख्यसार ,उत्तर भाग 2/7/8

6 महा० 12/295/12, 12/295/13

प्रकृति और गुणत्रय

जगत् के समस्त विषय सुख–दुःख–मोहात्मक हैं क्योंकि इनका कारण प्रकृति त्रिगुणात्मिका है – त्रिगुणमविवेका[1] त्रिगुण का स्वरूप एवं लक्षण इस प्रकार है –

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्ति नियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिभवाश्रय जननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।।[2]

योगसूत्रकार के अनुसार –

"प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्"[3]
प्रकाशशीलंसत्त्वं । क्रियाशीलं रजः । स्थितिशीलं तमः इति।[4]

अर्थात् सत्त्वादिगुणत्रय क्रमशः सुख–दुःख–मोहात्मक हैं। इनके कार्य है – प्रकाशन, प्रवर्तन तथा नियमन करना । ये गुण परस्पर एक दूसरे के अभिभावक हैं। जैसे – सत्त्व, रजस् और तमस् को अभिभूत करके अपनी शान्तवृत्ति को प्राप्त करता है। वैसे ही. रजस्, सत्त्व और तमस् को अभिभूत करके अपनी दुःखात्मिकावृत्ति को एवं तमस्, सत्त्व और रजस् को दबाकर अपनी मोह या विषादात्मक वृत्ति को प्राप्त करता है। तीनों ही एक दूसरे के आश्रय[5] बनने वाले हैं अर्थात् एक दूसरे के कार्य में सहायक बनते हैं। तीनों गुण परस्पर एक दूसरे की सहायता की अपेक्षा करते हुए परिणाम उत्पन्न करते रहते हैं। परिणाम चाहे–सरूप हो या विरूप अर्थात् प्रलयकालीन या सृष्टिकालीन

---

1 सांख्यकारिका – 11

2. सांख्यकारिका –12

3 योगसूत्र – 1/18

4 योगसूत्र – 1/18 पर व्यासभाष्य

5 आश्रय का तात्पर्य है – सहकारी बनना । सांख्यतत्त्वकौमुदी 12वीं कारिका।

परिणाम हों यह गुणत्रय की कार्यकारिता का परिणाम है। सत्त्वगुण हल्का और प्रकाशकारी माना गया है। रजस् प्रवृत्तिशील चंचल और उत्तेजक है। तमस् भारी अतएव अवरोधक (नियामक) माना गया है। सत्त्व और तमस् स्वयं प्रवृत्तिशील न होने के कारण अपने प्रकाशन और नियमन आदि कार्यों में रजस् की सहायता लेते हैं। गुणत्रय एक दूसरे से अत्यन्त विरोधी स्वभाव वाले होते हुए भी परस्पर मिलकर ही कोई कार्य सिद्ध करते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। अतः इससे उत्पन्न होने वाले कार्य भी त्रिगुणात्मक होते हैं । छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है[1] यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तदरूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य एवं श्वेताश्वतरो0 में भी गुणत्रय को प्रकृति स्वरूप कहा गया है – "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपां"[2]। त्रिगुणात्मक कहने से गुण और गुणी में अभेद का बोध होता है। गीता में माया को गुणमयी कहा गयाहै – "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया"[3]। सांख्यवत् शांकरअद्वैत में भी प्रकृति त्रिगुणात्मिका स्वीकार की गई है – अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं।[4] वस्तुवादी प्रवृत्ति के कारण सांख्य में गुणों के स्वरूप के ऊपर अधिक चर्चा हुई है जबकि शांकर अद्वैत में इस विषय पर विस्तृत–विवेचन नहीं हुआ है। गुणों के सम्बन्ध में जो विचार सांख्य के हैं, वही शांकर अद्वैत दर्शन में भी स्वीकृत हैं। अद्वैत दर्शन के मूलस्रोत उपनिषद् एवं गीता में प्रकृति की गुणरूपता का निरूपण किया गया है। गुणों के विषय में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि गुण प्रकृति स्वरूप ही हैं, प्रकृति से भिन्न नहीं हैं। गुणत्रय न तो प्रकृति के धर्म हैं, न अवयव

---

1 6/4/1 छान्दो0

2 श्वेता0 4/5

3 गीता – 7/14

4 वेदान्तसार , पृ0 71, पीयूष प्रकाशन, इलाहाबाद 1983

बल्कि ये गुण ही प्रकृति हैं। सांख्यसूत्रकार के अनुसार – "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" विज्ञानभिक्षु ने साम्यावस्था का अर्थ अकार्यावस्था किया है – "अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसामान्य प्रकृतिरित्यर्थः"[1]। तत्त्वकौमुदीकार ने "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था सा अविकृति प्रकृति" अर्थ किया है।[2] गौडपादभाष्य में इस प्रकार कहा गया है – सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानं।[3] महाभारत, गीता और पुराणों में यत्र–तत्र गुणों को प्रकृतिजन्य कहा गया है । वहां प्रकृति के कार्य या विकार रूप अर्थ समझना चाहिए क्योंकि गुण प्रकृतिस्वरूप ही हैं, पृथक् नहीं है।[4]

सांख्यमत में सत्त्वादित्रय द्रव्य हैं – गुणों के विषय में यह ज्ञातव्य है कि ये सत्त्वादित्रय द्रव्य हैं यद्यपि ये 'गुण' शब्द से अभिहित किए गए हैं। इन्हें गुण इसलिए कहा गया है क्योंकि ये पुरूष के बन्धन-मोक्ष के लिए उपकरण बनते हैं।[5] गुण इति परार्थाः अर्थात् गुण परार्थ पुरूष के प्रयोजन भोग एवं अपवर्ग को सिद्ध करने वाले होते हैं इसलिए इन्हें गुण कहा जाता है। इन्हें गुण कहने का एक कारण और है – ये पुरूषरूप पशु को अपने महदादि कार्यो से रज्जुवत् बाँधते भी हैं।[6] प्रकृति नामक कोई अलग से द्रव्य नहीं है जिसमें

---

1. सांख्यप्रवचनभाष्य 1/151
2. सांख्यतत्त्वकौमुदी – 16
3. सांख्यकारिका – 16, भारती विद्या प्रकाशन – 1964

   गुणों की वैषम्यावस्था गुणों की कार्यावस्था है। महदादि में प्रकृति के लक्षणों की अतिव्याप्ति न हो जाए इसलिए साम्यावस्था से उपलक्षित गुणत्रय को प्रकृति कहा गया है।
4. महाभारत 12/30/3, 12/302/1, सांख्यप्रवचन भाष्य 1/61
   गीता – 14/5–13, भागवतपुराण – 11/24/51 इत्यादि
5. सांख्यप्रवचन भाष्य – 1/61
6. गुणाः पुरूषस्य रज्जविव इत्यर्थः 195 पृष्ठ, भास्वती टीका
   उद्धृत पातञ्जलयोगदर्शनम् , पृ॰ 220

ये गुण रहते हैं – "सत्त्वादीनि द्रव्याणि न तानि द्रव्याश्रया गुणाः तेभ्योव्यतिरिक्तस्य गुणितोऽभावादिति वेदितव्यमिति"[1]। गुणों या प्रकृति के द्रव्य होने में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत हैं –

1. वैशेषिकशास्त्र में मान्य गुणों से ये भिन्न हैं क्योंकि ये संयोग – विभागशील हैं। संयोगादि द्रव्य में ही सम्भव है गुण में नहीं।[2] योगसूत्र (2/18) के व्यासभाष्य में दृश्य के स्वरूप का निरूपण करते हुए इन्हें 'संयोगविभागधर्माणः' कहा गया है।

2 सत्त्वादिगुणत्रय लघुत्वादि धर्मों से युक्त हैं अतः ये धर्मी हुए। धर्मी द्रव्य ही हो सकता है, गुण नहीं ।

3. योगसूत्र (3/13) में चित्त के जो अवस्था, धर्म और लक्षण परिणाम कहे गए हैं उनका आश्रयभूत धर्मी प्रकृति है। महाभारत में प्रयुक्त सत्त्वादित्रय प्रायः द्रव्य रूप ही कहे गए हैं।[3] महाकाव्य में यह कहा गया है कि प्रकृति स्वभावतः ही गुणवती है। प्रधान के गुणत्रय समस्त जगत् में व्याप्त हैं।[4] महाभारत के इस वाक्य से यह सिद्ध होता है कि गुण और प्रकृति भिन्न–भिन्न नहीं हैं।

---

1. योगवार्तिक – पृष्ठ 194, उद्धृत पातंजलयोगदर्शनम् – पृ0 220 चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1988

2. 'सत्त्वादीनि द्रव्याणि न वैशेषिका गुणाः संयोगविभागवत्त्वात्' सांख्यप्रवचन भाष्य (1/61) एवं द्रव्यत्व चैषां संयोगविभागादिमत्तया उपादानकरणत्वे सिद्धम् । सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपनम् – पृ0 34, सांख्यसंग्रह, चौ0 सं0 सी0 1969

3. महाभारत और पुराणों में सांख्यदर्शन, पृ0 229
एवं महाभारत 12/301/3, 4, 14, 15

4 12/303/3, 12/302/1

भागवतपुराण[1] (11/25) एवं ब्रह्मपुराण में भी गुणत्रय द्रव्यरूप में ही प्रयुक्त हैं।[2] सांख्यकारिका, सांख्यसूत्र, तत्त्वसमास आदि के सभी टीकाकार प्रायः यह मानते हैं कि गुण द्रव्य रूप हैं। जगत् त्रिगुण है इस कथन से द्रव्य ही विवक्षित है। अतः वाचस्पतिमिश्रादि ने इस पर विशेष विचार नहीं किया है।[3]

शांकरमत में प्रकृति द्रव्यरूप नहीं है – शांकरमत में आत्मा से भिन्न कोई अन्य तत्त्व नहीं है। श्रुति नानात्व का निषेध करती है। ब्रह्म को सृष्टि के लिए अपने से भिन्न किसी भी तत्त्व की आवश्यकता नहीं पड़ती । वह मकड़ी के समान अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। ब्रह्म अपनी मायाशक्ति के कारण जगत् का उपादानकरण बनता है।[4] उसकी मायाशक्ति तत्त्व या अन्यत्व रूप से निरूपित नहीं की जा सकती है।[5] जब उसकी तत्त्वरूप से प्रतिष्ठा ही नहीं है तब उसे धर्मी या द्रव्य नहीं कहा जा सकता है। ब्रह्म निर्गुण व निर्धर्मक है, उसे द्रव्यरूप कहने का प्रशन ही नहीं उठता। शक्ति का अस्तित्व शक्तिमान के अधीन होता है। ब्रह्म की सत्ता तो शक्ति के बिना भी है किन्तु शक्ति ब्रह्मतिरिक्त कुछ भी नहीं है। परब्रह्म विचित्रशक्तियुक्त है, इस विषय में श्रुति प्रमाण

---

1. महाभारत एवं पुराणों में सांख्यदर्शन, पृ0 229, दिल्ली, 1972
2. 239/3, 4, 14, 15 मनसुखराय मोर प्रकाशन, कलकत्ता
3. महाभारत और पुराणों में सांख्यदर्शन, पृ0 229
4. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
   यथा सतः पुरूषात्केशलोमानि यथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।।
   (मुण्डको0 1/1/6)
5. ब्रह्मणस्तित्वयमविद्याशक्तिर्मायादिशब्द वाच्या
   न शक्त्या तत्त्वेनान्यत्वेन वा निर्वक्तुम् ।
   (भामती 1/4/3)

है।[1] श्रुति करणरहित ब्रह्म में सर्वशक्ति का योग दिखलाती है – "अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः" (श्वेताश्व0 3/19)। ब्रह्म की शक्ति, ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र नहीं है। अतः इसे द्रव्यरूप नहीं कहा जा सकता।

शांकरमत में प्रकृति या माया को उपाधि भी कहा गया है। उपाधिनिमित्तक धर्म वस्तु का वास्तविक धर्म नहीं होता है। इसलिए नानात्व वस्तुतः सत् नहीं है। श्री केशवमिश्र ने अपने तर्कभाषा में प्रयोजक को उपाधि कहा है।[2] वाचस्पत्यम् में कहा गयाहै – जब वस्तु अपने स्वरूप से भिन्न रूप में प्रकाशित हो तो भिन्न रूप में प्रकाशित होने का प्रयोजक ही उपाधि कहलाता है। जिस प्रकार रज्जु से भिन्न रूप में प्रकाशित होने का प्रयोजक रज्जु विषयक अज्ञान है उसी प्रकार जब सच्चिदानन्द ब्रह्म, जीव या जगत् रूप में प्रकाशित होता है, तो उसका प्रयोजक मायारूप उपाधि है।[3] उपाधि तत्त्व रूप नहीं हो सकती। ब्रह्मसाक्षात्कार करने वाले तत्त्वज्ञानियों ने इसे तुच्छ, मिथ्या और सारहीन कहा है।[4] अतः प्रकृति या माया की कल्पना चाहे शक्तिरूप में करे या उपाधि रूप में यह तत्त्वतः

---

1 सर्वकामाः सर्वगन्धः सर्वरसः (छा0 3/14/4),
सत्यकामः सत्यसंकल्पाः (छा0 8/7/1)
'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्यचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः'
(बृहदारण्यको0 3/8/9)

2 प्रयोजकश्च उपाधिः इत्युच्यते ।

3. अन्यथा स्थितस्य वस्तुनोऽन्यथाप्रकाशनरूपे ।
वेदान्तसारः, पृ0 77, पीयूष प्रकाशन, तृतीय संस्करण, इलाहाबाद

4. उपाधियों से आवृत्त होने के कारण हम इसे जान नहीं पाते ।
कठोप0 पर शां0 भा0 2/2/1, प्रतिबन्ध या उपाधि की कल्पना ब्र0 सू0 शां0 भा0 में – 1/3/7, 1/2/6, 1/3/14-18, 1/2/11-12, 1/14/22, 2/3/17, 3/2/34, 3/2/18

प्रतिष्ठित न होने कारण द्रव्य रूप नहीं है। वस्तुतः गुणों के विषय में प्रारम्भिक विचार बताना कठिन है। दासगुप्त का मत है कि प्रारम्भ में गुण का तात्पर्य विशेषता था। बहुत सम्भव है कि जैसे-जैसे सांख्य अधिक व्यवस्थित होता गया गुणों को द्रव्य के रूप में माना जाने लगा। इस मान्यता से कोई विरोध भी नहीं उत्पन्न हुआ[1]। शांकर अद्वैत मत में माया का स्वरूप सांख्यमत से विपरीत निरूपण करते हुए सर्वत्र यह ध्यान रखा गया है कि इसे वस्तु रूप न समझ लिया और न ही शशश्रृंगवत् असत् माना जाए। जो वस्तु रूप नहीं है वह द्रव्यरूप भी नहीं हो सकता। सांख्य द्वारा प्रतिपादित त्रिगुण के स्वरूप को लेकर शांकर अद्वैत में कोई असहमति नहीं है। माया त्रिगुणात्मिका है यह उन्हें भी मान्य है।

प्रकृति का अनादित्त्व

'प्रकृति की सत्ता' शीर्षक के अन्तर्गत यह चर्चा की गई है कि जगत् चाहे यथार्थ हो या भ्रम इसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए और वह है – प्रकृति। सांख्यमत में स्वतन्त्र रूप से सत्तावान् और अद्वैतमत में ब्रह्माश्रित प्रकृति। प्रकृति के उद्भव या उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठते हैं – यथा सृष्टि का प्रारम्भ कब से हुआ ? प्रकृति की उत्पत्ति कब से हुई ? नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप जीव माया के वशीभूत कब से हो गए ? क्या जगदुपादान का भी कोई कारण है ? ये ऐसे प्रश्न है जिनका उत्तर केवल यही है कि सृष्टि प्रवाह अनादि है। गीता में श्रीकृष्ण कहते है कि संसारवृक्ष का जैसा स्वरूप शास्त्रों में वर्णित है वैसा यहां विचार करने पर नहीं

---

1 योग एज़ ए फिलॉसफि एण्ड रीलिजन, डा० एस.एन. दास गुप्त कृत

चरक ने प्रकृति को द्रव्यरूप में नहीं माना है विशेषता या गुण माना है। यदि चरक वर्णित सांख्य, शास्त्रीय सांख्य से पहले का है तो प्रारम्भिक सांख्य गुणों को द्रव्यरूप नहीं मानता था ।

उपलब्ध होता क्योंकि न इसका आदि है न अन्त, न अच्छी प्रकार से स्थिति है।[1] महाभारत और पुराणों में जगत् के कारण को अलिंग एवं अनादि कहा गया है।[2] गीता में श्रीकृष्ण प्रकृति पुरूष दोनों को अनादि कहते हैं।[3] ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में कहा गया है कि यह विषय मनुष्यों के लिए ही नहीं देवताओं के लिए भी दुर्ज्ञेय है। देव इस सृष्टि के पश्चात् हुए। अतः सृष्टि के उद्गम के विषय में कौन जान सकता है?[4] देशकालादि की उद्भावना सृष्टि के पश्चात् हुई इसलिए सृष्टि का प्रारम्भ मनुष्यों के लिए एक रहस्य ही है। जब वेदों के लिए भी यह विषय अगम्य है तो इसका उत्तर इतना ही दिया जा सकता है कि यह जगत् बीजांकुरवत् अनादि है।[5] सांख्य एवं अद्वैतमत दोनों ही प्रकृति को अनादि मानते हैं किन्तु श्री लोकमान्य तिलक के अनुसार दोनों में अन्तर यह है कि जैसा सांख्यवादी कहते है उस प्रकार का अनादित्त्व अद्वैतमत में मान्य नहीं है। सांख्यमत में माया मूलतः चेतनतत्त्व (परमेश्वर) के समानान्तर की (निराम्भ) अनादि और स्वतन्त्र सत्ता है परन्तु अद्वैतमत में अनादि का विवक्षितार्थ है – दुर्ज्ञेयारम्भ अर्थात् इसका आरम्भ ज्ञात नहीं है।[6] सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 23 तत्त्वों का मूलकारण प्रधान, मूल शून्य (कारण रहित), स्वतन्त्र एवं अनादि

---

1 ब्र0 सू0 शां0 भा0 2/1/36 में उद्धृत गीता का श्लोक (15/3) "नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा"

2. महाभारत – 12/292/40, पुराणों में कहा गया है कि- अतीत, अनागत कल्पों का परिमाण नहीं है। ब्र0 सू0 शां0 भा0 2/1/36

3 18/19, गीता

4. को अद्ध वेद क इह प्रवोचत्, सृष्टिसूक्त (10/129/2)

5. अनादौ तु संसारे बीजांकुरवत् ब्रह्मसूत्र शां0 भा0 2/1/55

6 गीता रहस्य 11वाँ संस्करण, पूना

अभ्युपगत है।[1] अद्वैतमत में प्रकृति की सत्ता ब्रह्मत्वेन ही स्वीकृत है। ब्रह्म अनादि है अतः उसकी मायाशक्ति प्रकृति (प्रकृति) भी अनादि है।[2] इसका अनादित्व कारणत्वेन ही स्वीकृत है, स्वतन्त्र रूप से नहीं । सांख्यमत में इसे अलिंग कहा गया है क्योंकि इसका लय अन्य किसी कारण में नहीं होता । श्वेताश्व0 श्रुति में इसे अजा कहा गया है । इन सबका यही अर्थ है कि प्रकृति का उद्भव या आरम्भ नहीं होता । अद्वैतमत में इस प्रकार का अनादित्व अभिप्रेत नहीं है। इसकी आदिमत्ता का श्रवण श्रुतियों में हुआ है।[3] अतः अद्वैतमत में अनादित्व का तात्पर्य यह है कि इसका प्रारम्भ कब से हुआ यह अज्ञात है। देशकालादि की कल्पना अविद्या के कार्य हैं। ये सृष्टि के पश्चात उद्भूत होते हैं। अविद्या उस अर्थ में अनादि नहीं है जिस अर्थ में ब्रह्म है। कोई भी उत्पन्न होने वाला विकारात्मक पदार्थ नित्य नहीं हो सकता। शंकर एवं सुरेश्वराचार्यादि ने अविद्या का बाध विद्या द्वारा स्वीकार किया है। जैसे रज्जुज्ञान से सर्प की तत्काल निवृत्ति देखी जाती है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान से अविलम्ब अज्ञान का नाश हो जाता है। ज्ञानाग्नि उस ज्वाला के समान है जो उत्पन्न होते ही अज्ञान रूपी अन्धकार को दग्ध कर देती है।[4] माया या प्रकृति से रहित भी ब्रह्म अभ्युपगत है किन्तु ब्रह्म से रहित माया या प्रकृति की प्रतीति असम्भव है ।

प्रकृति का अनादित्व इस दृष्टि से भी उपयुक्त है कि यह मुक्त पुरूषों के प्रति अर्थहीन होते हुए भी अन्य बद्ध पुरूषों के लिए यथावत् रहती

---

1. सांख्यसूत्र 1/67 मूलेमूलाभावादभूलं मूलम ।
2. ब्र0 सू0 शां0 भा0 1/4/3
3. सूर्यश्चन्द्रमसौधाता यथा पूर्वमकल्पयत् ऋ0 10/190/3
   द्यावाभूमीजनयन देव एकः ऋ0 10/81/3
   इयं विसृष्टिर्यव आबभूव ऋ0 10/129/7
4. बृ0 भा0 वा0 1/4/1413, 603, 1580, 2/1/279

है।[1] यदि यह संयोग एक पुरूष के साथ होता तो उसके मुक्त होने पर यह संयोग समाप्त हो जाता[2] किन्तु/ यह असंख्य पुरूषों के साथ प्रकृति/ का संयोग प्रवाह बना ही रहता है क्योंकि यह गणित का सार्वभौम सिद्धान्त है कि अनन्त संख्या से किसी संख्या के घटाने पर भी उसका अनन्तत्व समाप्त नहीं होता।[3] श्रुति भी कहती है – "ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" अद्वैतमत में भी मोक्षावस्था में संसार का प्रविलय अथवा नाश नहीं माना जाता।[4] मुक्त पुरूष का जगत् के प्रति दृष्टिकोणमात्र ही परिवर्तित होता है, जबकि बद्ध पुरूषों के लिए संसार का महत्त्व और उसकी सत्यता यथावत् बनी रहती है। कुछ पुरूषों या जीवों के मुक्त हो जाने पर भी यह अन्तहीन संसार उसी प्रकार चलता रहता है। उन पुरूषों के लिए जो जागतिक पदार्थों के आकर्षण से बँधे हैं। पंचदशीकार कहते हैं कि मुक्त्यावस्था में जीव और जगत् का बाध नहीं होता बल्कि इनके मिथ्यात्व का ही निश्चय होता है।[5] सृष्टि के अनन्तर प्रलय, पुनः सृष्टि तत्पश्चात् प्रलय इस प्रकार सृष्टि का अनवरत प्रवाह सृष्टि का अनादित्व ही सिद्ध करता है ।

---

1 कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् (योगसूत्र 2/22) एवं अत एतद् भवति, यद्यप्येकस्य महतः संयोगोऽतीतत्वमापन्नस्तथापि महद्दन्तरस्य पुरूषाणां संयोगो नातीत इति नित्य उक्तः। तत्त्ववैशारदी (पृ0 224) उद्धृत योगसूत्र पर योगसिद्धि नामक हिन्दी व्याख्या डा0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव कृत

2 योगसूत्र 2/17

3. 'पातंजलयोगदर्शनम्' योगसिद्धि नामक व्याख्या, पृ0 239
चौ0 सुरभारती प्रकाशन, 1988

4 ब्र0 सू0 शा0 भा0 3/2/21 एवं बृहदारण्यकोप0 4/5/13,
भामती – 1/2/6

5 पंचदशी – 6/13

प्रकृति और क्रियाश्रयत्व्

संसार की समस्त वस्तुएं गतिमान् एवं सतत् परिवर्तनशील हैं, यथा – सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी एवं अन्य नक्षत्रगण आदि । मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि का जीवन ऋतुएं ये सभी एक स्थिति में नहीं रहते । इनमें होने वाले परिवर्तन प्रत्यक्षतः ही दृष्टिगोचर होते हैं। पदार्थों में परिवर्तन के लिए गति किसके कारण होती है? क्या यह चेतन तत्त्व के कारण है? कदापि नहीं क्योंकि चेतनतत्त्व निष्क्रिय, कूटस्थ, निर्विकार, सर्वत्र, सर्वदा एकरस एवं असंग है। तो क्या यह परिवर्तन या विकार अचेतन तत्त्व के कारण है ? निश्चित रूप से 'हाँ' क्योंकि अचेतन तत्त्व प्रसव-धर्मी एव विकारशील कहा गया है।[1] अतः यहां संक्षेप में दोनों दर्शनों के अनुसार क्रिया के आश्रय पर विचार किया जा रहा है। इस विषय का विस्तृत विवेचन "प्रकृति की बन्ध एवं मोक्ष में भूमिका" नामक अध्याय के अन्तर्गत किया जाएगा। सर्वप्रथम प्रस्तुत है सांख्यानुसार क्रिया का आश्रय – महाभारत में सांख्यदर्शन का विवेचन करते हुए एक स्थल में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रकृति ही शुभाशुभ फल की जनक है और कर्म करती है। तीनों लोको में इच्छानुसार गमन करने वाली वही उन सब कर्मों का फल भोगती है।[2] प्रकृति की सत्ता सर्वोच्च सत्ता द्वारा अधिष्ठित है[3] – 'एतेनाधिष्ठितश्चैव सृजते संहरत्यापि' आत्मा उदासीन है। प्रकृति से संयुक्त होने के कारण ही चेतनतत्त्व प्रकृति कृत कार्यों को अपना समझता है। कर्तृत्व आत्मा में आरोपित है।[4] गीता में भी आत्मा को निष्क्रिय एवं उदासीन

---

1. 'गुणकर्त्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः' सांख्यकारिका 20

   प्रकृतिः कुरूते कर्म शुभाशुभ फलात्मकं है।
   प्रकृतिश्च तदश्नाति त्रिषुलोकेषु कामगा ।। 12/292/40 ।। महाभारत

2. 12/292/40

3. महाभारत – 12/302/12

4. 12/303/7-8, 12/292/30

कहकर उसमें कर्त्तृत्व का परमार्थतः निषेध किया गया है। गीता के अनुसार – समस्त कर्म प्रकृति के द्वारा किए जाते हैं, अहंकार से मोहित हुआ जीव अपने को कर्त्ता मानने लगता है। सम्पूर्ण गुण एवं कर्म विभाग प्रकृतिकृत हैं। पुरूष, निर्लेप एवं गुणातीत है।[1] निर्गुण होने पर भी ईश्वर की योगमाया से पुरूष गुणों का भोक्ता बनता है। कर्त्ता न होने पर भी जीव त्रिगुणात्मक पदार्थों का भोग करता है – 'पुरूषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्.त्ले प्रकृतिजान्गुणान्'[2] भागवतपुराण में भी प्रकृति को क्रियाशील कहा गया है। इसी पुराण में वर्णित है कि प्रकृति के गुणों की स्वभाविक गति से उत्पन्न परिवर्तनों का कर्त्ता पुरूष स्वयं को संकल्पित कर लेता है।[3] प्रकृति आत्म स्थित प्रभावों की स्वयं कर्ती है। पुरूष सर्वसुख– दुःख का निष्क्रिय भोक्ता है। विष्णुपुराण में भी कहा गया है कि पुरूष सर्ग-कर्म का निमित्तमात्र है, सभी सृज्यशक्तियों का कारण प्रधान है।[4] सांख्यशास्त्र के ग्रन्थों में भी पुरूष को असंग, निर्गुण व निष्क्रिय माना गया है। क्रिया का आश्रय प्रकृति को स्वीकार किया गया है। सांख्यशास्त्र के अनुसार यदि क्रिया प्रकृति में न हो तो कार्यों की उत्पत्ति असम्भव हो जाएगी। अतः प्रकृति प्रसवधर्मी, सक्रिय एवं परिणमनशील है।[5] योगसूत्र (4/33) के भाष्य में व्यास जी ने कहा है – कि पुरूष और प्रकृति दोनों ही नित्य हैं। पुरूष कूटस्थ नित्य है और प्रकृति परिणामिनित्य है। परिणामिनित्यता का तात्पर्य है – जिसके परिणत होने पर भी तत्त्व नष्ट नहीं होता।[6] गुणों की क्रियाशीलता का परिणाम ही यह

---

1. गीता 3/29, 4/13
2. 13/21, 13/20, 22
3. 3/26
4. 1/4/51
5 सांख्यकारिका – 20 "गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः"
6. जहद्धर्मान्तरं पूर्वमुपादत्ते यदा परम्। तत्त्वादप्रच्युतो धर्मी परिणामः स उच्यते। (युक्तिदीपिका कारिका – 17)

   डा0 रमाशंकर भट्टाचार्य, वाराणसी प्रकाशन, 1970

जगत् है। योगसूत्र व्यासभाष्य में कहा गयाहै कि गुण स्वभावतः ही चंचल हैं – "चलं च गुणवृत्तम् गुणस्वभाव्यं तु प्रवृत्ति कारणमुक्तं गुणानामिति।"[1] अपने चंचल स्वभाव के कारण ही प्रलयावस्था में भी गुण परिणमित होते रहते हैं। पंचशिख का यह वाक्य भी गुणों में कर्तृत्व को सिद्ध करता है – गुणों की क्रियाओं का साक्षीभूत यह पुरूष बुद्धि द्वारा समर्पित भोगों के अतिरिक्त शुद्ध तत्त्व दर्शन की कल्पना भी नहीं करता।[2] (सांख्यकारिका–20) माठरवृत्तिकार के अनुसार – सत्त्वादयो गुणांः कर्त्तारिस्तैः संयुक्तः पुरूषोऽपि अकर्त्ताऽपि कर्त्ता भवति। कर्तृसंसर्गात् कर्तेव। परे परमार्थतया अकर्त्ता पुरूषः।[3] गौडपादभाष्य में भी यही कहा गया है – गुणानां कर्तृत्वे सति, उदासीनाऽपि पुरूषः कर्तेव भवति, न कर्त्ता।[4] अब प्रश्न यह उठता है कि पुरूष जब कर्त्ता नहीं है तो उसका कर्तृत्व क्यों कहा जाता है ? माठरवृत्ति में दिए गए दृष्टान्त को ही उद्धृत करते हुए गौडपाद कहते हैं – यथाऽचौरचौरैः सह गृहीतश्चौरइत्यवगम्यते एवं त्रयो गुणाः कर्त्ताः तैः संयुक्तः पुरूषोऽकर्त्ताऽपिकर्त्ता भवति, कर्तृसंयोगात्।[5] एवंच जिस प्रकार संसार में घट शीतलता से संयुक्त होकर शीतल, उष्णता से संयुक्त होकर उष्ण हो जाता है उसी प्रकार पुरूष से संयुक्त होकर प्रकृति चेतनवत् हो जाती है।[6]

---

1. 3/13 योगसूत्र पर व्यासभाष्य
2. 2/18 योगसूत्र पर व्यासभाष्य में उद्धृत 'अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृष्वकर्तरि च पुरूषे' इत्यादि। चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
3. बुटाला एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1981
4. (सां0 कारिका 20) साहित्यभण्डार सुभाष बाजार मेरठ, पंचम संस्करण, 1975
5. सां0 कारिका – 20
6. मेरठ प्रकाशन, पंचम संस्करण, 1975

है। जब समस्त कर्म प्रकृति द्वारा किए जाते हैं तो पुरूष के बन्धन का कारण ये किस प्रकार बन जाते हैं ? पुरूष इनका भोक्ता क्यों बन जाता है? इस प्रश्न पर विचार 'प्रकृति की बन्ध–मोक्ष में भूमिका' नामक अध्याय के अन्तर्गत विशेष रूप से किया जाएगा । क्रिया के आश्रय प्रधान को सांख्यकारिका में व्यक्त की अपेक्षा निष्क्रिय कहा गया है।[1] वहां निष्क्रिय का अर्थ है – प्रधान आदिकारण है, विभु और सर्वव्याप्त है। अतः वह परिस्पन्दन रूप क्रिया से रहित है – 'यद्यप्यव्यक्तस्यास्ति परिणामलक्षणाक्रिया तथाऽपि परिस्पन्दो नास्ति'[2] अर्थात् प्रवेश एवं निःसरण रूप क्रिया से रहित है। बुद्ध्यादि, सूक्ष्मशरीर का आश्रय लेकर पूर्व ग्रहण किए गए स्थूल शरीर को मृत्योपरान्त त्याग कर पुनः शरीर ग्रहण करते हैं। पृथिवी आदि का परिस्पन्दन तो स्पष्टतः प्रत्यक्ष ही है। प्रकृति सर्वगत होने से अपने कार्यों से अभिन्न है। इस दृष्टि से उसको निष्क्रिय कहा गया है। प्रकृति जड एवं वेद्य होने से स्वयं अपने ही विकारों की भोक्त्री नहीं हो सकती। चेतन तत्त्व ही अनुभूति और बोध करने की योग्यता रखता है। इस तर्क के आधार पर भोक्तृत्व तो पुरूष का कहा जाता है किन्तु विकारी एवं प्रसवधर्मी होने के कारण कर्तृत्व प्रकृति में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः सांख्य में प्रकृति को क्रिया का आश्रय मानने के दो कारण हे –

1 प्रकृति को ही सम्पूर्ण विकारों का आश्रय मानने का प्रथम कारण यह है कि समस्त विकार प्रकृति से ही उद्भूत एवं उसी में तिरोभूत होते हैं।

2 पुरूष पूर्णतः निर्विकार एवं असंग[3] हो जाता है। यदि कर्तृत्व पुरूष में माने तो कैवल्य की स्थिति में पुरूष का नितान्त उदासीन तथा निर्लिप्त होना असम्भव हो जाएगा।

---

1 सांख्यकारिका – 10 हेतुमद नित्यम्

2. सांख्यकारिका – 10 पर तत्त्वकौमुदी

3 पुरूषो न प्रवर्तते नापि निवर्तते।
एवं गुण भेदात् प्रकृति कर्त्री न पुरूषः ।।
सांख्य तत्त्वविवेचन, पृ0 23 (सांख्य संग्रह)

शांकर अद्वैतमत में क्रिया का आश्रय :

शांकर अद्वैतमत में आत्मा न कर्त्ता है न भोक्ता आत्मातिरिक्त कुछ भी सत् नहीं है। प्रकृति या माया ब्रह्म की शक्ति है।[1] ब्रह्म इसी शक्ति के द्वारा जगत् की रचना करता है। यह प्रकृति जड या अचेतन है। अतः विशेष कार्य सम्पादन के लिए स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकती। यथा जड मृतिका एवं रथादि स्वयं अपने कार्योत्पादन के लिए प्रवृत्त नहीं होते। अचेतन, चेतन से अधिष्ठित होकर ही कार्याभिमुख होते हैं। इस प्रकार आचार्य शंकर सांख्यमत का खण्डन करते हुए ब्र0 सू0 शां0 भा0 में यह प्रतिपादित करते हैं कि अचेतन प्रधान स्वतन्त्र रूप से क्रिया का आश्रय नहीं माना जा सकता है।[2] शंकर अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रवृत्ति जो अचेतन में देखी जाती है वह उसी की है इसका हम खण्डन नहीं करते, परन्तु यह प्रवृत्ति चेतन अधिष्ठित है, क्योंकि चेतन के अभाव में प्रवृत्ति का अभाव और चेतन के होने पर ही उसका अस्तित्व देखा जाता है।[3] शंकर यह स्वीकार करते हैं कि केवल चेतन में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती किन्तु चेतन संयुक्त अचेतन रथादि में ही प्रवृत्ति देखी जाती है। शंकर इस विषय में कहते हैं कि परमेश्वराधीन माया शक्ति को अवश्य मानना चाहिए क्योंकि उसके बिना निर्गुण, निष्क्रिय परमेश्वर स्रष्टा नहीं हो सकता।[4] यह प्रवृत्ति न परमेश्वर में है, न प्रकृति में, तो यह किसकी है?

---

1. यह शक्ति ब्रह्म के अधीन है। सदसत् विलक्षण है। इस विषय पर 'प्रकृति की सत्ता' नामक शीर्षक के अन्तर्गत चर्चा हो चुकी है।
2. 2/2/1, 2, स्वतन्त्र रूप से क्रिया का आश्रय नहीं मानते।
3. न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिर्दृश्यते न तस्य सेति। भवतु तस्यैव सा। सा तु चेतनाद्भवतीति ब्रूमः। ब्र0सू0शां0भा0 (2/2/2)
4. 1/4/3 – ब्र0 सू0 शां0 भा0

आचार्य शंकर इसका उत्तर इस प्रकार से देते हैं –

1 जिस प्रकार काष्ठादि से अग्नि का संयोग होने पर वह दिखाई देती है और वियोग होने पर नहीं दिखाई देती, वैसे ही चेतन से संयुक्त होने पर ही शरीरादि में प्रवृत्ति देखी जाती है, उसके अभाव में नहीं।

2 जैसे अयस्कान्तमणि स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी लोहे का प्रवर्त्तक है और जिस प्रकार रूपादि विषय स्वयं अप्रवृत्त होते हुए भी चक्षु आदि के प्रवर्त्तक होते हैं। उसी प्रकार निष्क्रिय ईश्वर सर्वगत सर्वात्मा, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होकर सबको प्रवृत्त करता है ।

शंकर प्रकृति की स्वतन्त्र प्रवृत्ति का ही खण्डन करते हैं। वे कहते है – प्रवृत्ति का आश्रय प्रकृति है किन्तु उसका प्रवर्त्तक ईश्वर है। सांख्य के स्वभाविक प्रवृत्तिवाद का खण्डन शंकर विस्तार से ब्र0 सू0 भाष्य में करते है।[1] सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि पदार्थों के स्वभाव की मुक्ति नहीं देखी जाती, जैसे – अग्नि का उष्णत्व, द्रव का द्रवत्व से रहित होना असम्भव है। आत्मा का इन्द्रियादि से सम्बन्ध के कारण ही भोक्तृत्वादि संभव है,[2] स्वभाविक भोक्तृत्व नहीं है। संक्षेपशारीरककार कहते हैं कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व वस्तुतः पांचभौतिक शरीर के धर्म हैं। शरीर का तादात्म्याध्यास होने के कारण ही आत्मा में कर्तृत्वादि प्रतिभासित होते हैं।[3] यह चेतन आत्मा अज्ञान से युक्त होकर ही जगत् रचना करता है।[4] पंचदशीकार कहते हैं वही माया शक्ति चिदाभास के कारण चेतनवत्

---

1 2/2/3 ब्र0 सू0 शां0 भा0

2. आत्मेन्द्रियादि संयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः अविक्रियस्य भोक्तृत्वं स्याद् बुद्धि विभ्रमात् । (बृ0 भा0 वा0 पृ0 78)

3. संक्षेप-शारीरक – 3/63

4 वही 1/323

भासित होती है। यदि इसका नियन्ता न हो तो पृथिवी आदि वस्तुओं में काठिन्य आदि धर्मों का नियमन नहीं हो सकता। वे सब मिलकर ढेर के समान एक ही स्थान पर एकत्र हो जाएँगे। माया ईश्वर की आज्ञा से ही आकाशादि कार्यों की क्रम से सृष्टि करती है।[1]

उपयुर्क्त विवेचन के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं –

1. सांख्यमत में कर्तृत्व प्रकृति में है। चेतन आत्मा उसका भोक्ता है। श्रुति और महाभारतादि में सांख्य का जो वर्णन मिलता है उसमें ईश्वराधिष्ठित अचेतन प्रकृति का कर्तृत्व स्वीकार किया गया है । शंकर के मत में वस्तुतः कर्त्ता–भोक्ता कुछ है ही नहीं किन्तु संसारावस्था में कर्त्ता, भोक्ता, जीव एवं जगदादि भेद संभव है। आत्मा निष्क्रिय, निर्गुण और कूटस्थ है। अतः कर्तृत्व आत्मा में नहीं हो सकता। सर्वशक्तिमान् एवं चेतन होने के कारण ईक्षण कर्तृत्व उसमें संभव है। ब्रह्म के संकल्पानुसार कार्य करने वाली उसकी शक्ति है। शक्ति ब्रह्माधिष्ठित होकर जगदादि की क्रम से सृष्टि करती है। शंकर ब्र0 सू0 भा0 में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि प्रवृत्ति तो प्रकृति की है किन्तु यह स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त नहीं होती है बल्कि ब्रह्म इसका नियमन करता है। सांख्य का जो रूप श्रुति व महाभारतादि में मिलता है वह शंकर के मत के बहुत समीप है। गीता के अनेक श्लोक ऐसे हैं, जो जीवात्मा का कर्तृत्व घोषित करते हैं। इस विषय में डा0 गगनदेवगिरि का कहना है कि गीता में जीव के कर्तृत्व का अभिप्राय यह है कि संसारावस्था में जीव का कर्तृत्व स्वतन्त्र न होकर प्रकृति सापेक्ष होता है।[2] निरीश्वरवादी सांख्य आत्मा एवं प्रकृति के अतिरिक्त किसी परमसत्ता

---

1. 3/40 पंचदशी, 3/39, 38 वही एवं 1/16, चौ0 सं0 प्रति0 दिल्ली, 1987
2. 'श्रीमद्भगवद्गीता के शांकरभाष्य का समालोचनात्मक अध्ययन' पटना प्रकाशन, प्रथमावृत्ति ।

को नहीं माता। अतएव वे प्रकृति की प्रवृत्ति को स्वतन्त्र स्वीकार करते हैं। प्रकृति अचेतन है वह कोई भी कार्य बिना किसी चेतन के नियन्त्रण के नहीं कर सकती। जगत् में भी ऐसा ही देखा जाता है जड पदार्थ चेतन से अधिष्ठित हुए बिना निश्चित दिशा की ओर गतिशील नहीं हो पाते। जड और चेतन दोनों ही बिल्कुल भिन्न तत्त्व हैं। चेतन में संकल्प व ईक्षण कर्तृत्व हो सकता है।[1] अचेतन अपने नियमों के अनुसार स्वतः परिवर्तित होता रहता है, यह मान लिया जाए तो चेतन के संकल्प या ईक्षण के अनुसार पदार्थ में गति (सही दिशा में) किसकी प्रेरणा से होगी? अतः सांख्य का स्वतन्त्र प्रवृत्तिवाद यहीं अपूर्ण प्रतीत होता है। सांख्य की इस प्रकार की मान्यता जडवाद या यन्त्रवाद को जन्म देती है जिसमें जड तत्त्व स्वतः विकसित एवं विनष्ट होते रहते हैं।

प्रकृति का एकत्व अथवा अनेकत्व

सांख्यशास्त्र में जगत्कारण प्रकृति को एक ही माना गया है। इस शास्त्र में दो तत्त्वों की चर्चा हुई है – पहला पुरूष तत्त्व एवं दूसरा प्रकृति। पुरूष तत्त्व कूटस्थ होने से जगत् उपादान नहीं सिद्ध होगा। अतः प्रकृति जो प्रसवधर्मी जड एवं अचेतन है, वही सम्पूर्ण विश्व का उपादान है।[2] जिस प्रकार समस्त स्वर्ण विकारों की लय और उत्पत्ति स्वर्ण से ही होती है उसी प्रकार समस्त जागतिक पदार्थों का लय स्थान एकमात्र प्रकृति है। सांख्यविद् श्वेताश्वरश्रुति को प्रायः उद्धृत करते हैं – अजामेकाम्0 इत्यादि श्रुति से एक उत्पत्ति रहित नित्य

---

1 अज्ञानवश, संसारावस्था में ।

2 पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः ।
(सांख्यसूत्र 1/75)

प्रकृति तत्त्व का ही श्रवण हुआ है।[1] महाभारत, जिसमें अनेक स्थलों पर सांख्य को पुराणेतिहास कहकर वर्णन किया गया है, उसके अनुसार ज्ञान में रत सांख्यवादी अव्यक्त का एकत्व एवं पुरूष का नानात्व कहा करते हैं। ये लोग प्रकृति-पुरूष की भिन्नता भी प्रतिपादित करते हैं।[2] इसी ग्रन्थ में प्रकृति और जीव को अनादि, अनन्त और ईश्वर कहा गया है। सांख्य-वेत्ता इन दोनों को तत्त्व कहकर व्याख्यात करते हैं।[3] प्रलयावस्था में गुणों के गुणों में लीन हो जाने पर एकमात्र प्रकृति ही रहती है।[4] इन सभी उद्धरणों से यही स्पष्ट होता है कि महाभारतीय सांख्य में प्रकृति एक है, जो समस्त जड जगत् का कारण है। योगसूत्र व्यासभाष्य में कहा गया है कि जिस प्रकार सोने के भिन्न प्रकार नहीं होते, सोने के बनाए जाने वाले पात्र आदि ही भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। उसी प्रकार धर्मी अव्यक्त एक ही तत्त्व है जिससे अनेक विकार उत्पन्न होते हैं।[5]

सांख्यकारिका में अव्यक्त के कार्यों का व्यक्त से भेद बताते हुए कारिकाकार कहते हैं – व्यक्त उत्पन्न होने वाला है अनेक है। इसके विपरीत

---

1 4/5, 6/12 श्वेता0 एवं

0 प्रधानस्यैकत्वं पुरूषस्यानेकत्वंच अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां इति श्रुतिराह । छाया व्याख्या वैद्यनाथकृत

0 न च प्रधानवदेकः पुरूषः प्रकृत्येकत्व पुरूष नानात्वयोश्च श्रुत्यैव साक्षात्प्रतिपादनात् । (तत्त्ववैशारदी पृ0 223)

0 एकं प्रधानं, कारणत्वात् । त्रयाणां लोकानां प्रधानमेकं कारणं, तस्मादेकं प्रधानम् । सांख्यकारिका गौडपादभाष्य, साहित्यभण्डार (पृ0 22) सुभाष बाजार, मेरठ, पंचम संस्करण, 1975

2. महाभारत – 12/303/12–13, पारडी (बलसाड) 1980

3 12/295/2 वही

4. 12/295/16, वही

5 योगसूत्र व्यासभाष्य – 3/13

अव्यक्त एक है "विपरीतमं व्यक्तम्"।[1] सभी कार्य प्रकृति से आर्विभूत होते है। उसी में तिरोभूत होते हैं। इसके विकार अनेक है किन्तु इन विकारों का कारण एकमात्र प्रकृति ही है।[2] सांख्यकारिका 'भेदानां परिमाणात्' इत्यादि में समस्त महदादि कार्यों का कारण एक अव्यक्त सिद्ध किया गया है। इसी कारिका में यह स्पष्ट किया गया है कि एक-एक गुणों द्वारा विविध परिणाम सलिलवत् होता है अर्थात् जैसे - एक ही मेघ का जल नारियल, ताड़, करेले इत्यादि आश्रयभेद से भिन्न-भिन्न स्वाद वाला हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक काल में एक-एक गौण प्राधान्यभाव को प्राप्त, गुण का आश्रय लेकर अप्रधान गुण अनेक परिणाम उत्पन्न करते हैं।[3] प्रकृति की निरवयवता भी प्रकृति का एकत्व ही सिद्ध करती है। निरवयव कहने का तात्पर्य यह है कि अनेक तत्त्वों के अन्योन्य मिथुन से इसकी रचना नहीं हुई है और जिसकी रचना नहीं हुआ करती उसे अनित्य नहीं कह सकते।[4] किसी को यह शंका हो सकती हैं कि सत्त्वादि गुणत्रय के कारण प्रकृति अनेक रूपों वाली है। वस्तुतः सत्त्वादित्रय न तो प्रकृति के धर्म हैं न ही अवयव हैं बल्कि ये प्रकृति स्वरूप ही हैं। जिस प्रकार वृक्षों की समष्टि वन है। वृक्षों से पृथक् वन नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती, उसी प्रकार गुणों से अतिरिक्त प्रकृति

---

1 सांख्यकारिका - 10

2 सांख्यसूत्र - 1/68 पर प्रवचनभाष्य

3 सांख्यकारिका 16, एवं तत्त्वकौमुदी प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् । जयमंगलाकार- कारिका - 12 पर, पुरूषोऽनेको बहुत्वात्। तस्य बहुत्वं प्रतिपादयिष्यति प्रधानेनात्र वैसादृश्यं तस्यैकत्वात् ।
माठरवृत्ति - व्यापीसर्वगतत्तात् आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं पुरूषवत् व्याप्य प्रधानमवस्थितम्। निष्क्रियम् सर्वव्यापकत्वात्। एकं सर्वकारणत्वात् । (पृ0 57 का0 10) बुटाला एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1981

4 सांख्यदर्शनम्, पृ0 649
गजाननशास्त्री भुसलगांवकर, चौ0 सं0 संस्थान, प्रथम संस्करण

5 सत्तवादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्' (6/39 सांख्यसूत्र) सांख्यसार पृ0 24, पंचोली पुस्तकमाला प्रकाशन, दिल्ली, योगसूत्र एवं व्यासभाष्य 2/18, 19

नामक कोई तत्त्व नहीं है। त्रिगुण समष्टि ही प्रकृति है। प्रकृति के ये तीनों गुण सदैव ही मिथुनी भाव से रहते हैं।[1] प्रकृति की व्यापकता, अपरिच्छिन्नता, निरवयवता और स्वतन्त्रता से एक ऐसे तत्त्व की सिद्धि होती है जिसमें सम्पूर्ण कार्य समूह रहते हैं। प्रकृति के एकत्व के सम्बन्ध में विज्ञानभिक्षु का मत बिल्कुल भिन्न है। वे कहते हैं कि यदि सत्त्वादित्रय एक ही एक व्यक्ति रूप माने जाएं तो ये व्यक्तित्रय प्रधान को भी परिच्छिन्न कर देंगे। इसलिए इनकी असंख्य व्यक्तियां स्वीकार की गई हैं।[2] सभी सर्गों की मूल प्रकृतियां यद्यपि भिन्न-भिन्न नहीं हैं किन्तु उस मूल प्रकृति की अभिव्यक्तियां हर सर्ग में भिन्न-भिन्न रहती हैं। गुणत्रय अभिव्यक्ति की दृष्टि से अनेक हैं मूलतः एक ही है। वे तर्क देते हैं कि –

1. यदि एक-एक व्यक्ति रूप सत्त्वादित्रय को मानें तो वृद्धि - ह्रास की भी उपपत्ति असंभव है।[3]

2 गुणों को व्यापक माना जाए तो एक-एक व्यक्ति रूप इनका अपने आप संयोग वैचित्र्य नहीं हो सकता।

---

1. इसलिए यह भी नहीं कह सकते कि इन गुणों का परस्पर संयोग होता है। अन्योन्यमिभुनवृत्तय; अन्योन्यसहचरा, सां० का० 12, तत्त्वकौमुदी।

   कहीं-कहीं पर गुणों को प्रकृति से उत्पन्न कहा गया है (महाभारत, भागवत पुराण 11/24/5) यह महत्तत्त्वादि के कारणभूत सत्त्वादि को स्पष्ट करने के लिए ही कहा गया है। अन्यथा गुणों की नित्यता प्रतिपादित करने वाले सम्पूर्ण वाक्यों से विरोध प्रस्तुत होता है। इसका आशय कार्यो को सत्त्वादिपरक मानना युक्ति संगत है। सत्त्वादीनांप्रकृतिकार्यत्ववचनन्तु गुणनित्यता वाक्यविरोधम् महत्तत्त्वकारणीभूतकार्यसत्त्वादिपरमेव। (सां० सार पृ० 23) सूक्ष्ममलिंगचेतनमनादिनिघनं तथा प्रसवधर्मि, निरवयवमेकमेव हि साधारणमेतदव्यक्तम्। (तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति सांख्यसंग्रहः, पृ० 75, चौ० संस्कृत सीरीज, बनारस, द्वितीय संस्करण)

2. 1/127 सांख्यसूत्र पर प्रवचनभाष्य।
   सत्त्वादित्रयम् अपि व्यक्तिभेदात् अनन्तम्।

3. गुणानां सत्त्वादीनामेकैकव्यक्तिमात्रत्वे वृहिह्रासादिकं नोपपद्यते (पृ० 1/127, सां० प्र० भा०)

इन्हें यदि अणु रूप माना जाए तो –

1 एक समय में जो असंख्य ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति श्रुति एवं स्मृति में कही गयी है, वह उपपन्न नहीं हो सकेगी।[1]

2 आकाशकारणता के कारण इन्हें व्यापक मानना भी उचित है। यदि इन्हें यथायोग्य अणु एवं विभुपरिमाण वाला न स्वीकार किया जाए तो रजोगुण को चल स्वभाव वाला नहीं कहा जा सकता।[2]

सत्त्व, रजस्, तमस् गुण ये तीनों ही असंख्य व्यक्ति रूप हैं। असंख्य होने पर भी वे तीन प्रकार की विशिष्ट विशेषताओं से सम्पन्न होते हैं अर्थात् गुण तीन नहीं गुणों के प्रकार तीन हैं।[3] वे कहते हैं कि (त्रिगुण) कारण द्रव्यों में से प्रत्येक का अनेक व्यक्तित्व सिद्ध है क्योंकि उनमें से प्रत्येक का एक दूसरे से वैधर्म्यादि बताया गया है । यथा सत्त्वगुण का लघुत्व प्रकाशकत्वादि धर्मों के कारण साधर्म्य है और उत्तेजकत्व और प्रेरकत्व रूप धर्म वाले रजो गुण से इसका वैधर्म्य है। यदि ये गुण एक व्यक्ति रूप न होते तो लघुत्वादि धर्मों के द्वारा साधर्म्य प्रतिपादन की कोई आवश्यकता[4] ही न होती। प्रकृति की अनेक अभिव्यक्तियाँ पुरूष बहुत्व के सिद्धान्त की तरह नहीं हैं। एक पुरूष का दूसरे पुरूष से सजातीय भेद है लेकिन प्रत्येक सर्ग की प्रकृति एक दूसरे से अभिन्न

---

1 प्रधानस्य परिच्छिन्नत्वापत्त्या श्रुतिस्मृतिसिद्धमेकदाऽसंख्य ब्रह्माण्डादिकं नोपपद्यते । (सां० प्र० भा० 1/127)

2 तानि च सत्त्वादीनि यथायोग्यमणु विभुपरिमाणकानि अन्यथा रजसश्चल स्वभावत्व वचन विरोधात् । (पृ० 27 सांख्यसार)

3 सत्त्वादीन्यसंख्यव्यक्तिकान्येव द्रव्याणि ।

4 सांख्यसूत्र (1/128) पर प्रवचन भाष्य ।

है। अतः प्रकृति एकत्व सिद्धान्त की हानि नहीं होती।[1] सत्त्वादित्रय असंख्य होने पर भी वैशेषिकाभिमत परमाणु नहीं हैं। इसका प्रथम कारण यह है कि ये शब्द स्पर्शादि से रहित माने गए हैं जबकि न्याय-वैशेषिक परमाणु को स्पर्शादि गुणों वाला स्वीकार करता है।[2] द्वितीय यह है कि असंख्य व्यक्तियों में परमाणु रूप अवयव भेद नहीं है। व्यक्तियों को स्वतन्त्र मान लेने पर –

1. प्रकृति का एकत्व बाधित हो जाएगा ।
2. निरवयव परमाणु का, दूसरे परमाणु से संयोग किस प्रकार होगा ?
3. असंख्य परमाणुओं का व्यावर्त्तक क्या होगा ? इन असंगतियों से बचने के लिए सांख्य प्रकृति में अवयव भेद नहीं स्वीकार करते हैं।

श्री लोकमान्य तिलक के शब्दों में "वह प्रकृति सदैव एक से एक लगी हुई – बीच में थोड़ा सा भी अन्तर न छोड़ती हुई, एक समान ही है अथवा यह कहा जा सकता है कि वह अव्यक्त (इन्द्रियागोचर) और निरवयव रूप से

---

1. अतः प्रकृतेरनेकव्यक्तित्वेऽपि नैकत्वक्षति (1/126) सां0 प्र0 भा0)
'पुरूषभेदेन सर्गभेदेन च भेदाभावस्यैव एकशब्दार्थत्वात्' सांख्यतत्त्वविवेचनम् पृ0 3 सांख्यसंग्रहः ।
2. सांख्य प्रवचन भा0 1/128, में विष्णु पुराण को (1/2/20) उद्धृत करते हैं – शब्दस्पर्शविहीनंतद्रूपादिनिरसंयुक्तम् ।
रूपादि का जब प्रकृति में अभाव है तो सत्कार्यवाद के मत में इनकी उत्पत्ति का कारण कौन है? इसके उत्तर में वे कहते हैं कि गुणों का न्यूनाधिक संयोग ही शब्दादि उत्पत्ति का कारण है। जैसे – हरिद्रा –चूना संयोग रक्तवर्ण को उत्पन्न करता है।
(सां0 प्र0 भा0 1/62)

निरन्तर और सर्वत्र है।[1]

शांकर अद्वैत में प्रकृति का एकत्व और अनेकत्व

शांकर वेदान्त के अनुसार माया या अज्ञान एक ही है उसके एकता के बोधक प्रमाणों को प्रमुखता दी गई है।एक ब्रह्म के आश्रित अनेक अज्ञानों की कल्पना असंगत लगती है। अजामेकां0 इत्यादि श्रुतियों में अज्ञान की एकता को ही प्रश्रय दिया गया है।[2] ऋग्वेद में भी कहा गया है वह एक तत्त्व (ब्रह्म) अपनी शक्ति से बिना वायु के श्वास ले रहा था।[3] इन्द्रोः मायाभिः पुरूरूप इयते" इत्यादि अज्ञान प्रतिपादक श्रुतियों की यह कहकर व्यवस्था की गई है कि अज्ञान (मायाभिः) के लिए बहुवचन का निर्देश उसकी अनेक शक्तियों को सूचित करने के लिए किया गया है । आचार्य शंकर स्वयं एकाज्ञान के पक्षपाती थे। वे कहते हैं कि एक ही मायाबीज अनेक रूपों में अंकुरित हो जाया करता है।[4] सर्वज्ञात्ममुनि के अनुसार शंकर को माया का एकत्व अभीष्ट था। जीवों को विभ्रमित करने

---

1 स्वकारणद्रव्याणां न्यूनाधिकभावेनान्योऽन्यं संयोग विशेष एव हरिद्रादीनां संयोगस्य तदुभयारब्धद्रव्ये रक्तरूपादिहेतुत्वदर्शनात् । (सां0प्र0भा0 1/62)
सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य को अपने कारण में अव्यक्त रूप से स्वीकार करना चाहिए। गीता रहस्य पृ0 167, 11वां संस्करण, पूना-2।

2 अजामेकां0 श्वेता0 4/5

3 'अनीदवातं स्वधया तदेकं' ऋक्सूक्त संग्रह (सृष्टि सूक्त) (10/129/2)

4 उपदेशसाहस्री 17/27, पूना संस्करण 1925, तदेवैकं त्रिधा ज्ञेयं मायाबीजं पुनः क्रमात्। "इन्द्रो मायाभिः पुरूरूपईयते" इत्यादि श्रुति में 'मायाभिः' यह बहुवचन मायागत विचित्र अनेक प्रकार की शक्ति विशेष के लिए प्रयुक्त है। "तदुपाधिभूतमायाया एकत्वात्" "इन्दोमायाभिः पूरूरूपईयते" इत्यादि श्रुतौ मायाभिरिति बहुवचनस्य मायागतशक्ति विशेषाभि-प्रायतया" (वेदान्तपरिभाषा, पृ0 22)

वाली परमेश्वर की माया शक्ति जीव के अज्ञान से भिन्न नहीं है।[1] सर्वज्ञात्ममुनि स्वयं अज्ञान का एकत्व मानते हैं। आकाशादि एक ही अज्ञान से कल्पित हैं। माया और अविद्या एक ही हैं। ईश्वर की शक्ति माया दृश्य, जड, परतन्त्र तथा चिदाश्रय होने से अज्ञानात्मिका है। शुद्ध चेतन ही अज्ञान का आश्रय और विषय दोनों है।[2] वार्तिक प्रस्थान में भी अविद्या को एक ही माना गया है। सुरेश्वराचार्य का मत है कि यह अपने कार्य रूप में अनेक है स्वत: उसमें भेद की गन्ध भी नहीं है।[3] अविद्या अनात्म पदार्थो को विषय रूप से जन्म देती है। संसार की कोई भी वस्तु अविद्या का विषय नहीं हो सकती क्योंकि ये सब अविद्या मूलक हैं अत: ब्रह्म को ही अविद्या विषय करती है। तथा वही उसका आधार है। विवरण प्रस्थान में भी मूलाविद्या के नानात्व को नहीं स्वीकार किया गयाहै। बाद के आचार्यों ने ब्रह्म की शक्ति माया और जीव की उपाधि को अविद्या कहा है। पद्मपादाचार्य ने माया और अविद्या में भेद नहीं किया है। इन्होंने इसके लिए प्रकृति, अव्याकृत अग्रहण, अव्यक्त, तम, कारण, लयशक्ति, महासुसुप्ति, निद्रा और अक्षर शब्द का प्रयोग किया है।[4] विवरण—प्रमेय—संग्रहकार ने भी माया और अविद्या शब्दों

---

1 संक्षेपशारीरक 3/94

2 2/128–130, 2/169–171, 1/319
भेदं च भेद्यं च भिनत्ति भेदो, यथैवभेदान्तरमन्तरेण।
मोहं च कार्यं च विभर्ति मोहस्तथैव मोहान्तरमन्तरेण (सं0 शारीरक 1/53)

3 लिंगादिकार्यभेदेन साऽविद्याभिद्यते सदा
स्वतस्त्वदिया भेदोऽत्र मनागपि. न विद्यते। (सम्बन्धन्वार्तिक 4/3/1244)
एवं बृ0 उ0 भा0 वा0 4/3/1244, 4

4 पंचपादिका विवरण पृ0 98 (मद्रास गवर्नमेंट ओरियन्टल सीरीज, 19587
पं0 पा0 वि0 693 पृष्ठ
तस्मात् ब्रह्मैव स्वमायया अविद्यया वर्तते।

का प्रयोग पर्यावाची के रूप में किया है। डा0 ईश्वर सिंह ने 'भामती एक अध्ययन में' वाचस्पति के सिद्धान्त का आलोचनात्मक अध्ययन करते हुए कहते हैं कि एकाज्ञानवाद का प्रवाह भले ही वेदान्त का उन्नत सिद्धान्त माना जाता रहा हो किन्तु इसकी दुरूहता एवं दुर्गमता अत्यन्त प्रसिद्ध है।[1] इनका मत है कि एकाज्ञानवाद में बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था स्पष्ट रूपेण नहीं हो पाती।श्रीवाचस्पति मिश्र का मत उपयुर्क्त मतों से कुछ भिन्न है। वे कहते हैं कि हम प्रधानकारण के समान एक अविद्या को नहीं स्वीकार करते । यह तो प्रतिजीव भिन्न-भिन्न होती है। जिस जीव को विद्या लाभ होता है उसी की अविद्या नष्ट होती है अन्य की वहीं। जीवों के भेद का कारण अविद्या है। अविद्या एकत्व यदि स्वीकार करें तो एक जीव से विद्या का उदय होने से अविद्या का नाश हो जाएगा और इसके कार्यरूप समस्त संसार के ही उच्छेद का प्रसंग उपस्थित होगा। प्रतिजीवाविद्या के भेद को मानने से उपर्युक्त दोष की प्रसक्ति नहीं होती है।[2] यह भेद पारमार्थिक नहीं है। वाचस्पति के द्वारा मान्य इस सिद्धान्त में अनेक दोष हैं यथा प्रपंच जीवाश्रित अविद्या का परिणाम होने से जीव ही जगत्सृष्टा कहलाएगा। प्रतिजीव अविद्या भेद से भ्रम प्रतीति भी असाधारण होगी और जगत् साधारण की प्रतीति भी संभव नहीं हो सकती । सोऽकामयत स्वयमकुरूत, इत्यादि श्रुतिवाक्य तो ब्रह्म में काम और कृति का श्रवण कराते हैं। प्रपंच को जीवाश्रिताविद्या का परिणाम मानने पर ब्रह्म

---

1 पृ0 37, मंथन पब्लिकेशन, रोहतक

2 न वयं प्रधानवदविद्यां सर्वजीवेष्वेकामाचक्ष्महे ,... किन्तु इयं प्रतिजीवं भिद्यते (1/4/3 भामती), अविद्योपाधिभेदाधीनो जीवभेदो (भामती 1/4/3)

वाचस्पति के पूर्व ब्रह्मसिद्धिकारमण्डनमिश्र ने भी अनेक जीववाद के समर्थन के लिए मूलाविद्या के नानात्व को स्वीकार किया था । इनका ही अनुसरण वाचस्पति जी ने किया है। उद्धृत

डा0 सत्यदेवशास्त्रीकृत भामती एवं विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन, पृ0 43

जगत्कर्ता नहीं सिद्ध होता।[1] वाचस्पति इसका समाधान प्रस्तुत करते हैं कि अविद्या का आश्रय जीव है तथापि अविद्या क्योंकि निमित्त रूप से अथवा विषय रूप से ईश्वर का आश्रय लेती है, एतावता ही वह ईश्वराश्रया कहलाती है। इसलिए नहीं कि अविद्या का आधार ब्रह्म है।[2] विद्या स्वभाव ईश्वर अविद्या का आधार नहीं हो सकता। वेदान्तकल्पतरूकार ब्रह्मसूत्र के बालाक्याधिकरण में कहते हैं वाचस्पति ने वेदान्त वाक्यों का समन्वय जीव में न मानकर ब्रह्म में ही माना है। ब्रह्म ही जीवाविद्यादिक सकल प्रपंच का अधिष्ठान है, जीव नहीं। अतः प्रपंच के अधिष्ठानभूत ब्रह्म में ही वेदान्तवाक्यों का समन्वय उचित है। जिस प्रकार अविद्या का अधिष्ठानभूत शुक्ति आदि ही रजतादि विवर्त्त का उपादान है, अविद्या नहीं उसी प्रकार प्रपंच विभ्रम का अधिष्ठान ईश्वर है जीवाश्रित अविद्या नहीं।[3] अचेतन अविद्या प्रपंचविभ्रम के लिए परमेश्वर का निमित्त रूप से या उपादान रूप से आश्रय ग्रहण करती है। वाचस्पति का मत है कि श्रुतियों में अविद्या के लिए प्रयुक्त एक वचनान्तपद अव्यक्तम् ,अव्याकृतम्, अविद्यात्व सामान्य की दृष्टि से कहे गये हैं यद्यपि प्रतिजीवाविद्या भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार अविद्यात्व धर्म के कारण अविद्या का एकत्व है।[4]

विवरणकार प्रकाशात्मयति मूलाविद्या के एकत्व को ही स्वीकार करते हैं किन्तु व्यवहार निर्वाह के लिए (बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था के लिए) इसकी अवस्थाएं अनेक मानते हैं। जिस जीव को विद्यालाभ होता है वह मुक्त हो जाता है तदितर बद्ध ही रहते हैं। इस प्रकार अवस्थाभेद से जीवों के बन्ध और मोक्ष

---

1 वेदान्तकल्पतरू

2 भामती – 1/4/3

3 वेदान्तकल्पतरूपरिमल, पृ0 404

4 अविद्यात्वमात्रेण च एकत्वोपचारः अव्यक्तमिति च अव्याकृतमिति च। भामती, पृ0 378

की समुचित व्याख्या भी सम्भव है।[1] इसके अतिरिक्त विवरणकार का मत है कि विक्षेप की प्रधानता से जो माया है वही आवरण की प्रधानता से अविद्या है।[2] माया की आवरणशक्ति के द्वारा अज्ञानी व्यक्ति आत्मा को उसी प्रकार बँधा हुआ समझता है जिस प्रकार कोई मूर्ख व्यक्ति अपनी दृष्टि के सामने बादल होने से सूर्य को ही घनावृत मान लेता है।[3] परमात्मा की शक्ति के रूप में अविद्या और माया में भेद नहीं है परन्तु व्यवहार भेद से अविद्या और माया का भेद सिद्ध होता है।[4] शंकराचार्य ने माया की आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियाँ मानी है ।[5] विवरणप्रमेयसंग्रह के रचयिता ने जगत् के अनेक कार्यो की उत्पन्नकर्त्री शक्ति को माया एवं जीव की बुद्धि पर पर्दा डालने वाली शक्ति को अविद्या कहा है।[6] पंचदशी के अन्तर्गत सत्त्वगुण प्रधान माया और मलिन सत्त्वगुण प्रधान प्रकृति अविद्या है।[7] माया का स्वामी ईश्वर है जबकि जीव अविद्या का वशवर्ती है। जगत् प्रपंच का कारण माया ही है,अविद्या नहीं।

---

1 पंचपादिका विवरण, पृ0 99, मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियन्टल सीरीज, 1958

2 पृ0 32, पंचपादिकाविवरण ।
तस्माल्लक्षणैक्याद् वृद्धव्यवहारैचैकतत्त्वावगमादेकस्मिन्नापि वस्तुनि विक्षेप प्राधान्येन माया आच्छादन प्राधान्येनाविद्येति व्यवहारभेदः।

3 हस्तामलक – 10वाँ श्लोक

4. A Study of Samkar, Nalini Mohan Shastri p. 142, Calcutta 1942.

5 वाक्यसुधा 13, दामोदरशास्त्री द्वारा संपादित, बनारस संस्करण

6 (अच्युतग्रन्थमाला, काशी) 1/1

7 सत्त्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते । (1/16) एवं 1/17, भी दृष्टव्य है।

सदानन्द योगीन्द्र ने वेदान्तसार नामक लघु ग्रन्थ में अज्ञान की आवरण और विक्षेपशक्ति की चर्चा की है। आवरणशक्ति ब्रह्म को आवृत्त कर लेती है। जैसे अपने अज्ञान से ढंकी हुई रस्सी में सर्प होने की सम्भावना होती है, वैसे ही अज्ञान की इस आवरणशक्ति से आच्छन्न हुए आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि रूप तुच्छ संसार से युक्त होने की भावना भी सम्भव हो जाती है। माया की आवरणशक्ति से आवृत्त ब्रह्म का स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता और विक्षेप शक्ति से आवृत्त ब्रह्म रूप अधिष्ठान में, सूक्ष्मशरीर से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त समस्त जगत् की सृष्टि हो जाती है।

श्री सदानन्द योगीन्द्र ने वेदान्तसार में अज्ञान के एकत्व-अनेकत्व में सामंजस्य स्थापित करते हुए कहा है समष्टि के अभिप्राय से इसे एक व्यष्टि के अभिप्राय से अनेक कहा जाता है। यथा - वृक्षों को समष्टि के अभिप्राय से वन और व्यष्टि की दृष्टि से वृक्ष कहा जाता है। अज्ञान की समष्टि माया, ईश्वर की उपाधि है। यही सम्पूर्ण सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि का कारण है।[1] संक्षेप शारीरककार का मत है कि अज्ञान संस्फुरित होते हुए आत्म स्वरूप को आश्रय और विषय बनाता है। अपनी आवरण एवं विक्षेप शक्ति के द्वारा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढंककर जीव, जगत् तथा ईश्वर रूप मिथ्या विक्षेप करता है निर्विभाग होते हुए भी वह विभक्त हो जाता है।[2]

---

1 वेदान्तसार, पृ० 77, 89, पीयूष प्रकाशन, इलाहाबाद 1983

2 संक्षेपशारीरक 1/20

आच्छाद्या विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपम् ।

जीवेश्वरस्य जगदाकृतिभिमृषैव ।

अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगात् ।

आत्मत्वमात्रविषयाश्रयता बलेन ।

संक्षेप शारीरककार की सुबोधिनी टीका के प्रणेता पुरूषोत्तम मिश्र के अनुसार "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव (बृ0 उ0 2/5/19) तथा तदैक्षत बहुस्यां" (छा0 6/2/3) इस विषय में प्रमाण है कि जगत् की उत्पन्नकर्त्री माया शक्ति एक होते हुए भी विचित्र है। परवर्ती आचार्यों ने माया और अविद्या का भेद उपाधि के आधार पर कर दिया ईश्वर की उपाधि को माया एवं जीव की उपाधि को अविद्या कहा। शंकर के भाष्य ग्रन्थों में ऐसे कुछ स्थल हैं जहां पर इस भेद का आभास होता है । छान्दोग्यो0 में शंकर ने ईश्वर को विशुद्धोपाधि से सम्बद्ध बताया है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में शंकर का कथन है कि निरतिशय उपाधि से सम्पन्न ईश्वर अत्यन्त हीन उपाधि से युक्त जीवों पर शासन करता है।[1]

माया और अविद्या भेद से माया को अनेक नहीं कहा जा सकता। जैसे – जीव और ब्रह्म एक हैं, वैसे ही माया और अविद्या एक ही है। दोनों के विचार एक दूसरे से पृथक नहीं है। दोनों मतों का विवेचन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अज्ञान एक है। जगत् के पारस्परिक व्यवहार के लिए जगत् का उपादान कारण एक ही होना चाहिए जिससे जगत् की प्रतीति सबको सामान्य रूप से हो सके। सांख्यमत में जहां प्रकृति को एक कहा गया है वहीं पुरूषों का नानात्व भी स्वीकार किया गया है। प्रत्येक जीव के साथ संयुक्त बुद्धि आदि भिन्न-भिन्न होने पर भी एक ही वस्तुरूप प्रकृति से उत्पन्न कहे गए हैं। प्रकृति का अनेकत्व उसके विकारों की दृष्टि से कहा गया है। सम्पूर्ण विकार माया या प्रकृति से उत्पन्न एवंच उसी में लीन होते है।

---

1 छा0 भाष्य 3/14/2, ब्रह्मसूत्र शा0 भा0 2/3245

वस्तुतः समस्या शांकर अद्वैत में उत्पन्न होती है जहां जीव, जगत्, ईश्वर सब कुछ मिथ्या कहा गया है। शंकर के मत में 'ब्रह्मैव जीवः स्वयम्'[1] ब्रह्म जीव में पारमार्थिक भेद नहीं है। जीव ब्रह्मस्वरूप ही है। इस मत में ब्रह्मातिरिक्त अन्य किसी भी सत्ता का सर्वत्र निषेध किया गया है। ब्रह्म की उपाधि या शक्ति के रूप में ही माया या प्रकृति को स्वीकार किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से जीव, जगत्, ईश्वर आदि द्वैतभाव को शंकर स्वीकार करते ही है।

*****

---

1 विवेकचूडामणि – 395

तृतीय अध्याय

जड–चेतन सम्बन्ध

प्राकृतिक सर्ग जड–चेतन का सम्मिश्रण है। यह सांख्य एवं शांकर अद्वैत दोनों ही मतों में निर्विवाद रूप से स्वीकृत है। आत्म–अनात्म का परस्पर अध्यास और अध्यास के कारण होने वाले अहमिदं, ममिदं आदि सांसारिक व्यवहार जड–चेतन के तादात्म्यभाव का ही परिणाम है। मुक्ति की दशा में पुरूष या आत्मतत्त्व स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है[1] और अज्ञानावस्था में जड–चेतन का परस्पराध्यास देखा जाता है। सांख्यकारिकाकार के अनुसार –

पुरूषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।[2]

उपर्युक्त कारिका में कारिकाकार प्रकृति–पुरूष संयोग के प्रयोजन का कथन करते हैं। निर्गुण पुरूष का भोग एवं मोक्ष दोनों ही प्रयोजन प्रकृति-पुरूष संयोग द्वारा ही सम्पन्न होते हैं – '........ संयोगपरम्परायाभोगोयसंयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यत इति युक्तम्।[3] महाभारत, गीतादि प्राचीन ग्रन्थों में भी जड–चेतन सम्बन्ध की चर्चा की गई है। महाभारत में कहा गया है कि प्रकृति से संयुक्त होकर नित्य–शुद्ध–बुद्ध–मुक्त और अमूर्त होते हुए भी पुरूष सर्ग और प्रलय रूप में सबको दिखाई पड़ता है। निर्गुण होने पर भी पुरूष गुणवान् प्रतीत होता है।[4] जिस प्रकार मानव शरीर की उत्पत्ति के लिए स्त्री–पुरूष दोनों का संयोग आवश्यक है उसी प्रकार सृष्टि के लिए जड–चेतन सम्बन्ध आवश्यक है।[5]

---

1. बुद्धि पुरूष संयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः (योगसूत्र 2/25 पर व्यासभाष्य)

   ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यता हानि कृतकृत्यता चेति। शां. भा. ब्र. सू. 7/2/4
2. सां0 का0 – 21
3. तत्त्वकौमुदी – 21
4. 12/291/40, महाभारत ।
5. 12/293/13, 14 महाभारत ।

श्रीकृष्ण गीता[1] में कहते है कि मैं ही जगत् की उत्पत्ति एवं प्रलयादि हूँ। मुझसे अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं है। आगे वे जीवरूप परा प्रकृति और जडरूप अपरा प्रकृति की चर्चा करते हुए इन्हीं दोनों प्रकृतियों से सम्पूर्णभूतों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। ये दोनों ही प्रकृतियां ईश्वराश्रित हैं। आचार्य शंकर भी यह स्वीकार करते हैं कि सम्पूर्ण लोक व्यवहार सत्य–अनृत का मिथुनीकरण करके ही होता है – सत्यानृतेमिथुनीकृत्य 'अहमिदं' 'ममेदं' इति नैसर्गिकोऽयं लोक व्यवहारः।[2] सत्य है – चिदात्मा और अनृत है – बुद्धीन्द्रियदेहादि जडतत्त्व।[3] अहमिदं इत्यादि जगत् व्यवहार आत्मा में अनात्म भाव और अनात्म में आत्मबुद्धिरूप परस्पराध्यास के बिना नहीं हो सकता। कारण कि ऐक्यज्ञान हो जाने पर सर्वकर्तव्यता की हानि एवं कृतकृत्यता होती है।[4] बृहदारण्यको0 में कहा गया है जिस अवस्था में तत्त्वज्ञानियों के लिए सब कुछ आत्मा ही हो गया हो, वहां कौन, किससे, किसको देखे एवं किससे जाने?[5] देहेन्द्रियादि के अभिमानी जीव में ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप सांसारिक व्यवहार हो सकते हैं – न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते।[6] अभिप्राय यह है कि जड सृष्टि एवं सृष्टिगत जीवों का व्यवहार तभी संभव है जब जड–चेतन का सम्बन्ध या संयोग हो। इस विषय में प्रश्न यह उठता है कि ये दोनों ही तत्त्व विरूद्ध स्वभाव वाले कहे गए हैं। क्या इनका सम्बन्ध संभव है ? यदि हॉं, तो यह किस प्रकार का सम्बन्ध

---

1 7/4, 5, 6

2 अध्यासभाष्य ब्र0 सू0 शां0 भा0

3 'सत्यं चिदात्मा, अनृतं बुद्धीन्द्रियदेहादि ते द्वे धर्मिणी मिथुनीकृत्य युगलीकृत्येत्यर्थः' भामती (1/1/1) अध्यासभाष्य

4 'ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानि कृतकृत्यता चेति' शां0 भा0 ब्र0 सू0 1/1/4

5 आत्मनंचेद्विजानीयादयमस्मीति पुरूषः। किमिच्छन कस्य कामाय शरीरमनुसज्वरेत् । बृ0 उ0 (4/4/12)

6 ब्र0 सू0 शां0 भा0 अध्यासभाष्य

है ? वास्तविक है या कल्पित ? इसे किस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है ? क्या यह सम्बन्ध आकस्मिक है अथवा अनादि ? अनन्त है या सान्त ? क्या इसका कोई कारण भी है या यह सम्बन्ध अहेतुक ही है ? जड–चेतन सम्बन्ध से जुड़े इन सारे प्रश्नों का इस अध्याय में विचार किया जा रहा है ।

जड–चेतन अत्यन्त भिन्न हैं

दोनों ही दर्शनों के अनुसार जड और चेतन अत्यन्त भिन्न–भिन्न हैं। अत्यन्त भिन्न तत्त्वों का सम्बन्ध या मिथ्या तादात्म्य भाव कैसे स्थापित हो जाता है ? सर्वप्रथम जड–चेतन की भिन्नता का दोनों दर्शनों के अनुसार वर्णन किया जाएगा । सांख्यशास्त्र के अनुसार आत्मतत्त्व निरूपाधिक, निर्गुण, चेतन अक्षर, अमृत, निर्द्वन्द्व, अविनाशी, कूटस्थ, क्षेत्रज्ञ एवं स्वयं प्रकाश है[1], जबकि प्रकृतितत्त्व जड होने पर प्रकाश्य और अविवेकी है। क्षर, त्रिगुण, विकारी, प्रसवधर्मी, विषय तथा भोग्य है।[2] माठरवृत्ति में लिखा है जो अविवेकी होगा वह विषय होगा, जो विषय होगा वह सामान्य होगा, जो सामान्य होगा वह अचेतन होगा और अचेतन प्रसवधर्मी होगा । माठरवृत्ति में प्रकृति का विषयत्व, भोग्यत्व, अचेतनत्व और परिणामित्व आदि उसके त्रिगुणात्मकता के आधार पर सिद्ध किया गया है।[3] महाभारत[4] में कहा गया है कि गुणत्रय अविवेकी होने के कारण कुछ भी नहीं

---

1 साक्षी, चेतो, केवलो, निर्गुणश्च (6/11) श्वेताश्वतरो0
केवलो निरूपाधिका निर्गुणः सत्त्वादिगुणरहितः 6/11 श्वेता0 उप0 पर शां0भा0

2. 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं' श्वेता0 (1/10)

3. यत् अविविक्तं तद्विषयं, यद्विषयं तत्सामान्यं तदचेतनम्; यदचेतनम् तत् प्रसवधर्मि । माठरवृत्ति, सां0 का0 14
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ।। सां0 का0 11

4 महाभारत – शान्तिपर्व /238/1

जानते किन्तु पुरूष उसको भी जानता है –'ते चेनं न प्रजानान्ति स तु जानाति तानपि' इससे प्रकृति का जडत्व ही सिद्ध होता है। कठोपनिषद् में आत्मा को जडतत्त्व का अधिष्ठाता कहा गया है। इसी उपनिषद में कहा गया है – शरीर यदि रथ है तो आत्मा रथी है।[1] योगसूत्रकार के अनुसार गुणत्रय दृश्य है, भोग्य हैं, जबकि, चेतन द्रष्टा, चिन्मात्र एवं ज्ञानस्वरूप है।[2]

शांकर अद्वैत मत में भी आत्मानात्म प्रकाश एवं तमस् वत् अत्यन्त विरूद्ध स्वभाव वाले कहे गए है। इनका विरोध प्रदर्शित करने के लिए इन्हें प्रत्यक – पराक् चिदचित् ग्राहक – ग्राह्य शब्दों से अभिहित किया गया है – 'विषयविषयिणोस्तमः प्रकाशवद्विरूद्धस्वभावयोः।[3] संक्षेपशारीरककार के अनुसार ईश्वर की मायाशक्ति (प्रकृति) जड, दृश्य, परतन्त्र एवं चिदाश्रित होने से अज्ञानात्मिका है।[4] इस प्रकार आत्मानात्म में विरोध दोनों ही दर्शनों में मान्य है किन्तु कुछ अंशों में वैमत्य भी है— सांख्य में पुरूष – प्रकृति दोनों को ही अमूर्त, अचल, स्थिर, अप्रत्यक्ष, अलिंग एवं अनादि कहा गया है। इस दर्शन में प्रकृति की सत्ता एवं उसका स्रष्टृत्व, वास्तविक स्वीकार किया गया है । महाभारत में याज्ञवल्क्य और जनकसंवाद में, जहां सांख्य का उपदेश हुआ है, वहां यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ज्ञान में रत सांख्यवादी प्रकृति-पुरूष का भिन्नत्व प्रतिपादित

---

1. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु । कठो0 1/3/3, द्रष्टव्य महाभारत 12/238/2
2. योगसूत्र 2/18, 2/20
3. ब्र0 सू0 शां0 भा0 प्रस्तावना । एवं नन्वेवमात्मानात्मनोः पराक्प्रत्यक्त्वेन चिदचिदत्वेन ग्राह्यग्राहकत्वेन च विरोधस्तमः प्रकाशवदैक्यस्य तादात्म्यस्यवानुपपत्तौ । भाष्यरत्नप्रभा गोविन्दानन्दकृत, पृ0 5
4. 2/169–171 संक्षेपशारीरक

करते हैं। जिस प्रकार मूँज के भीतर की सींक मूँज से भिन्न है वैसे ही प्रकृति से पुरूष भिन्न है।[1] गीता में भी प्रकृति-पुरूष दोनों का अनादित्व स्वीकार किया गया है – प्रकृति पुरूष चैव विद्वय उभावपि। भागवतपुराण में प्रकृति और पुरूष को शरीर और आत्मा की भांति अत्यन्त भिन्न कहा गया है।[2] यद्यपि प्रकृति–पुरूष स्वरूपतः विलक्षण हैं तथापि वे आपस में इतने घुल–मिल गए हैं कि साधारण पुरूष उनके भेद को नहीं जान पाता –

प्रकृतिः पुरूषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ ।
अन्योन्यापाश्रयात् कृष्ण दृश्यते न भिद्यतयोः।।[3]

सांख्यकारिकाकार[4] के अनुसार – 'तस्माच्च, विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरूषस्य' इत्यादि कारिका में त्रिगुण से वैषम्य के कारण पुरूष का साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्ट्टत्व और अकर्तृत्व सिद्ध होता है। इसके विपरीत प्रकृति त्रिगुण, अचेतन भोग्य, प्रसवधर्मी, दृश्य एवं क्रियाशील मानी गयी है।[5]

शांकरमत में विकारी अचेतन जडतत्त्व की वास्तविक सत्ता नहीं है किन्तु यत्किंचिन्मात्र सत्ता अवश्य स्वीकृत है। यह ब्रह्म सदृश पारमार्थिक नहीं है। सत् ज्ञान से इसकी सत्ता बाधित हो जाती है। ब्रह्म एवं प्रकृति तत्त्वतः विपरीत नहीं हैं बल्कि प्रकृति का अस्तित्व आत्मतत्त्व पर ही आश्रित है। ब्रह्म कारण है, अचेतन उसका कार्य है दोनों की समानान्तर सत्ता स्वीकार नहीं की

---

1. 12/303/7, 8, 12, 13; 12/295/12
2. 11/22/29, भागवतपुराण द्वितीय खण्ड, गीता प्रेस, गोरखपुर
3. 11/22/26
4. सां0 का0 19 एवं 18
5. सां0 का0 13

गई है। सांख्य में प्रकृति–पुरूष दोनों ही विभु एवं अपरिच्छिन्न हैं।[1] प्रकृति सर्वगत है अखिल ब्रह्माण्ड में यह पुरूषवत् व्याप्त है। उत्पत्ति रहित होने से वह अलिंग है।[2] शांकरमत में आत्मतत्त्व से बढ़कर या उसके सदृश कोई अन्य तत्त्व नहीं है। वह सर्वव्याप्त है, सबका अधिष्ठान एवं मायाशक्ति से सबका कारण भी बनता है।[3] सांख्यमत में प्रकृति स्वतन्त्र है जबकि अद्वैतमत में प्रकृति ब्रह्म की शक्ति या उपाधिभूत होने से उसके समान नहीं हो सकती। ब्रह्म की शक्ति ब्रह्म से परिच्छिन्न है। ब्रह्म व्यापी है उसकी शक्ति व्याप्त है –

> तथाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नसंसारिणम— —वलोकयितृबुद्धिपिधाय–कतयाच्छादयतीव, तादृशं सामर्थ्यम्[4]

इस विषय में आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं – चिदचित् अत्यन्त विरूद्व स्वभाव वाले हैं तो इनका परस्पराध्यास कैसे हो सकता है। असंग चेतन का जड प्रकृति के साथ साक्षात् सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है।[5] शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य में यही प्रश्न उठाया है। अन्धकार–प्रकाश के समान विरूद्ध स्वभाव वाले आत्मानात्म का इतरेतराध्यास कैसे सम्भव है?[6] अनध्यस्त आत्मभाव वाले

---

1. अहेतुमान्नित्यो व्यापी निष्क्रियएकोऽनाश्रितोऽलिंगो निरवयवः स्वतन्त्रः सां0 का0 12 पर माठरवृत्ति ।
2. व्यापीसर्वगतत्वात् आब्रह्माण्डपर्यन्तं पुरूषवत् व्याप्य प्रधानमवस्थितम्। निष्क्रियम् सर्वव्यापकत्वात् । एकं सर्वकारणत्वात् । .. अलिंगमनुत्पत्ति। माठरवृत्ति 10
3. न कृत्स्न ब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किंत्वेकदेशभाक्। घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येववर्तते| पंचदशी 2/54
4. वेदान्तसार 16
5. निःसङ्गतया चेतनस्याविद्याशक्तियोगः साक्षान्न सम्भवतीति 5/13 सां0प्र0भा0
6. तमः प्रकाशवद्विरूद्धस्वभावयोरितरेतरभावनुपपत्तौ सिद्धाया तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावनुपपत्तिः, उपोद्घातः ब्र0 सू0 शां0 भा0 ।

शरीर से अहं, इदं आदि लोक व्यवहार भी संभव नहीं है।[1] श्रुति में भी कहा गया है – आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।[2] गीता में श्रीकृष्ण कहते है – पुरूषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।[3] अभिप्राय यह है कि शरीरेन्द्रियादि से युक्त हुआ जीवात्मा ही कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि का अभिमान करता है। भागवतपुराण में कहा गया है कि जगत् में छोटे–बड़े, मोटे–पतले जितने भी पदार्थ हैं वे सब प्रकृति और पुरूष दोनों के संयोग से ही सिद्ध होते हैं।[4] सांख्यकारिका के मत में 'तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्।'[5] सांख्यसूत्रकार भी सांसारिक व्यवहार के लिए नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वरूप आत्म तत्त्व का, जड तत्त्व से सम्बन्ध स्वीकार करते हैं क्योंकि सम्बन्ध हुए बिना ममिदं, अहमिदं कोई भी व्यवहार नहीं संभव है।[6] योगसूत्रकार के अनुसार 'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुरिति'।[7]

आत्म–अनात्म सम्बन्ध का स्वरूप :

उपयुर्क्त विवेचन में आत्म–अनात्म तत्त्व की भिन्नता एवं दोनों तत्त्वों के सम्बन्ध की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है। उक्त सम्बन्ध को लेकर

---

1. 'न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते' ब्र0 सू0 शां0 भा0 अध्यासभाष्य
2. कठो0 1/3/4 एवं अनीशश्चात्माबध्यते भोक्तृभावात् 1/8 श्वेता0
3. गीता – 13/21
4. अणुः, बृहत्, कृशः, स्थूलो, यो यो भावः प्रसिध्यति । सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरूषेण च । 11/24/16 (द्वितीय खण्ड)
5. सांख्यकारिका – 20
6. न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते । सां0 सूत्र 1/19 एवं0 प्र0 भा0
7. 2/17 योगसूत्र

अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं – सांख्यमत में जब दोनों ही तत्त्व अनादि, विभु और व्यापक हैं तो इनके संयोग का प्रश्न क्यों उठता है? सम्बन्ध परिच्छिन्नों का देखा जाता है। इन दोनों तत्त्वों में समवाय या संयोगादि सम्वन्ध नहीं हो सकता। समवाय दो अयुतसिद्धों का होता है। दो अत्यन्त भिन्न–भिन्न तत्त्वों का समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता। संयोग कर्मजन्य होता हैं इसलिए यह अनित्य होता है।[1] संयोग तीन प्रकार का होता है[2] – **द्वन्द्व कर्मज संयोग** – जब दोनों तत्त्व क्रियाशील होते हुए टकराएं जैसे – दो अंगुलियों का संयोग होता है। इसे उभय कर्मज भी कहते है। **सर्वकर्मज संयोग** – जब किसी पात्र में उड़द की दाल डाली जाए तो सभी दानों की सक्रियता से उनका परस्पर संयोग सर्वकर्मज संयोग है। **एक कर्मज संयोग** – जैसे स्थाणु और श्येन का होता है। ये तीनों ही संयोग पुरूष-प्रकृति में संभव नहीं है क्योंकि चेतनात्मा व्यापक एवं निष्क्रिय है, प्रधान जड एवं विभु है। इनमें स्वभाविक संयोग की भी कल्पना नहीं की जा सकती। यदि जल और मत्स्य या अग्नि और उष्णता के समान इनका स्वभाविक सम्बन्ध माने तो दोनों के ही नित्य होने पर मोक्षाभाव की प्रसक्ति होगी।[3] दूसरा प्रश्न यह है कि शांकराद्वैत में ब्रह्मातिरिक्त कुछ भी सत् नहीं है ऐसी स्थिति में सत् और अवस्तुरूप जड अनात्मतत्त्व का सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है? शंकराचार्य स्वयं कहते हैं कि – सतोर्हि द्वयोः सम्बन्धः संभवति, न सदसतोरसतोर्वा अर्थात् सम्बन्ध दो सत् पदार्थो का ही देखा जाता है। सत्–असत् अथवा दो असत् वस्तुओं का सम्बन्ध संभव नहीं है।[4]

---

1 संयोग विभु पदार्थों का नहीं देखा जाता ।

2 'चरक संहिता की दार्शनिक पृष्ठभूमि' डा० सन्तनारायण श्रीवास्तव कृत, पृ० 226

3 अन्यतकर्मज (एककर्मज) उभयकर्मजश्च संयोगोनैव प्रधानपुरूषयोः, विभुत्वात् निष्क्रियत्वात्। नास्ति स्वभाविकोऽपि। तयोर्नित्यत्वात् मोक्षाभावः स्यात्। माठरवृत्ति – का० 20, दिल्ली 1981

4 ब्र० सू० शां० भा० 2/1/18

सांख्य का इस विषय में समाधान इस प्रकार है कि प्रधान और पुरूष का संयोग किसी स्थान में दोनों की सहस्थिति रूप नहीं है।[1] कारण, पुरूष देश, काल और स्थान की सीमा से परे एवं अमूर्त है। प्रकृति भौतिक विकारों का कारण एवं द्रव्यरूप होते हुए भी अतिसूक्ष्मतत्त्व है।[2] दोनों के संयोग की स्थिति केवल विचार जगत् में ही संभव है। यदि संयोग वास्तविक हो, तो दोनों के विभु (व्यापक) एवं नित्य होने के कारण संयोगहान नहीं हो सकता एवं संयोग कल्पित हो तो संयोग के परिणाम स्वरूप होने वाले कार्य भी कल्पनामात्र ही होंगे। यर्थाथवादी सांख्य जगत् रूप कार्य को कभी तुच्छ या कल्पित नहीं कहता। उनके मत में 'प्रकृति वास्तवे च पुरूषस्याध्याससिद्धिः' अर्थात् प्रकृति की वास्तविक सत्ता है।[3] पुरूष के भोग एवं मोक्ष रूप पुरूषार्थ की सिद्धि प्रकृति के परिणामों द्वारा सिद्ध होती हैं।[4] अतः प्रकृति की वास्तविक सत्ता है। चिदचित् की उपस्थिति मात्र ही जगत् के विकास का कारण नहीं है क्योंकि वह नित्य ही है। वस्तुतः पुरूषों का प्रकृति के साथ अभेदापत्ति अर्थात् प्रकृति और पुरूष में विवेक न कर पाना ही पुरूष का प्रकृति के साथ संयोग में मुख्य कारण है। पुरूष का बन्धन

---

1 पातंजलयोगदर्शनम् पर योगसिद्धि नामक व्याख्या डा0 सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव कृत, पृ0 215

2 सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् ....। सां0 का0 8 एवं 'प्रधानपुरूषावतीन्द्रियौ तयोः' माठरवृत्ति सां0 का0 – 6

3 सांख्यसूत्र 2/5, योगसूत्र 2/19 पर व्यासभाष्य प्रकृति के व्यक्त न होने पर भी उसे वास्तविक कहा गया है – "यत्तन्निः सत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिंग प्रधानं"

4 कार्यतस्तत्सिद्धेः (सां0 सूत्र, 2/6)

है सृष्टि के विकास का कारण है।[1] इसी को अज्ञान, अविवेक, अविद्या और मिथ्याज्ञान आदि से कहा गया है। दोनों ही मतों में असंग, निर्गुण, आत्मतत्त्व का जड प्रकृति से संयोग वास्तविक नहीं हो सकता। सांख्यमत में आचार्य वाचस्पति मिश्र के अनुसार पुरूष सन्निधि के कारण पुरूष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ने से बुद्धि पुरूषवत् चेतन प्रतीत होने लगती है। चैतन्य तो वस्तुतः पुरूष है किन्तु चेतनता पुरूष सन्निधि के कारण प्रकृति में संक्रान्त सी हो जाती है। पुरूष प्रतिबिम्ब से युक्त होकर बुद्धितत्त्व जब पदार्थाकाराकारित होता है तव बुद्धिस्थपुरूषप्रतिबिम्ब, बुद्धिनिष्ठज्ञान का भोक्ता अभिमन्ता तथा कर्त्ता बनता है "बुद्धिर्हि पुरूषसन्निधानात् तच्छायापत्त्या तदरूपेव सर्वविषयोपभोगं पुरूषस्य साधयति। सुखदुःखानुभवो हि भोगः, स च बुद्धौ, बुद्धिः च पुरूषरूपेवेति सा च पुरूषमुपभोजयति।[2] सांख्यदर्शन का पूरकदर्शन योग है। अतः योगसूत्रकार के मत का उल्लेख करना यहां समीचीन होगा। योगसूत्र (2/6) के व्यासभाष्य में इस प्रकार वर्णित है – बुद्धि और पुरूष की अभिन्नरूपता की प्रतीति होने पर ही भोगों का अनुभव होता है। आचार्य पंचशिख ने ठीक ही कहा है – 'एकमेवदर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम्'[3]। आचार्य वाचस्पति का यह सिद्धान्त एक प्रतिबिम्बवाद कहलाता है। इसका वर्णन तत्त्ववैशारदी में भी आचार्य ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है –

---

1. Ofcourse; this proximity does not mean nearness in space (or time) rather it means that Purushbodha and Gunabodha from indistinguishable parts of the same idea and are cognised as identical by mistake (The Evolution of the Samkhya School of thought by Animasen Gupta, P. 20).

2 सांख्यकारिका – 37

3 1/4 योगसूत्र पर व्यासभाष्य

'बुद्धिदर्पणे पुरूष प्रतिबिम्बसंक्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः। तथा च दृशिच्छायाऽऽपन्नया बुद्धया संसृष्टा शब्दादयो विषया भवन्ति दृश्या इत्यर्थः।'[1] आचार्य विज्ञानभिक्षु आचार्य वाचस्पति मिश्र के मत को अस्वीकार करते हुए ज्ञान को पुरूषनिष्ठ स्वीकार करते हैं। इसके लिए वे द्विप्रतिबिम्बवाद की व्याख्या इस प्रकार से करते हैं – बुद्धि सन्निहित पुरूष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है जिससे बुद्धि चेतनवत् हो जाती है। यहां तक उन्हें वाचस्पति का मत स्वीकार है। विषयों के सम्पर्क से बुद्धि पदार्थाकारकारित हो जाती है। बुद्धि में पड़ा हुआ पुरूष प्रतिबिम्ब उस बुद्धि वृत्ति का ग्रहण नहीं करता बल्कि सन्निहित पुरूषतत्त्व में इस बुद्धिनिष्ठज्ञान का अर्थात् बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब पड़ता है। तब वह पुरूष तत्त्व उस ज्ञान का अभिमन्ता या बोद्धा बनता है।[2] आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि पुरूष की सिद्धि ही 'पुरूषोऽस्ति भोक्तृभावात्'[3] के आधार पर की गई है। यदि भोग को पुरूष में न मानें तो पुरूष की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं मिलेगा। यद्यपि यह सत्य है कि भोग बुद्धि द्वारा सम्पादित होता है किन्तु भोग को पुरूषनिष्ठ मानना आवश्यक है। पुरूष बुद्धिनिष्ठज्ञान का भोक्ता, कर्त्ता, अभिमन्ता और बोद्धा होते हुए भी वस्तुतः असंग ही होता है। जैसे – तटस्थ वृक्ष का प्रतिबिम्ब जब जल में पड़ता है तब जल के हिलने से वह भी हिलता हुआ प्रतीत होता है जल के स्थिर रहने पर वह स्थिर प्रतीत होता है। जल और वृक्ष का वस्तुतः संयोग न होने परभीजलगत दोषों से वृक्ष दूषित दिखाई पड़ता है, अथवा जैसे – स्वच्छ स्फटिक समीपस्थ जपाकुसुम के कारण लाल दिखाई पड़ती है। वस्तुतः वह जपाकुसुम की रक्तिमा से अणुमात्र

---

1 उद्धृत योगसूत्र 1/7 पर योगसिद्धि व्याख्या, पृ0 32

2 सां0 सूत्र – 1/99

कश्चित् तु बुद्धिगतया चिच्छायया बुद्धेरेव सर्वार्थज्ञातृत्वमिच्छादिभिर्ज्ञानस्य सामानाधिकरण्यानुभवादन्यस्य ज्ञानेनान्यस्य प्रवृत्त्यनौचित्याच्चेत्याह।....

पुरूषे प्रमाणाऽभावश्च, पुरूषलिंगस्य भोगस्य बुद्धावेव स्वीकारात्।

3 सां0 का0 – 17 उत्तरार्द्ध के आरम्भ की पंक्ति

भी दूषित/ नहीं हो पाती। इसी प्रकार का संयोग प्रकृति–पुरूष का भी होता है। प्रकृति के संयोग से पुरूष की असंगता भंग नहीं होती। असंग एवं कूटस्थ पुरूष, असंग और कूटस्थ ही रहता है। कीचड़ में उत्पन्न कमल की तरह प्रकृतिस्थ गुणों का भोग करते हुए भी पुरूष में किसी प्रकार का परिणाम या विकार उत्पन्न नहीं हो सकता। संग का तात्पर्य है – 'परिणाम हेतु भूत संयोग'[1] परिणाम का हेतु `अविद्या´ जिस पुरूष में है उसी के लिए प्रकृति प्रवृत्त होती है। मुक्त पुरूषों में अविवेकरूप हेतु नहीं होता अतः उनकी सन्निधि प्रकृति के लिए सृष्टि कारक नहीं है।[2] यद्यपि प्रकृति विभु है किन्तु इसके बुद्धि आदि कार्य परिच्छिन्न ही हैं अतः कार्य रूप परिच्छिन्नगुणावच्छेदेन पुरूष संयोग हो सकता है।[3] सांख्यवादी पुरूष बहुत्व को मानते है। एक पुरूष का एक बुद्धि के साथ जो सम्बन्ध है उसका कारण उस जीव की अविद्या या अज्ञान है।[4]

शांकर अद्वैतमत में न जीव है, न प्रकृति है, न बन्धन है, न मोक्ष है। अद्वितीय ब्रह्ममात्र ही सत्य है। ऐसी स्थिति में जड–चेतन का सम्बन्ध किस प्रकार संभव है? जैसा कि शंकराचार्य स्वयं कहते हैं – सम्बन्ध के लिए कम से कम दो तत्त्वों का होना आवश्यक है[5] और पदार्थो का परिच्छिन्न होना भी अनिवार्य है`मितानां च मितेन सम्बन्धो दृष्टो यथा नराणाम नगरेण।[6] शांकरमत में ब्रह्म

---

1 नापि संयोगमात्रं संगः परिणामहेतुभूत संयोगस्यैव संगशब्दार्थताया वक्तव्यत्वादि। (सां0 प्र0 भा0 1/19)

2 स चाविवेको मुक्तेषु नास्तीति न तेषां पुनः संयोगो भवतीति। सां0 प्र0 भा0 1/55

3. परिच्छिन्नगुणावच्छेदेन पुरूषसंयोगोत्पत्तेः सम्भवात्, 1/19 पर सां0प्र0भा0

4 यस्तु प्रत्यक्‌चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः, व्यासभाष्य, योगसूत्र 2/23 पर

तो सत् है किन्तु माया या प्रकृति न सत् है न असत् है, न सदसत् है। माया या प्रकृति की सत्ता के विषय में विस्तार से चर्चा द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है। यहां संक्षेप में इतना ही बताना पर्याप्त होगा कि प्रकृति सत्–असत् विलक्षण होते हुए भी शून्य या अभाव रूप नहीं है। यत्किंचित् इसकी सत्ता स्वीकार्य है। अज्ञानियों के लिए इसकी सत्ता किसी सत् वस्तु की भांति है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में स्वप्नद्रष्टा के लिए सारी घटनाएं सत्य प्रतीत होती हैं किन्तु जाग्रतावस्था में उनका बाध निश्चित है, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था के विषयों का बाध पारमार्थिक दृष्टि से हो जाता है । वस्तु दृष्टि से यह तुच्छ है किन्तु अज्ञान अवस्था में यह सत् है। जब किसी न किसी प्रकार से जड तत्त्व की सत्ता स्वीकृत है तब आत्मतत्त्व से उसका सम्बन्ध भी संभव है। शंकर स्पष्टतः कहते हैं यह सांसारिक व्यवहार सत्यानृत का मिथुनीकरण करके ही होता है। सत्य और अनृत दोनों अत्यन्त भिन्न–भिन्न है किन्तु दोनों के भेद ज्ञान का अभाव होने से एक का दूसरे में परस्पर अध्यास होता है।[1] आत्मानात्म का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है क्योंकि अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है। जैसे घटस्थ जल में प्रतिबिम्बित सूर्य, जल के कम्पित होने पर हिलता हुआ सा प्रतीत होता है वैसे ही अनादि अविद्याकृत बुद्धि आदि की उपाधि से उपहित आत्मा परिच्छिन्न सा प्रतीत होता है।[2] बुद्धि में प्रतिबिम्बित अविवेकवश देहादि में आत्मभाव सा प्राप्तकर तत्कृत सुख–दुःखादि से सुखी और दुःखी होता है। जीव का देहादि में आत्मभाव भ्रमनिमित्तक ही है, पारमार्थिक नहीं है।[3] माया या प्रकृति की स्थिति ब्रह्मगत

---

1 अविवेकेनात्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृतेमिथुनीकृत्यः 'अहमिदम्' 'ममेदं' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहार। अध्यासभाष्य, ब्र0 सू0 शां0 भा0

2 अतश्च यथा नैकस्मिंजलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, 2/3/50 एवं 2/3/47 ब्र0 सू0 शां0 भा0

3 देहेन्द्रियाद्युपाध्यविवेकभ्रम निमित्त एव दुःखाभिमानो न तु पारमार्थिकोऽस्ति। 2/3/46 ब्र0 सू0 शां0 भा0

ही है और वही उसका आश्रय है। जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को नष्ट कर देता है किन्तु नक्तन्चरों को उस प्रकाश में भी अन्धकार के दर्शन होते है, उसी प्रकार ब्रह्म में वस्तुतः माया का अभाव होने पर भी अज्ञानियों को ब्रह्म में माया के कारण जगत् रूप प्रपंच की प्रतीति होती है । ब्रह्म में माया की स्थिति अविद्यावस्था पर्यन्त है। जैसे शुक्ति में रजत की प्रतीति केवल शुक्ति का वास्तविक ज्ञान न होने के कारण होती है। शुक्ति का ज्ञान होते ही रजत सत्–असत् किसी भी प्रकार से सत्ता नहीं रखता। इसी प्रकार माया की स्थिति है। अज्ञानावस्था में जब तक माया सत् है उस समय तक उसका ब्रह्म से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध तो होता ही है। ब्रह्म यदि प्रकाशरूप है तो माया छाया के सदृश है। जैसे अव्यवहित रूप से प्रकाश को देखा जाए तो छाया का अस्तित्व नहीं रह जाता वैसे ही अपरोक्ष रूप से ब्रह्म को जानने पर अविद्या की सत्ता नहीं रह जाती।[1] माया और ब्रह्म का सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान जैसा है।[2] जिस प्रकार मायावी की शक्ति उससे पृथक नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म की शक्ति प्रकृति या माया उससे भिन्न नहीं है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है – "य एको जालवानीशत ईशनीभिः"[3] अर्थात् जो मायावी अपनी शक्ति से सभी लोकों का शासन करता है।[4] मायीति कूटस्थस्यापि स्वशक्तिवशात्सर्वस्रष्ट्त्वम् उपपन्नम् इत्येतत्।[5] उपनिषद् श्वेता० (1/3) में कहा गया है कि ऋषियों ने ध्यानयोग के द्वारा

---

1. शोध - प्रबन्ध, 'बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक – एक अध्ययन' डा० कौशल किशोर श्रीवास्तव कृत, पृ० 148, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
2. यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात् एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति। 2/1/9 ब्र० सू० शां० भा०
3. 3/1 श्वेताश्वतरो० पर शां० भा०
4. 'जालवान् जालं माया जालवान्मायावी इत्यर्थः' शंकर जालवान् का अर्थ मायावी करते है। 3/1 वही शां० भा०
5. 4/9 वही, शां० भा०

परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार किया था – ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् । देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूदाम[1] शंकराचार्य इसकी व्याख्या इस प्रकार करते है – मायावी परमेश्वर की आत्मभूता यह 'माया शक्ति' है न कि सांख्यकल्पित प्रधानादि के सदृश स्वतन्त्र शक्ति है।[2] यह शक्ति उसके स्वभाव से सम्बद्ध है – परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते । स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च।।[3] स्वभावतः सम्बन्धित होने का तात्पर्य है यह अनादि काल से ब्रह्म से संबद्ध है। लोक में शक्ति और शक्तिमान की गणना पृथक–पृथक नहीं की जाती है। अतः ब्रह्म की शक्ति माया या प्रकृति का परस्पर वही सम्बन्ध है जो शक्ति और शक्तिमान के मध्य होता है –

अतएव द्वितीयत्वं शून्यवन्न हि गण्यते ।
न लोके चैततच्छक्त्यो जीवितं लिख्यते पृथक ।।
सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणनाक्वचित् ।
शक्तिकार्य तू नैवास्ति द्वितीयं शक्यते कथम्।।[4]

शांकरअद्वैत में माया को ब्रह्म की उपाधि कहा गया है – निरतिशयोयाधिसम्पन्नश्चेश्वरो हीनोपाधिसम्पन्नांजीवान्प्रशास्तीति न किंचिद्विप्रतिषिध्यते।[5] निर्गुण ब्रह्म उपाधि के कारण ईश्वर बन जाता है।[6] नित्य, कूटस्थ और निर्गुण पुरूष न कर्त्ता है न भोक्ता किन्तु उपाधि के कारण जगत्कर्त्ता, नियन्ता, पालक एवं सैंहारक बन जाता है।

---

1 1/3 मन्त्र श्वेता0

2 1/3 पर शा0 भा0 मायिनो महेश्वरस्यपरमात्मन् आत्मभूतामस्वतन्त्रा न सांख्यकल्पितप्रधानादिवत्पृथग्भूतां स्वतन्त्रां शक्तिं कारणं अपश्यन्।

3. 6/8 श्वेता0, स्वभावतः सम्बद्धाऽनादि सिद्धेत्यर्थः। 6/8 श्वेता0 पर शंकरानन्द की व्याख्या।
ज्ञानक्रिया सर्वविषयज्ञानप्रवृत्तिः बलक्रिया स्वसन्निधिमात्रेण सर्वं वशीकृत्य नियमनम् ।

4 2/51, 2/53 पंचदशी

5 2/3/45 ब्र0 सू0 शां0 भाष्य

6 तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च। शां0 भा0 ब्र0 सू0 2/1/14

पंचदशीकार के अनुसार ईश्वर की उपाधि माया विशुद्धसत्त्वगुण प्रधान हे और जीव की उपाधि अविद्या मलिनसत्त्वगुण प्रधान है। शंकर जीव और ब्रह्म की उपाधि में भेद नहीं करते किन्तु परवर्ती आचार्यो ने माया अविद्या में भेद किया है। यह भेद केवल विषय को सुस्पष्ट करने के लिए किया गया है। वस्तुत· वे सब शंकर के विचारों से सहमत हैं। वाचस्पति मिश्र माया का आश्रय ब्रह्म तथा अविद्या का आश्रय जीव को मानते हैं। डा0 राधाकृष्णन इस विषय में यह कहते हैं कि इनमें से किसी का भी विचार एक दूसरे से पृथक नहीं है। व्यक्तिगत अविद्या या जीवोपाधि अविद्या और ब्रह्म की प्रकृति दोनों एक ही साथ उत्पन्न होते है।[1] माया और अविद्या की चर्चा द्वितीय अध्याय में विस्तार सेकी जा चुकी है। उपाधि के अर्थ पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि उपाधि वस्तुरूप नहीं है। जब कोई वस्तु अपने स्वरूप से भिन्न रूप से प्रकाशित हो तो भिन्नरूप में प्रकाशित होने का प्रयोजक या हेतु उपाधि है। ब्रह्म का जगत् रूप में प्रतीत होने का प्रयोजक माया है। उपाधि वस्तु के स्वभाव में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकती।[3] जिस प्रकार सूर्य या चन्द्रमा अंगुली आदि उपाधि के कारण अनेक दिखता हुआ भी वैसा नहीं होता अथवा इनका प्रकाश अंगुलि आदि की उपाधि से ऋजु वक्रभाव को प्राप्त होता हुआ भी वस्तुतः वैसा नहीं होता। शंकराचार्य के अनुसार उपाधि अविद्या द्वारा उपस्थापित होती है – 'उपाधिनिमित्तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्।'[4] मायारूप उपाधि से उपहित आत्मतत्त्व अवच्छिन्न रूप में भासित होता है। उपाधि की स्थिति एवं इसका ब्रह्म से सम्बन्ध अज्ञानावस्थापर्यन्त ही है। वस्तुदृष्टि से न जीव है, न जगत्।

---

1 भारतीय दर्शन – 2, पृ0 512

2. प्रयोजकश्चोपाधि इत्युच्यते 'तर्कभाषा'

3 2/3/46, ब्र0 सू0 शां0 भा0

4 3/2/15, 3/2/11, वही

वार्तिककार अविद्या और आत्मा के सम्बन्ध का विचार दो दृष्टियों से करते है – वस्तुवृत्ति और अविद्यावृत्ति। वस्तुवृत्ति – ब्रह्मदृष्टि ही वस्तुदृष्टि है। इस दृष्टि से अविद्या का ब्रह्म में सर्वथा अभाव है।[1] अविद्यावृत्ति आत्मा की ब्रह्म में स्थिति अविद्यावृत्ति से ही। जैसे – दिन होने पर भी उल्लूक के लिए तो रात्रि ही है वैसे ही अज्ञानियों के लिए माया और उसके प्रपंच सत् है जबकि ज्ञानी पुरूष के लिए सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है।[2] वस्तुतः विकारी अनात्म तत्त्व का निःसंगकूटस्थ आत्मा से वास्तविक योग संभव ही नहीं है।[3] अविद्या की ब्रह्म में कल्पना अज्ञानियों द्वारा ही की जाती है। इन दोनों के कल्पित सम्बन्ध को आचार्य आभासात्मक सम्बन्ध कहते हैं।[4] इस/ सम्बन्ध को आत्मात्मवत्त, प्रकल्पित, अविद्योत्संस्थ तथा अविचारितसिद्ध इत्यादि नामों से भी अभिहित करते हैं।[5] आत्मात्मवत्त का तात्पर्य है अविद्या ब्रह्म में रहती हुई उससे विजातीय नहीं है अपितु जब तक ज्ञान नहीं प्राप्त हो जाता आत्मा से तादात्म्य प्राप्त करके स्थित सी रहती है।[6] इनके सम्बन्ध को 'अविचारितसिद्ध' इसलिए कहा है क्योंकि अज्ञान और उसके कार्यो की सिद्धि वस्तुदृष्टि से हो ही नहीं सकती।[7] आत्मा की स्वतः सिद्धि होती है क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है किन्तु अचेतन जड होने के कारण उनकी सिद्धि चेतन द्वारा ही होती है। वार्तिककार के मत में जिस वस्तु

---

1 बृहदारण्यभाष्यवार्तिक 1/4/65, 178, 213–14, 311, 340

2 बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकसार प्रथम भाग, पृ0 222

3. बृ0 भा0 वा0, 4/3/1109, 1/2/305

4. 1/4/13, 23, 4/3/95, 4/3/1180, वही

5 वही 1/4/381, 1370

6 बृहदा0 भा0 वा0 सार 1/4/342 'आत्मात्मवत्त्वसम्बन्ध आत्माज्ञानयोर्मतः'

7 बृ0 भा0 वा0 सार 1/4/156

अविद्यावाऽथ तत्कार्यं न भेदान्नाऽप्यभेदतः ।

निरूप्यते यतोयतः स्थादविचारितसिद्धकम् ।। 1/4/23 वही

की सिद्धि पदार्थान्तर की अपेक्षा से होती है, वह पदार्थ रज्जु, सर्प, द्विचन्द्रादि के समान मिथ्या ही हुआ करता है।[1] आत्मा के साथ बुद्धि आदि से लेकर विषय पर्यन्त अनात्मा का यह सम्बन्ध आत्मात्यीयलक्षण[2] सम्बन्ध है। आत्मा का अर्थ होता है –'स्वरूप' जो कि अबाध्य है। आत्मा स्वयं अनात्मा नहीं हो सकती। माया प्रकृति या अनात्मतत्त्व की आत्मा में प्रतीति भ्रान्ति से होती है। न तो यह आत्मरूप ही कहे जा सकते है न भिन्न। भ्रम का निवारण होने पर रज्जु सर्प के सदृश ही अनात्मा का बाध होता है इनके सम्बन्ध को भिन्न, अभिन्न या उभयरूप या दोनों से भिन्न रूप में भी परिभाषित नहीं किया जा सकता है। वार्तिककार इस सम्बन्ध की 'अव्याकृताननुगत' कहते हैं।[3]

आत्म–अनात्म सम्बन्ध और ईश्वर

आत्मानात्म सम्बन्ध के विषय में उपनिषद् महाभारत, गीता एवं पुराणों में भी चर्चा हुई है। इन ग्रन्थों में सांख्यदर्शन की चर्चा कहीं स्पष्ट और कहीं अस्पष्ट रूप से हुई है। इन प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त सांख्य विषयक वर्णन को विद्वान् सांख्य का आद्यरूप कहते है। इसकी विस्तृत चर्चा प्रथम अध्याय में की जा चुकी है। यहां पर उपनिषदादि में प्राप्त सांख्यविषयक वर्णन का उल्लेख करना अनावश्यक न होगा क्योंकि इनमें प्रकृति–पुरूष संयोग में ईश्वर की भी चर्चा की गई है जो कि परवर्ती सांख्य में नहीं मिलती। आचार्य शंकर ने जड–

---

1 बृ0 भा0 वा0 सार 1/4/388

2 'कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध' भी कह सकते हैं।

बुद्ध्यादेर्विषयान्तस्य, स्वसामर्थ्यादसिध्यतः

आत्मना सह सम्बन्ध आत्मात्मीयत्वलक्षणः । 1/4/662 वही ।

3 अबाध्यत्वात् स्वरूपत्वाद्बाध्येनाऽनात्मना सह अव्यावृत्ताननुगतं संगत रज्जुसर्पवित् । 1/4/663

चेतन, जीव और जगत् आदि की व्याख्या के लिए ईश्वर या ब्रह्म को सर्वोच्च सत्ता के रूप में सर्वत्र स्वीकार किया है और अपने कथनों को उपनिषदों, महाकाव्यों पुराणों एवं स्मृति वाक्यों से पुष्ट किया है। अतः अद्वैतमत की दृष्टि से उपनिषदादि में जड–चेतन सम्बन्ध और उसमें ब्रह्म की भूमिका की/पुनः चर्चा करना अनावश्यक होगा। अतः यहां उपनिषदादि में 'आत्मानात्म सम्बन्ध और ईश्वर' की चर्चा निरीश्वरवादी सांख्य के संदर्भ में की जा रही है । आत्मानात्म का सम्बन्ध न संयोग है, न स्वभाविक' इस विषय में विचार किया जा चुका है। दो भिन्न तत्त्वों में सम्बन्ध स्थापित कराने वाला क्या कोई परमतत्त्व भी है? यदि नहीं, तब इनके बीच होने वाले सम्बन्ध को किस तरह परिभाषित किया जा सकता है। इस विषय में उपनिषद् परब्रह्म को ही सर्वोच्च सत्ता के रूप में मानते हैं। ईश्वर, जीव एवं प्रकृति ये तीनों ही ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं।[1] परब्रह्म शरीरेन्द्रिय से रहित होता हुआ भी अपनी पराशक्ति से पृथ्वी आदि का नियन्ता, शासक एवं निरीक्षक है।[2] पृथ्वी आदि की सृष्टि करके वही परमेश्वर आत्मा का पृथ्वी आदि तत्त्वों से संयोग करवाता है –

'तत्कर्म कृत्वा विनिर्वत्यभूय –
स्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् ।'[3]

श्वेता० उपनिषद् में कहा गया है उन्हीं जीवों का शरीरेन्द्रिय से संयोग होता है जिनमें संयोग का निमित्त अविद्या विद्यमान होती है 'आदिःस संयोग निमित्त हेतुः'[4]। महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है कि प्रकृति - पुरूष दोनों ही

---

1 श्वेता० 1/7

2 'तस्मिंत्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च' (श्वेता० 6/8) एवं नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय (6/17 श्वेता०)

3. 6/3 श्वेता०

4 6/5 श्वेता०

तत्त्व सूक्ष्म किन्तु पृथक्–पृथक् हैं – एक दृश्य है, दूसरा दृष्टा। भिन्न होते हुए भी संसारावस्था में मिलितभाव से रहते हैं। दोनों में वही सम्बन्ध है जो जल और मत्स्य का होता है।[1] साथ–साथ रहते हुए भी पुरूष, प्रकृति के विकारों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे कीचड़ में स्थित कमल[2] अथवा जिस प्रकार पानी के स्पर्श से मत्स्य कभी लिप्त नहीं होती[3] या जैसे मिट्टी की हंडियाँ और अग्नि पृथक्–पृथक् हैं,[4] दोनों के भेद नित्य हैं फिर भी हंडिया के स्पर्श से अग्नि असंस्पृष्ट ही रहती है। जिस प्रकार मूँज के अन्दर स्थित इषीका मूँज से भिन्न होने पर भी सम्प्रयुक्त है, वैसे ही बुद्धि और पुरूष दोनों ही एक दूसरे में प्रतिष्ठित है।[5] साधारण पुरूष इनके नित्य निवास एवं सह–स्थिति को नहीं जान सकते। दोनों को एक रूप में समझना ही जीव के बन्धन का कारण है।[6] इन तत्त्वों के अतिरिक्त महाभारत में ईश्वर की भी चर्चा छब्बीसवें तत्त्व के रूप में हुई है।[7] जनमेजय–वैशम्पायन संवाद में ईश्वर, ब्रह्म या परमार्थतत्त्व परमात्मा को विराट् पुरूष, विश्वभुज, विश्वपाद और विश्वनयन भी कहा गया है। यह अकेला ही स्वेच्छा से होकर सर्वत्र भ्रमण करता है।[8] पुरूष – प्रकृति का अधिष्ठाता या नियन्ता, ब्रह्मादि पुरूष, श्रेष्ठ पुरूष अर्थात् ईश्वर ही है क्योंकि अनादि, अनन्त, दीप्तिमान, अजर, अमर, अव्यय, नित्य, अगोचर और अविज्ञेय

---

1 12/303/15
2. 12/303/16
3. 12/303/15
4. 12/303/16, 17
5. 12/303/12, 13; 12/240/21, 22
6. 12/291/42, 48; 12/306/68
7. 12/296/13, 14
8. 12/339/3 – 9

ब्रह्म सृष्टि के पूर्व भी विद्यमान था।[1] महाभारत के उपयुर्क्त वर्णन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है –

1 प्रकृति–पुरूष जल और मत्स्य, मूँज या इषीका के सदृश संसारावस्था में मिलित भाव से रहते हैं ।

2 प्रकृति–पुरूष का परस्पर अध्यास या तादात्म्यभाव का कारण जीव की अविद्या है ।

3 प्रकृति–पुरूष का अधिष्ठाता या नियन्ता ईश्वर है ।

प्रकृति–पुरूष संयोग की जो समस्या निरीश्वरवादी सांख्य में उत्पन्न होती है महाभारत में उसके लिए अवकाश नहीं है । श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कहा गया है ब्रह्म अपनी पराप्रकृति अर्थात चेतन प्रकृति और अपरा प्रकृति अर्थात् अचेतन या जड प्रकृति द्वारा सम्पूर्ण जगत् का कारण है।[2] परमेश्वर की त्रिगुणमयी प्रकृति गर्भधारण करने वाली है और बीज का स्थापन करने वाला चेतन ब्रह्म है। श्रीकृष्ण कहते हैं – ये प्रकृति–पुरूष मुझसे अतिरिक्त नहीं है। मैं सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हूँ।[3]

अहिर्बुध्न्य संहिता एवं पुराणों में आत्म–अनात्म सम्बन्ध

पांचरात्रागम से सम्बन्धित अहिर्बुध्न्य संहिता है। इस संहिता में सांख्यदर्शन का प्रसंगत: उल्लेख हुआ है। इसमें सांख्यदर्शन के प्राचीनग्रन्थ षष्टितन्त्र के अध्यायों का परिगणन भी किया गया है । इस संहिता के अनुसार

---

1. 12/224/11, 31
2. 7/6 गीता
3 श्रीमद्‌भगवद्‌गीता

मृदादिवत्परिणामिनी प्रकृति अनेकात्मक जगत् का कारण है।[1] पुरूष कूटस्थ होने पर भी सन्निधिमात्र से कारण बनता है।[2] प्रकृति की प्रवृत्ति भगवान् विष्णु की इच्छाशक्ति से प्रेरित काल के प्रभाव से होती है।[3] काल ईश्वर की संकल्प शक्ति से पृथक सत्ता रखता है। यह एक ऐसा तत्त्व है जो प्रकृति-पुरूष का संयोजक एवं विभाजक है। इस संहिता में आए सांख्य सम्बन्धी वर्णन की निम्नलिखित विशेषताएं प्रकाश में आती हैं। नानारूप जगत् की रचना में प्रकृति-पुरूष सन्निधि के अतिरिक्त ईश्वर की संकल्पशक्ति और काल[4] का प्रभाव भी आवश्यक है।[5] प्रकृति-पुरूष संयोग में काल की भूमिका का वर्णन निरीश्वरवादी सांख्य में नहीं कहा गया है। भागवत पुराण में भी काल की चर्चा हुई है। इस पुराण में कहा गया है कि काल के प्रभाव से गुणत्रय में क्षोभ होता है।[6] यहां काल प्रकृति से विकसित कोई तत्त्व नहीं है अपितु ईश्वर के अलौकिक प्रयास के रूप में स्वीकृत है।[7] काल के द्वारा प्रकृति का स्थूल जगत् में परिणमन होता है। यह ईश्वर की अन्तर्निहित शक्ति के रूप में अस्तित्व रखता है।[8] ईश्वर आन्तरिक दृष्टि से तो मनुष्य में उसके समस्त अनुभवों के नियन्त्रक या अन्तरात्मा के रूप में अभिव्यक्त होता है तथा बाह्य दृष्टि से अनुभव के विषयों में काल

---

1 अन्यूनानतिरिक्तं यद्गुण साम्यं तमोमयं ।
तत् सांख्यैर्जगतो मूलं प्रकृतिश्चेति कथ्यते। (7/1)
पयोमृदादिवत् प्रकृतिः परिणामिनी (7/5)

2. पुमानपरिणामी सन् संनिधानेन कारणम् । कालः पचति तत्त्वे द्वे प्रकृतिं पुरूषं च ह। (7/6)

3. यत्तत्कालमयं तत्त्वं जगतः संप्रकालनम् ।
स तयोः कार्यमास्थाय संयोजक-विभाजकः ।। (7/3)

4. काल के विषय में दासगुप्त का कथन है कि काल को अलौकिक स्वरूप का मानना चाहिए। यह क्षणों अथवा उनके समुदाय से निर्मित काल से भिन्न है। यह महत् तत्त्व का तामस् पक्ष है। भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-4, डा0 एस.एन. दास गुप्त कृत, पृ0 41

5. मृतपिण्डीभूतमेतत्तु कालादित्रितयं मुने ।
विष्णोः सुदर्शनेनैव स्वस्वकार्यप्रचोदितम्।। (7/4)

6. भागवतपुराण 2/3/22

7. वही, 3/26/16

के रूप में प्रकट होता है।[1] जैसा कि भागवतपुराण में कहा भी गया है –

प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरूषः परः ।
सतोऽभिव्यंजकः कालो ब्रह्मत्रितयं त्वहम्।[2]

भागवतपुराण में सृष्टि ईश्वर द्वारा प्रेरित कही गई है। जड–चेतन तत्त्व के अतिरिक्त ईश्वर जैसी सर्वोच्च सत्ता है जो कि इनको प्रेरित करती है – 'मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरूषानुगतेन च'[3] विष्णुपुराण में भी काल को प्रकृति-पुरूष के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने वाला स्वीकार किया गया है।[4] गुणत्रय जब साम्यावस्था में रहते हैं तब प्रकृति-पुरूष असम्बन्धित होते हैं। काल तत्त्व ईश्वर से निकलकर इन दोनों में सम्बन्ध स्थापित करता है – गुण साम्ये ततस्तस्मिन् पृथक् पुंसिव्यवस्थिते कालं स्वरूपं तद् विष्णोर्मैत्रो परिवर्तते।[5]

एच.एच विल्सन के अनुसार –

This state is synonymous with the non evolution of material products or with dissolution implying however separate existence and detached from spirit ... it is naked what should sustain

---

1. वही
2. भागवतपुराण – 11/24/19
3. 11/24/4
4. विष्णुपुराण – 1/2, 18, 24
   विष्णोः स्वरूपात् परतो हि तेऽन्ये रूपे प्रधानं पुरूषश्च विप्र ।
   तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते रूपान्तरं यत् तद् द्विज कालसंज्ञम् ।।
5. विष्णुपुराण – 1/2/27

matter and spirit whilst separate, or renew their combination so as renovate creation ? It is answered time, which is when every thing else not ... unites matter Pradhan and Purusha, and produces creation.[1]

डा0 दास गुप्त के अनुसार – काल ईश्वर का ऐसा आध्यात्मिक प्रभाव है जिसके द्वारा ईश्वर स्वयं अचल रहकर भी प्रकृति को चलायमान करता है।[2]

सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थों में पुम्प्रकृति सम्बन्ध :

निरीश्वरवादी सांख्य में ईश्वर जैसी सर्वोच्च सत्ता को नहीं स्वीकार किया गया है । अतः जड–चेतन में सम्बन्ध स्थापित करने वाला या संयोग कराने वाला परमतत्त्व न होने पर भी सृष्टिपरक संयोग कैसे स्थापित होता है? सम्प्रति इस विषय पर सांख्यशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों के आधार पर विवेचन एवं विश्लेषण किया जा रहा है— जड–चेतन दोनों ही तत्त्व स्वतन्त्र होते हुए भी परस्पर सापेक्ष एवं साकांक्ष्य हैं प्रकृति अपनी भोग्यता सिद्ध करने के लिए चेतन तत्त्व की अपेक्षा करती है। संसारचक्र में भ्रमण करता हुआ जीव अपने कैवल्यार्थ प्रकृति की अपेक्षा करता है –

पुरूषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्त्कृतः सर्गः।[3]

---

1. विष्णु पुराण, वाल्यूम 1, पृ0 18
   नाग पब्लिशर्स, दिल्ली
2. दासगुप्त कृत भारतीय दर्शन भाग – 4, पृ0 25
3. 21 सां0 कारिका

प्रधान जड है, प्रधान की भोग्यता, भोक्ता के अभाव में सम्भव नहीं है, अतः प्रकृति को अपना भोग अनुभव कराने के लिए भोक्ता की आकांक्षा रहती है। प्रकृति के साथ एकात्मभाव रखता हुआ पुरूष उसके विविध दुःख परिणाम को अपना समझता हुआ, कैवल्य की इच्छा करता है। कैवल्य पुरूष को प्रकृति से अपने पृथक भेद का ज्ञान होने पर प्राप्त होता है और पुरूष का प्रकृति से विवेक ज्ञान प्रकृति के बिना नहीं हो सकता । इसलिए कैवल्य के लिए पुरूष को प्रधान की आवश्यकता होती है – न च सत्त्वपुरूषान्यताख्यातिः प्रधानमन्तरेणेति कैवल्यार्थम् पुरूष प्रधानमपेक्षते।[1] जिस प्रकार गमन शक्ति से रहित पुरूष दृक्शक्ति रहित व्यक्ति के कन्धे पर बैठ कर अभीष्ट स्थान पर पहुंच जाता है उसी प्रकार चेतन होने के कारण पुरूष पंगु के सदृश है एवं जड होने के कारण प्रधान अन्धवत् है। पंगु-अन्धवत् प्रकृति से संयुक्त पुरूष अपना कैवल्य सम्पादित करता है। सांख्यकारिकाकार प्रधान- पुरूष का संयोग अर्थहेतुक या प्रयोजन रूप मानते है – वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरूषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य।।[2] अर्थात् जैसे बछड़े के पोषण एवं वृद्धि के लिए अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति होती है वैसे ही प्रकृति की प्रवृत्ति पुरूष के भोग एवं मोक्ष रूप प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए स्वतः ही होती है। ईश्वर जैसी परम सत्ता प्रकृति की प्रवृत्ति का नियामक नहीं है क्योकि यदि ईश्वर करूणा से प्रेरित होकर सृष्टि करता है, यह कहा जाए तो उसे केवल सुखी प्राणियों की सृष्टि करनी चाहिए। यदि जीवकृत विविध कर्म ही जीव के लिए शुभाशुभ फल के जनक हैं तो यहां ईश्वर की क्या आवश्यकता है।[3] जीवकृत शुभाशुभ कर्म - संस्कार उसके अगले जन्म के निर्धारक हैं। कर्म अविद्यावश किए जाते हैं। जिन पुरूषों में अविद्या

---

1 सांख्यतत्त्व कौमुदी – 21

2 सां0 का0 – 57

3. तत्त्वकौमुदी – सां0 का0 – 57

विद्यमान है उन पुरूषों के लिए प्रकृति स्वतः क्रियाशील होती है और ऐसे पुरूषों का प्रकृति के साथ तादात्म्यभाव भी है। उक्त विवेचन का अभिप्राय यही है कि चेतन तत्त्व के बिना भी प्रकृति-पुरूष संयोग एवं संयोग के कारण होने वाली प्रकृति की सृष्टि विषयक प्रवृत्ति स्वतः होती है। माठरवृत्तिकार लिखते है – तथा प्रधानपुरूषयोरप्यर्थहेतुकः सम्बन्धः संयोगः।[1]

प्रकृति-पुरूष के मध्य वही सम्बन्ध है जो राजा और उसके मन्त्री के बीच होता है। राजा अपने मन्त्री को इसलिए चाहता है क्योंकि प्रेषणादि कार्य वही सम्पन्न करता है और मंत्री, राजा को इसलिए मानता है जिससे उसकी अजीविका बनी रहे[2] यथा राजा पुरूषेण संयुज्यते प्रेषणं में करिष्यति इति पुरूषाऽपि राज्ञा संयुज्यते वृत्ति में दास्यतीति एवं तावद्राजपुरूषयोरर्थहेतुकः सम्बन्धः।[3]

अनेकशः प्रकृति-पुरूष संयोग को एक आकर्षण के रूप में भी परिभाषित किया गया है। प्रकृति-पुरुष का सम्बन्ध लौह और चुम्बक के सदृश है – यथा निर्व्यापारस्याप्ययस्कान्तस्य संनिधानेन लोहस्य व्यापारस्तथा निर्व्यापारस्य पुरूषस्य संनिधानेन प्रधान व्यापारो युज्यते।[4] सांख्यसूत्रकार के अनुसार – 'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्'।[5] पुरूष की कारणता अर्थात् अधिष्ठातृत्व प्रकृति के सन्निधान के कारण है। सान्निध्य, संकल्प, प्रेरणा और प्रवर्त्तन आदि पर्यायवाची शब्द है। महाभारत में प्रकृति–पुरूष के संयोग को स्त्री–पुरूष के आकर्षण के सदृश कहा गया है।

---

1. सां0 का0 21, पृ0 99
2. माठरवृत्ति सां0 का0 21
3. माठरवृत्ति वही
4. सर्वदर्शनसंग्रहः श्रीमत्सायणमाधवाचार्यप्रणीत
5. 1/96 सां0 सू0, डा0 गजाननशास्त्रीकृत सांख्यदर्शनम्, पृ0 209

जेसे इस लोक में पुरूष एवं स्त्री के संयोग से जीवोत्पत्ति होती है वैसे ही सर्गोत्पत्ति में प्रधान-पुरूष संयोग अनिवार्य है।[1] गीता में श्रीकृष्ण ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किए हैं।[2] माठरवृत्ति, गौडपादभाष्य में भी इसी प्रकार उदाहरण दिया गया है – स्त्रीपुरूषस्यसंयोगात् पुत्रः सम्भवति। एवं प्रधान पुरूष संयोगात् सर्गोत्पत्ति। प्रकृति–पुरूष की परस्पर सापेक्षता एवं आकर्षण का भाव यह स्पष्ट करता है कि अचेतन प्रकृति और पुरूष द्वारा जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। किसी परमसत्ता ईश्वरादि के संकल्प या अधिष्ठातृत्व की आवश्यकता नहीं है। कूर्म पुराण में इस प्रकार कहा गया है –

'इत्येष प्राकृतः सर्गः संक्षेपात् कथितो मया ।
अबुद्धिपूर्वकस्त्वेष ब्राह्मी सृष्टिं निबोधत्।[3]

यदि लौह चुम्बक एवं स्त्री पुरूष की भांति यह आकर्षण सहज हो तो विच्छेद की संभावना ही नहीं की जा सकती। सांख्यमत में यह आक्षेप नहीं लगाया जा सकता क्योंकि जीवों की अनादि वासना ही आकर्षण का हेतु है। अविवेक के नष्ट होने पर उस पुरूष के प्रति प्रकृति निवृत्त हो जाती है – 'या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरूषस्या[4] स्वरूपस्थित पुरूष का प्रकृति के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता। इन दृष्टान्तों की सार्थकता अविवेकी पुरूषों के लिए ही है। विज्ञानभिक्षु सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थों की उचित व्याख्या करते हुए भी सांख्यदर्शन की न्यूनताओं से अवगत थे। वे प्रकृति के विकासक्रम के लिए श्रुतियों एवं स्मृतियों को भी प्रमाण मानते हैं। वे सांख्यशास्त्र को दुर्बल मानकर वेदान्त का सिद्धान्त स्वीकार कर लेते हैं।[5] उनके मत में प्रकृति ईश्वर की ही शक्ति है। ईश्वर की इच्छा

---

1 12/293/12, 13, 14

2 'सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः, तासां ब्रह्म महद्योनि' गीता 14/3, 4

3 1/4266 कू0 पु0

4 सां0 का0 61

5 सांख्यसार – पृ0 15, 16, सां0 सू0 प्र0 भा0, पृ0 17 'सांख्यदशर्नम्'

से ही उनमें संयोग होता है। उस संयोग से ही महदादि क्रम से जगत् की उत्पत्ति होती है[1] किन्तु परम्परा से प्राप्त सांख्य को वे सदैव निरीश्वरवादी ही मानते हैं।[2]

प्रकृति–पुरूष सम्बन्ध का मुख्य कारण

प्रकृति–पुरूष दोनों ही नित्य एवं सर्वव्यापक होने से संयोग–वियोग के योग्य नहीं हैं। पुरूष के कर्म संस्कार जो अनादि काल से प्रवहमाण हैं प्रकृति के प्रवृत्ति में कारण बन जाते हैं इसलिए 'कर्माकृष्टेर्वानादितः' कर्म संस्कारों को प्रकृति–पुरूष आकर्षण का हेतु कहा गया है[3] किन्तु ये मुख्य कारण नहीं हैं। वही कर्म प्रकृति को प्रवृत्त करने में समर्थ हैं, जिनके मूल में रागादि क्लेश हो।[4] यदि कर्म निष्काम भाव से या अविद्यादि क्लेश से रहित होकर किए जाएं तो उनके संस्कार बनने का क्रम ही रूक जाता है। तब वे प्रकृति को प्रवृत्त नहीं कर सकते।[5] प्रकृति की प्रवृत्ति में कर्म को निमित्त के रूप में स्वीकृत किया गया है। जब तक प्रारब्ध एवं सञ्चित कर्मों का भोग नहीं हो जाता प्रकृति की स्वभावतः ही उस पुरूष के प्रति प्रवृत्ति होती रहती

---

1 विज्ञानामृतभाष्य – 2/1/1, सां0 सू0 1/92

2. 2/1/1 विज्ञानामृतभाष्य ।
'विज्ञानभिक्षु एवं भारतीय दर्शन में उनका स्थान' डा0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव कृत, पृ0 175

3. 3/62 सांख्य सूत्र

4. सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः 2/13 योगसूत्र ।

5. कर्मनिमित्तयोगाच्च सां0 सूत्र 1/6
केवल विवेकी पुरूष के कर्म ही अविद्यादि क्लेशों से मुक्त हो सकते हैं अज्ञानियों के नहीं। गीता में भी कहा गया है – 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरूतेऽर्जुन' ।

है। गीता में भगवान् कहते हैं – 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः, न कर्मफल संयोगः स्वभावस्तु प्रवर्तते।[1] शंकर भी इस विषम सृष्टि का कारण जीवकृत धर्माधर्म को ही मानते हैं।[2] निरपेक्ष ईश्वर को सृष्टि-निर्माण के लिए जीव कृत प्रयत्न की अपेक्षा है।[3] वह पर्जन्य के समान है, जैसे ब्रीहियवादि आदि की सृष्टि में मेघ साधारण कारण है, ब्रीहियवादि गत विषमता में तत्-तत् बीजगत सामर्थ्य असाधारण कारण होते हैं, वैसे ही देवमनुष्यादि की सृष्टि में ईश्वर तो साधारण कारण है और उनकी विषमता में तत्-तत् जीवगत कर्म असाधारण कारण हैं।[4] 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' ईश्वर प्राणियों के कर्म विशेष की अपेक्षा करके ही अनुग्रह एवं निग्रहकर्ता है। शांकरमत और सांख्यमत में यह समान रूप से स्वीकृत किया गया है कि अविवेकश किए गए कर्म ही मनुष्य को बाँधते हैं क्योंकि कर्म ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही करते हैं यदि कर्म ही इनके सम्बन्ध में कारण होता तो ज्ञानी पुरूष कभी मुक्त नहीं हो सकता। कर्म इनके सम्बन्ध में मुख्य कारण नहीं हो सकता।[5] शुभाशुभ कर्म अनात्मशरीर के धर्म हैं और देहप्राप्ति के अनन्तर कर्म का आरम्भ होता है। यदि कहें कि देह-प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य कर्मजाल में फँसता हैं और कर्म के द्वारा उसे देह-प्राप्ति होती है, तो अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति होगी।[6] इसी प्रकार काल एवं देश भी मुख्य कारण नहीं हो सकते क्योंकि काल एवं देश के साथ नित्य और सर्वव्यापक आत्मा का सदैव सर्वांशेन ही सम्बन्ध

---

1. गीता 5/14
2. ब्र0 सू0 शां0 भा0 2/1/34
   'सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः'
3. जीवकृत प्रयत्नापेक्ष ईश्वरस्येषां शुभाशुभं विदध्यादिति, वही 2/3/42
4. ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः। सां0 भा0 ब्र0 सू0 2/1/34
5. न च कर्म नियामकम्, सांख्यसूत्र 3/67, प्रवचनभाष्य
6. 'शरीरसम्बन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्व प्रसंगादन्धपरम्परैषानादित्वकल्पना', ब्र0 सू0 शां0 भा0 1/1/4

रहता है। मुक्त और अमुक्त सभी आत्माओं का सम्बन्ध देश और काल से रहने पर भी मुक्त पुरूषों पर देश, काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।[1] काल, देश और कर्म का कारणत्व प्रकृति और जीवात्मा के सम्बन्ध में सामान्य है किन्तु मुख्य नहीं। श्रुति स्मृति एवं युक्ति से भी यह सिद्ध होता है।[2] यह सम्बन्ध नित्य नहीं है यदि ऐसा होता तो आत्मतत्त्व के केवलीभाव का कथन क्यों किया जाता? तो क्या यह आकस्मिक है? नहीं, क्योंकि कर्म–फल–भोग व्यवस्थित एवं कार्य–कारण श्रृंखला में बद्ध हैं। इसका प्रारम्भ यदि हुआ है तो किस प्रकार हुआ? दोनों ही मत इस बात से सहमत है कि इसके आदि या प्रारम्भ की व्याख्या करना असंभव है इसलिए यह सम्बन्ध अनादि कहा गया है। यद्यपि इसका अनादित्व आत्मतत्त्व के समान नहीं है तथापि इसका अनादित्व बीजांकुरवत् है। कर्म-संस्कारों का प्रवाह और इनके परिणाम स्वरूप मिलने वाले देहादि भी अनादि हैं।[3] इतना तो सुनिश्चित हुआ कि जड–चेतन सम्बन्ध अनादि हैं। इस सम्बन्ध का कारण क्या है? इस पर पुनर्विचार अपेक्षित है क्योंकि बिना कारण कोई भी कार्य नहीं होता। प्रवृत्ति स्वभाव वाली प्रकृति विवेकी पुरूष के प्रति निवृत्त हो जाती है अविवेकी के प्रति नहीं, इसका क्या कारण है? इसका उत्तर यह है कि मिथ्याज्ञान या अविवेक के नष्ट हो जाने पर प्रकृति उस पुरूष के प्रति निवृत्त हो जाती है। यह अज्ञान या अविद्या ही ऐसा हेतु है जो जीव को अनात्मा

---

1. 'न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्थ सम्बन्धात् (सांख्यसूत्र 1/12)
न देशयोगतोऽप्यस्मात् । 1/13 सांख्यसूत्र'

2. कालदेशकर्मादीनां निमित्तत्वंसामान्यं नापलप्यते श्रुति स्मृतियुक्तिभिः सिद्धत्वात्। (1/12 सांख्यसूत्र, सांख्यदर्शनम् चौखम्भा संस्कृत संस्थान)

3. 'शरीरसम्बन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्त्वस्य
चेतरेतराश्रयत्व प्रसंगादन्धपरम्परैषानादित्वकल्पना'
1/1/4 ब्र0 सं0 शा0 भा0 एवं 2/1/35

'प्रधानाभिमानतद्वासनयोश्च बीजांकुरवदनादित्वात् न तदभिमाने नियामकान्तरापेक्षेति'
सां0 पू0 भा0 1/57

'न नित्यः स्यादात्मवदन्यथानुच्छित्तिः' (6/13 सांख्यसूत्र)
अविवेक की नित्यता प्रकृति के समान नहीं है नहीं।

से संयुक्त करता है। यही प्रकृति की प्रवृत्ति में कारण है कर्मादि तो परम्परया पुरूष-प्रकृति सम्बन्ध में कारण होते हैं।[1] सांख्यसूत्रकार भी कहते हैं निरपेक्ष होते हुए भी प्रकृति द्वारा पुरूष के लिए भोगापवर्ग रूप उपकार में अविवेक ही निमित्त है – 'नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम्' भारतीय दर्शन के गम्भीर चिन्तकों ने बाह्य जगत् की अनुभूति के सम्बन्ध में सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया है। निर्विवादतः सभी ने किसी न किसी रूप में अज्ञान को ही जगत् का मूल कारण कहा है।

उपनिषदों में कहा गया है कि कामनाएं ही सम्पूर्ण संसार के आवागमन का कारण है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है लौकिक एवं अलौकिक भोगों के प्रति लालसा रखने वाला उन्हीं विषयों एवं इच्छाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न स्थानों पर जन्म लेता है। कामना रहित व्यक्ति निष्काम होकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[3] इन कामनाओं का कारण अज्ञान ही है। प्रकृति से संयुक्त क्षेत्रज्ञ अज्ञानवश ही अपने को मरणधर्मा एवं गतिमान् मानता है। पुरूष–प्रकृति संयोग का कारण अविद्या है।[4] संयोग के कारण ही निर्मल पुरूष अशुद्ध प्रतीत होता है।[5] पुरूष

---

1 अविवेकापेक्षया कर्मादीनामिव परम्परयैव पुरूष सम्बन्धः। . . . अविवेक एवं मुख्यतः संयोगहेतुतयोक्त इति' 1/55 सांख्यसूत्र प्रवचन भाष्य

2. 3/68 सांख्यसूत्र
'अविवेकनिमित्तात् प्रकृति पुरूषयोः संयोगः' प्रवचनभाष्य 3/74
'अविवेकनिमित्तो वा पंचशिखः' (6/68) सांख्यसूत्र

3. मुण्डकोप0 3/2/2
'एवं कामोहि मूलं संसारस्येति'(बृ0 उ0 शां0 भा0),उच्छिन्न कामस्य विद्यमानान्यपि कर्मणि ब्रह्मविदो बन्ध्यप्रसवानि भवन्ति, 4/4/6 वही।

4 महाभारत 12/292/15, 30, 31, 32

5. महाभारत 12/293/10, 11

स्वयं अपरिवर्तनशील कूटस्थ होने पर भी अनादि वासनाओं की अशुद्धियों से कुंठित होने के कारण अशुद्ध माने जाते हैं।[1] भागवतपुराण में कहा गया है कि समस्त वेदनाओं एवं संसार का हेतु अज्ञान है। इसी भ्रम या अज्ञान के कारण पुरूष दु:खादि से पीड़ित होता है जिस प्रकार दु:स्वप्नों से मनुष्य। सांख्यदर्शन का पूरक दर्शन योगदर्शन से सम्बन्धित ग्रन्थ योगसूत्र मेंभीजीव का अनात्मतत्त्व के साथ संबंध या संयोग का कारण अविद्या कहा गया है।[2]

आचार्य शंकर भी आत्मा के साथ शरीर के सम्बन्ध को मिथ्याज्ञान निमित्तक कहते हैं। उदाहरण द्वारा भी इसे स्पष्ट करते हैं जैसे – धनाभिमानी धनी गृहस्थ को धनापहार से दु:ख होता है किन्तु धनाभिमान से रहित उसी पुरूष का धनपहृत हो जाने का थोड़ा भी कष्ट नहीं होता। उसी प्रकार अनात्म शरीरादि में आत्मबुद्धि रखने वाले पुरूष में दु:खभयादि देखे जाते हैं किन्तु ब्रह्मज्ञानी में नहीं। देहात्मबुद्धि का कारण मिथ्याज्ञान है। सशरीरत्व अर्थात् आत्मा का शरीर से सम्बन्ध वस्तुत: हो ही नहीं सकता किन्तु मिथ्याज्ञान के कारण ही आत्मा में 'मैं', 'मेरा' इत्यादि अभिमान होता है।[3] पंचदशीकार इस सम्बन्ध में यही

---

1. अहिर्बुध्न्य संहिता 7/34

2. तस्य हेतुरविद्या। 2/24 योगसूत्र
   चौ0 सुरभा0 प्रकाशन, वाराणसी, 1988

3. मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः सम्बन्धहेतुः' 1/1/4 ब्र0 सू0 शां0 भा0
अविद्यानिमित्तदेहाद्युपाधिसम्बन्धः, वही 2/3/48

   – `अनादिरनन्तोनैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः' अध्यासभाष्य शां0 भा0 ब्र0 सू0

   – सशरीरस्य तु अस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्
   ब्र0 सू0 शा0 भा0 1/1/4

कहते है संसार का मूल अनादि अविवेक है – 'अनादिअविवेकोऽयंमूलाविद्येति गम्यताम्'[1]। यह मिथ्याज्ञान या अविवेक अनादि कहा गया है क्योंकि सादि मानने पर अनेक प्रश्न उठते है[2] – (1) इसका प्रारम्भ किस प्रकार हुआ? स्वतः हो गया हो, तो मुक्तात्माओं को भी पुनः बन्धन हो सकता है। (2) यदि यह कर्म निमित्तक है तो इस कर्म का कारण क्या होगा? कर्म का कारण मिथ्याज्ञान है और मिथ्याज्ञान का हेतु कर्म होने से अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति होगी और कर्म का कारण कोई अन्यकर्म, अन्यकर्म का कारण ..? इस प्रकार अनवस्थादोष की प्राप्त होगी। अविवेक का प्रारम्भ कब हुआ? जीव इसके भँवर में सर्वप्रथम कब और कैसे फँस गए? ये प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि इससे निकलने का प्रयत्न। इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि यह सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है आगे इसकी धारा में जीव अपने कर्मों द्वारा ही बहते रहते हैं।[3] सम्यग्ज्ञान द्वारा इसका नाश हो जाता है इसलिए अनादि होते हुए भी यह अनन्त नहीं है, यद्यपि संसार का प्रवाह अन्तहीन है।

यह अविवेक रूप निमित्त मुक्त पुरूषों में नहीं रहता। अतः उनका पुनः प्रकृति के साथ संयोग नहीं होता। अविवेक का नाश होने पर कर्मादिकों

---

1. पंचदशी 6/25, 6/24, 6/52, 6/10, 6/13 इत्यादि।
2. अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः (सांख्यसूत्र 6/12)
3. 'अविवेकोऽप्यनाऽयम्' उपदेशसाहस्री 16/61 एवं
   –'स्वभाविकोऽनादिऽयं व्यवहारः भामती उपोद्घातः, पृ0 10
   मो0 बना0 दास, दिल्ली, 1988
   –'नैसर्गिकत्वादागन्तुकदोषानपेक्षः' न्यायनिर्णय आनन्दगिरि, वही, पृ0 11
   एवं 'ह्येतद्युच्यते न ह्याकस्मिकी कस्यचिदुत्पत्ति संभवति, अतिप्रसंगात्'
   2/3/31 ब्र0 सू0 शा0 भा0

से भी मुक्ति प्राप्त हो जाती है अतः अविवेक ही संयोग के प्रति साक्षात् हेतु है।[1] दोनों ही मतों में यह साम्यता है कि आत्मा, शरीर–मन के बन्धनों से स्वतन्त्र है किन्तु अनादि कालिक अविवेक के कारण ही कर्म करता हुआ सा प्रतीत होता है। कर्म के मूल में जब तक अविद्यादि क्लेश हैं तभी तक वे प्राणियों को जन्म, आयु और भोग रूप फल प्रदान करने की सामर्थ्य रखते है। अविद्यादि का नाश होने पर कर्म दग्धबीजवत् हो जाते हैं। यह कर्म परम्परा अनादि है और कर्म का मूल अविद्या या मिथ्याज्ञान की वासना भी जन्म और पुनर्जन्म की सतत् श्रृंखला में अनादि काल से प्रवहमाण है। चरकमुनि के अनुसार रूप (शरीर) और सत्त्व (मन) की जो परम्परा अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में चली आ रही है उसका आदि नहीं कहा गया है क्योंकि उसका आदि है ही नहीं, श्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा इनकी निवृत्ति हो सकती है।[2] तत्त्ववैशारदीकार अविद्या को वासनारूप एवं अनादि कहते है।[3] त्रिविधिदुःख का हेतु 'अविद्या' का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है ।

---

1. 'स चाविवेको मुक्तेषु नास्तीति, न तेषां पुनः संयोगो भवतीति'
   सांख्य प्रवचनभाष्य 1/55
   'एवं परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात्' (सांख्यसूत्र 6/11)
   एतेनमुक्तानां पुनरूत्पत्तिप्रसंगः प्रत्युक्तः
   सम्यग्ज्ञानेन मिथ्याज्ञानस्यापोदित्वात् (2/1/9 ब्र0 सू0 शां0 भा0)
   3/9/23, 3/4/798, बृ0 भा0 वा0

2. चरक संहिता की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ0 293
   डा0 सन्तनारायण श्रीवास्तव, पीयूष प्रकाशन, इलाहाबाद, 1983

3. सर्गान्तरीयायाअविद्यायाः स्वचित्तेन सह निरूद्धाया अपि प्रधानेऽस्ति वासना, तद्वासनावासितंच प्रधानं तत्तत्पुरूषसंयोगिनी तादृशीमेव बुद्धि सृजति एवं पूर्वपूर्वसर्गेष्वित्यनादित्वाददोषः,(पृ0 233) उद्धृत पातञ्जलयोगदर्शनम् पृ. २५४

सांख्यदर्शन एवं शांकर अद्वैतमत में अविद्या

अविवेक, मिथ्याज्ञान, अज्ञान, विपर्यय एवं मिथ्याप्रत्यय आदि शब्द अविद्या के समानार्थी है। सांख्यवेत्ता अविद्या को मिथ्याज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं जबकि मायावादी अविद्या को प्रायः प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। विज्ञानभिक्षु अविद्या को जड–चेतन संयोग का हेतु कहते हैं।[1] तत्त्वकौमुदीकार अविद्या को बुद्धि का धर्म या परिणाम कहते हैं तत्र "विपर्ययः" अज्ञानमविद्या सापि बुद्धिधर्मः।[2] अविद्या, अज्ञान अथवा विपर्यय से बन्धन प्राप्त होता है – 'विपर्ययात् अतत्त्वज्ञानात् "इष्यते बन्धः"।[3] अविद्या, ज्ञान या विद्या का अभाव नहीं है बल्कि सम्यग् ज्ञान से भिन्न एक अन्य प्रकार का ज्ञान है – विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।[4] योगसूत्रकार अविद्या का स्वरूप इस प्रकार बताते हैं – 'अनित्याऽशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्म—ख्यातिरविद्या'[5] अर्थात अनित्य, अपवित्र, दुःखमय और अनात्मपदार्थो में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुखमय और आत्मज्ञान का होना अविद्या है। यह अविद्या ही अविद्या अस्मिता राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप पंचक्लेशों की प्रसवभूमि है। ये पंचक्लेश अविद्यामूलक हैं।[6] इस प्रकार अविद्या पांच खण्डों वाली या पंचपर्वा हुई। सांख्यकारिकाकार पंचपर्वा अविद्या को सूक्ष्मभेद के कारण बासठ प्रकार का बताते है – भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च, दशविधोमहामोहः। तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवन्त्यन्धतामिस्रः।[7] यद्यपि अविद्या के सूक्ष्मभेदों का विवेचन

---

1. 'योगसूत्रेऽप्यवि ।या एव पंचपर्वाया बुद्धिपुरूष संयोगहेतुतावचनात्'
   सां0 प्र0 भा0 1/55
2. तत्त्वकौमुदी – सां0 का0 46
3. तत्त्वकौमुदी – सां0 का0 44
4. 1/8 योगसूत्र
5. 1/5 योगसूत्र
6. 2/4 योगसूत्र, 1/8 योगसूत्र
7. सां0 का0 48

चतुर्थ अध्याय में किया गया है तथापि अविद्या विषयक विवेचन यहां पर भी अपेक्षित है।

अविद्या : अनित्य जगत् में नित्यता का ज्ञान होना, अपवित्र शरीरादि में पवित्र बुद्धि रखना, अनात्म पदार्थों में आत्मा का ज्ञान होना, दुःख से परिपूर्ण जगत् में सुख का बोध होना, वस्तुतः अविद्या है।[1]

अस्मिता : बुद्धि और पुरूष की अभिन्नाकारता की प्रतीति अस्मिता नामक क्लेश है।[2]

राग : अविद्या के कारण ही सुखप्रद पदार्थों के प्रति सकारात्मकभाव रखना एवं उसे प्राप्त करने की लालसा राग है।

द्वेष : दुःखद पदार्थों के प्रति निषेधात्मक भाव और उसको हटाने या उससे दूर रहने की इच्छा द्वेष है।

अभिनिवेश : अपने अस्तित्व के विषय में 'मैं सदैव रहूँ' ऐसी कामना अभिनिवेश नामक क्लेश है।

पंचपर्वा अविद्या के सूक्ष्म भेद – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन्हें क्रमशः तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र भी कहते हैं।

तमस् या अविद्या : प्रकृति, महत्, अहंकार और पंचतन्मात्रों में आत्मभावना करना तमस् है। इस प्रकार तमस् के आठ भेद हुए।

---

1 2/5 योगसूत्र

2 'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता' 2/6 योगसूत्र

मोह या अस्मिता : अणिमादि अष्ट सिद्धियों के लाभ से अपने को अजर व अमर मानना मोह है। मोह भी आठ प्रकार का हुआ ।

महामोह या राग : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध दिव्यादिव्य भेद से दस प्रकार के होते हैं।[1] इनके प्रति उपादेय बुद्धि होना राग या महामोह है।

तामिस्र या द्वेष : अष्टविध ऐश्वर्य तथा दिव्यादिव्य शब्दादि 10 विषयों में से यदि किसी के प्रति अप्रीति हो गई, तो उसके प्रति द्वेष अथवा दूसरों द्वारा उपभुज्यमान् पदार्थों को देखकर द्वेष होना ही तामिस्र या द्वेष नामक क्लेश है।

अन्धतामिस्र : तामिस्र के 18 विषयों को प्राप्त करने की प्रबल कामना एवं प्राप्त करके भोग के समय उनके विनाश का भय होना अन्धतामिस्र है।

इस प्रकार तमस् के 8 भेद, मोह के 8 प्रकार, महामोह के 10 भेद, तामिस्र के अट्ठारह भेद और अन्धतामिस्र के अट्ठारह भेद, मिलाकर अविद्या के बासठ प्रकार हुए। योगसूत्र में अविद्या को प्रकृति–पुरूष संयोग का हेतु कहा गया है – 'तस्यहेतुरविद्या'।[2] भाष्यकार व्यासजी अविद्या की व्याख्या करते हुए अविद्या का अर्थ यहां विपर्ययज्ञानवासना करते है।[3] अविद्या बीज या वासना ही अग्रिम संयोग का कारण बनता है। जैसी वासना रहती है वैसी ही बुद्धि आदि की सृष्टि होती है। अविद्याबीज ही बन्ध का हेतु है। विज्ञानभिक्षु अविद्या को दो

---

1. मनुष्यों को भौतिक शरीर द्वारा शब्दादि विषय का भोग होता है वे शब्दादि विषय शान्त, घोर और मूढ़ अवस्था वाले होते हैं। देवताओं द्वारा भुज्यमान् शब्दादि विषय अविशेष होते हैं क्योंकि वे विषय शान्त, घोर और मूढ़ दशाओं से रहित होते हैं। देवानां शब्दादयः पंचतन्मात्राख्याविषया अविशेषाः (माठरवृत्ति का0 48)
2. 2/24 योगसूत्र
3. विपर्ययज्ञानवासनेत्यर्थः, व्यासभाष्य योगसूत्र (2/24)

वर्गों में विभाजित करते हैं – 'ज्ञानरूपाविद्याया बन्धोत्तरकालीनतया वासना रूपाऽविद्याया एव तैर्बन्धहेतुत्वाभ्युपगमात्' अर्थात् ज्ञानरूपा अविद्या बन्धोत्तरकालीन होने से बन्धन का कारण नहीं हो सकती। यह वासनारूप अविद्या ही बन्धन का हेतु है।[1] अविद्या न तो ज्ञान या विद्या है, न ही विद्या का अभाव है बल्कि विद्या का विरोधी कोई अन्य ज्ञान है जैसे अमित्र का अर्थ मित्र का अभाव नहीं है न तो मित्रमात्र है, बल्कि मित्र का विरोधी शत्रु है। इसी प्रकार अविद्या अभाव का सूचक नहीं है। अविद्या में नञ् तत्पुरूष समास अभाव के अर्थ में नहीं है बल्कि पर्युदासपरक अर्थ है। पर्युदासात्मक नञ् विरूद्धार्थकभाव में पर्यवसित होता है।[2] यह अविवेक या अविद्या तीन प्रकार से संयोगाख्य जन्म अथवा बन्ध का हेतु है – अयं चाडविवेकस्त्रिधा संयोगाख्यजन्महेतुः, साक्षात् धर्माधर्मोत्पत्ति द्वारा रागादिदृष्टद्वारा च भवति।'[3]

1. **पुम्प्रकृति संयोग का साक्षात् कारण** – अविद्या, बीज या वासना के द्वारा जन्मादि का साक्षात् कारण है। कर्मादि का पुरूष से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता अपितु परम्परया होता है। अविवेकनाश द्वारा ही कर्मादि का नाश संभव है।[4] 'ज्ञानाग्नि से सम्पूर्ण कर्म-संस्कार दग्ध हो जाते हैं' ऐसा श्रुतियों एवं स्मृतियों में भी कहा गया है। पुरूष के द्वारा ही अविवेक का साक्षात् नाश किया जा सकता है। अविवेक का नाश होने पर कर्मादिकों का भी नाश किया जाता है। संयोग के मुख्य हेतु का नाश हो जाने पर प्रकृति–पुरूष संयोग का भी नाश हो

---

1. 1/22 सां0 प्र0 भा0
2. न प्रमाणं न प्रमाणाभावः, किन्तु विद्या विपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति, 2/5 योगसूत्र पर व्यासभाष्य । सां0 प्र0 भा0 1/8, 1/69 सां0 प्र0 भा0
3. 1/55 सां0 प्र0 भा0
4. तद्भावात् संयोगाभावो हानं, तद् दृशेः कैवल्यम्। योगसूत्र 2/25
   अविवेकापेक्षया कर्मादीनामिव परम्परयैव पुरूष सम्बन्धः। तथाऽविवेक एव पुरूषेण साक्षाच्छेत्तुं शक्यते। सां0 प्र0 भा0 1/55

जाता है।[1] इसलिए विज्ञानभिक्षु अविद्या को जगत् का निमित्तकारण कहते हैं –

तस्मात् प्रकृतिरेवोपादानं जगतः।

प्रकृति धर्मश्चऽविद्याजगन्निमित्तकारणं।[2]

2. **धर्माधर्मोत्पत्ति द्वारा** – स्वार्थ से प्रेरित होकर जीव कभी धर्म और कभी अधर्म में लिप्त होता है। इनके कर्मसंस्कार बनते है तत्पश्चात विपाकानुभूति और पुनः उससे अच्छे–बुरे (वासना) संस्कार बनते हैं। इस प्रकार कर्म–संस्कारों का अनादि चक्र चलता रहता है।[3] जीव विवेकज्ञान द्वारा ही इस कर्मजाल से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

राम–द्वेषादि – क्लेशों से मुक्त होकर जो भी कर्म किए जाते हैं वे जन्म, आयु और भोग देने वाले होते है।[4] मनुष्य जब तक देह धारण किए है तब तक कुछ न कुछ कर्म भी करता रहता है, उसके संस्कार भी बनते हैं किन्तु चित्त के रागादि क्लेशों से अनुबिद्ध रहने पर ही वे कर्माशय फल के आरम्भक होते हैं। महाभारत में भी कहा गया है – रागरूप बीज से प्राणी उत्पन्न होते हैं।[5] रागद्वेषादि भ्रान्तिमूलक दोष हैं। इन्हीं दोषों से सबको सब प्रकार के देहों की प्राप्ति होती है।[6] रागादि क्लेशों का कारण अनादि अविद्या है और क्लेशों के कारण होने वाले पाप–पुण्य कर्म द्वारा जीव संसारचक्र में फँसता जाता है। इन तीनों कारणों में से अविद्या ही मुख्य कारण है क्योंकि अविद्या की समाप्ति

---

1. अविवेकापेक्षया कर्मादीनामिव परम्परयैवपुरूष सम्बन्धः तथाऽविवेक एव मुख्यतः संयोगहेतुतयोक्त इति। 1/55 सां0 प्र0 भा0
2. 1/69 सां0 प्र0 भा0
3. 2/3 योगसूत्र
4. सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। योगसूत्र 2/13
   रागविरागयोर्योगः सृष्टिः सां0 सू0 (2/9)
5. तस्मात् तर्षात्मकाद्रागादबीज जायन्ति जन्तवः (शां0 प0 2/3/10)
6. अनात्मन्यात्मविज्ञानं तस्माद् दुःख तथेतरत्। रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः। कूर्म पु0 2/2/20

जब तक नहीं हो जाती, तब तक जीव क्लेशों से मुक्त नहीं हो पाता। पाप–पुण्य कर्म में लिप्त रहता हुआ पुनः–पुनः देह धारण करता संसार–चक्र में भटकता रहता है। न्यायसूत्र में भी कहा गया है – 'दुःख–जन्म–प्रवृत्ति–दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः[1] अर्थात् मिथ्याज्ञान के कारण रागादिदोषों की उत्पत्ति होती है और दोषों के कारण जीव की धर्मा–धर्म, पाप–पुण्य कर्मों में प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप जन्म होता है एवं जन्म के कारण ही जीव को दुःख भोगने पड़ते हैं। मिथ्याज्ञान के नष्ट हो जाने पर दोषों का नाश एवं दोषों के न रहने पर कर्मों में जीव की प्रवृत्ति नहीं रह जाती और प्रवृत्ति के न होने पर तज्जन्य एवं दुःखों से मुक्ति मिल जाती है ।

आचार्यशंकर भी निर्विरोध रूप से मिथ्याज्ञान को संसार का मुख्य कारण कहते हैं। जीव का बुद्धि आदि उपाधि से संयोग तब तक रहता है जब तक उसे सम्यक्दर्शन नहीं हो जाता। ब्र0 सू0 भाष्य में वे कहते हैं – अपि च मिथ्याज्ञानपुरःसरोऽयमात्मनो बुद्ध्युपाधिसम्बन्धः[2] आचार्यशंकर इसे अध्यास, मिथ्याज्ञान अविवेक, मिथ्याप्रत्यय और विपर्यय कहते हैं। अतद् में तद् बुद्धि रूप अध्यास को वे अविद्या कहते हैं – तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येतिमन्यते।[3] यह मिथ्याज्ञान दो प्रकार का होता है –

---

1. न्यायसूत्र (1/1/2)
2. 2/3/30
   यावदयमात्मा संसारी भवति यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते, तावदस्य बुद्ध्या संयोगो न शाम्यति। यावदेव चायं बुद्ध्युपाधि सम्बन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च। (2/3/30, ब्र. सू. शां. भा.)
3. मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृतेमिथुनीकृत्य 'अहमिदं', 'ममेदम्' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः। ब्र. सू. शां. भा. (1/1/1)

1 पुत्रादि में 'मेरा पुत्र', 'मेरी पुत्री', 'मेरी पत्नी' आदि में आत्मबुद्धि जो होती है वह गौण आत्माभिमान है, क्योंकि यहां मैं और पुत्रादि में भेद ज्ञात है।

2 देहेन्द्रियादि में 'मैं मूक हूँ, मैं काना हूँ, मैं स्थूल हूँ,और मैं अज्ञानी हूँ,' इसमें भेद अज्ञात है। आत्मानात्म में परस्पर इतरेतरभाव का कारण मिथ्याज्ञान है।

यह समस्त भेद व्यवहार अविद्या या अज्ञान द्वारा कल्पित है।[1] अखण्ड, निर्गुण, निष्क्रिय एवं असंग ब्रह्म अविद्या के कारण जगत् रूप से प्रतीत होता है, जैसे अज्ञान के कारण रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होती है। अद्वैतवाद में अविद्या का प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में किया गया है – अविद्या, माया या प्रकृति के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त है। इस अर्थ में अविद्या ब्रह्म की उपाधि या शक्तिरूप है जिसके द्वारा निर्गुण ब्रह्म जगत का स्रष्टा एवं ईश्वर बनता है और यही अविद्यात्मक बीजशक्ति अव्यक्त शब्द से निर्दिष्ट है।[2] शंकराचार्य माया और अविद्या में स्पष्ट भेद नहीं करते।[3] वार्तिककार ने बुद्धि आदि में सबसे सूक्ष्म तथा उनके कारण को ही आत्माविद्या कहा है। इन्होंने अविद्या को माया, बीजशक्ति, अव्यक्त, अज्ञान, तमस् एवं

---

1. तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात् सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम् (1/1/4 ब्र. सू. शां. भा.)
2. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुपित .....। 1/4/3 ब्र. सू. शां भा.
   तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च, न परमार्थतो, वही 2/1/14
3. इण्डियन फिलास्फि वोल्यूम – II, पृ0 513

तिमिर इत्यादि अनेक नामों से लक्षित किया है।[1] पद्मपाद ने भी माया और अविद्या इन पदों को समानार्थक माना है।[2] विवरणकार प्रकाशात्मा ने व्यवहार भेद से माया और अविद्या में भेद किया है। विक्षेप की प्रधानता से जो माया है वही आवरण की प्रधानता से अविद्या है।[3] भामतीकार अविद्या को जीव की उपाधि कहते हैं।[4] संक्षेपशारीरककार अविद्या को माया का पर्यायवाची कहते हैं।[5] वे अविद्या को मिथ्याज्ञान के अर्थ में भी प्रयुक्त करते है – 'अविद्या ब्रह्म सम्बन्धमविद्या–दृष्टिकल्पितम्।'[6] पंचदशीकार के अनुसार माया ईश्वर की उपाधि है और यह शुद्ध सत्त्वगुणप्रधान है, जीव की उपाधि अविद्या मलिनसत्त्वगुणप्रधान है।[7] इस प्रकार शांकर अद्वैत में अविद्या, माया या प्रकृति के लिए एवं मिथ्याज्ञान, अविवेक या अध्यास दोनों के लिए ही प्रयुक्त है। इसी प्रकार सांख्यमत में भी जगत् के उपादानकारण प्रकृति और मिथ्याज्ञान दोनों के लिए अविद्या का प्रयोग किया गया है – तस्मात् प्रकृतिरेवोपादानं जगतः।

प्रकृति धर्मश्च ऽविद्याजगन्निमित्तकारणं।[8]

---

1. बुद्ध्यादिकारणं नित्यमात्माविद्येति ।
   बृ0 भा0 वा0 4/3/348
   उपादानं हि बुद्ध्यादेरात्माविद्येति। वही 4/3/338
2. पंचपादिका, पृ0 98, मद्रास गवर्नमेंट ओरियन्टल सीरीज, 1948
3. विक्षेपप्राधान्येन माया आच्छादन प्राधान्येनोविद्येति व्यवहारभेदः, पृ0 52, विजयनगरम् सीरीज
4. 1/4/3 भामती, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
5. 3/131, 132 एवं 2/128–130
6. 3/112
7. 1/15, 16, 17, 1/34
8. 1/69 सां0 प्र0 भा0

अविद्या, प्रकृति के कार्य बुद्धि का तामस् रूप है। अविद्या की कूटस्थ नित्यता रूप पारमार्थिक सत्ता न होने पर भी घटपटादि के समान वास्तविक सत्ता है। अतः यह तुच्छ नहीं है – अस्मन्मते त्वविद्यायाः कूटस्थनित्यता रूपपारमार्थिक सत्ताभावेऽपि घटादिवद्वस्तवत्वे वक्ष्यमाण संयोग द्वारा बन्धहेतुत्वे।[1] अविद्या ज्ञान का अभाव नहीं बल्कि सम्यग्ज्ञान से भिन्न एक अन्य प्रकार का ज्ञान है। विज्ञानभिक्षु प्रकृति के पर्यायवाची के रूप में 'अविद्या' का प्रयोग करते हैं।[2] इसी प्रकार भावागणेश भी अविद्या का अर्थ अव्यक्तप्रधान करते हैं।[3] सांख्यशास्त्र में अविद्या का प्रयोग जहां प्रकृति के लिए किया जाता है, वहां इसका अर्थ ज्ञाननाश्य अविद्या नहीं है क्योंकि ऐसा करने से प्रकृति का नित्यत्वबाधित होगा।

अविद्या शब्द का प्रयोग कहाँ प्रकृति के लिए है और कहां मिथ्याज्ञान के लिए, इसे प्रसंगतः ही समझा जा सकता है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है – किञ्चाविद्याया द्रव्यत्वे शब्दमात्रभेदो; गुणत्वे च तदाऽधारतया प्रकृतिसिद्धिः, पुरूषस्य निर्गुणत्वादिभ्यः[4] अर्थात् अविद्या को यदि द्रव्यरूप कहते हैं तो उससे उपादान कारण प्रकृति अर्थ समझना चाहिए। अद्वैतवादी ब्रह्मातिरिक्त कुछ भी सत् नहीं स्वीकार करते इसलिए उनके मत में अविद्या या मिथ्याज्ञान की स्थिति तत्त्वज्ञान के पूर्व ही रहती है। तत्त्वज्ञान होते ही द्वैत नहीं रह जाता। इनके मत में माया या प्रकृति की भी सत्ता ब्रह्मज्ञान होने के पूर्व तक ही रहती है। जब तक जीव अज्ञानावस्था में है ब्रह्म की मायाशक्ति द्वारा वह

---

1. 1/22 सां0 प्र0 भा0
2. 'प्रकृतिशक्तिरजाप्रधानमव्यक्तम् तमो मायाविद्येत्यादयः प्रकृते पर्यायाः' सांख्यसार ।
3. 'प्रकृतिपर्याया अव्यक्तं प्रधानं ब्रह्म अक्षर क्षेत्रं तमः माया ब्राह्मी अविद्या प्रकृतिशक्तिरजा इत्यादयः' सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्, पृ0 33
4. 1/69 सा0 प्र0 भा0

नानाप्रपंच में भ्रमित होता रहता है। इसी अवस्था में मिथ्याज्ञान अविवेक या विपर्यय की स्थिति रहती है। शरीर से आत्मा का सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। अतः अविवेक या अविद्या अनादि है किन्तु तत्त्वज्ञान से नाश्य होने के कारण अनन्त नहीं है।

*****

चतुर्थ अध्याय

प्रकृति और सृष्टि

यह भौतिकजगत् ही जीवात्मा का कर्मक्षेत्र है और मोक्षप्राप्ति का साधन भी है। इस भौतिकजगत् की सृष्टि और क्रमिक–विकास के विषय में प्रस्तुत अध्याय में वर्णन किया जा रहा है। जगदुपादान 'प्रकृति' के स्वरूप की चर्चा द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है और सृष्टिनिमित्तक होने वाले जड–चेतन सम्बन्ध या संयोग के विषय में तृतीय अध्याय में विचार किया जा चुका है। चूँकि सृष्टि के विकास के लिए जड–चेतन सम्बन्ध आवश्यक है अतः चिदचित् सम्बन्ध का संक्षिप्त वर्णन यहां पर भी अपेक्षित है। सांख्यमत में पुरूष निष्क्रिय एवं असंग होते हुए भी भोक्ता है, और प्रकृति जड भोग्य एवं विषय होते हुए भी क्रियाशील है। दो विभु, अनादि, सनातन एवं नित्य तत्त्वों का संयोग या वियोग किस प्रकार सम्पन्न होता है? इस प्रश्न का समाधान सांख्यमत में इस प्रकार से है – सांख्य का आद्यस्वरूप जो उपनिषदों, महाभारत, गीता और पुराणादि में प्राप्त होता है, उसमें जड–चेतन में सम्बन्ध स्थापित कराने वाला ईश्वर या ब्रह्म सर्वोच्च सत्ता के रूप में प्रतिपादित है –

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्यभूय –
स्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।[1]
आदि सः संयोग निमित्त हेतुः।[2]

सांख्य का परवर्ती रूप जो सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थों में मिलता है, वह निरीश्वरवादी है। अतः वहाँ जड–चेतन सम्बन्ध को पंगु-अन्धवत परस्पर सापेक्ष एवं योग्यता निमित्तक अथवा लौह–चुम्बक के सदृश एक आकर्षण के रूप में परिभाषित

---

1 6/3

2. 6/5 श्वेताश्वतरो0

किया गया है। जैसे चुम्बक निष्क्रिय लौह को सन्निधि–मात्र से ही सचेष्ट कर देता है, उसी प्रकार पुरूष की सन्निधिमात्र से ही जड प्रकृति चेतनवत् हो जाती है - 'तस्मादचेतनस्यापि चेतनानधिष्ठितस्य प्रधानरूप महदादिरूपेण परिणामः'[1] अर्थात् अचेतन प्रकृति चेतन से अधिष्ठित होकर महदादि कार्यों का सृजन करती है। सृष्टि का विकास चिदचित् सम्बन्ध से प्रारम्भ होता है। चिदचित् संयोग से अचित् में चित् का प्रतिबिम्ब पड़ता है या छाया पड़ती है, इसे ही चितिच्छायापत्ति कहते हैं। योगसूत्रकार इसका अर्थ तादात्म्यापत्ति करते हैं, जिसका अभिप्राय यह है – चिति और चित्त का अभेद ग्रहण। योगसूत्र में दृक् शक्ति अर्थात् चिति और दर्शनशक्ति अर्थात् बुद्धि की एक रूप से प्रतीति को 'अस्मिता' नामक क्लेश कही गई है – दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।'[2] पुरूष प्रतिबिम्ब से युक्त होकर प्रकृति चेतनवत् हो जाती है और चेतनवत् हुई प्रकृति पुरूष के भोग एवं मोक्ष का सम्पादन करने के लिए क्रियाशील हो जाती है – प्रधानं निश्चेतनापि पुरूषाधिष्ठानाच्चेतनावदिव द्वयमपि सम्पादयति।[3] शांकरअद्वैतमत में भी सृष्टि चिदचित् सम्बन्ध के परिणामस्वरूप होती है। यह सम्बन्ध किस प्रकार का होता है? इस विषय पर तृतीय अध्याय में विचार किया जा चुका है। संक्षेप में यहां पर पुनः चर्चा की जा रही है। शांकरअद्वैतमत में अद्वय ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ तुच्छ, मिथ्या एवं निःसार है किन्तु अनादि अविद्या के कारण ब्रह्मरूप अधिष्ठान पर जीव नानात्व एवं जगत् प्रपंच की उद्भावना उसी प्रकार हो जाती है जिस प्रकार अज्ञान के कारण रज्जु में सर्प की प्रतीति हो जाती है। जीव और जगत् की प्रतीति का कारण माया या प्रकृति है, जो ब्रह्म की शक्ति या उपाधि के रूप में वर्णित है। यह शक्ति सद्–असद् विलक्षण

---

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ0 329
   'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' (1/96) सां0 सूत्र, यथाऽस्कान्तमणेः सान्निध्यमात्रेण शल्यनिष्कर्षकत्वं, न संकल्पादिना, तथैवादिपुरूषस्य संयोगमात्रेणप्रकृतेर्महत्तत्त्वरूपेण परिणमनम् (सां0 सूत्र 1/96 पर सां0प्र0भा0)
2. योगसूत्र (2/6)
3. जयमंगलाटीका, सां0 का0 – 21

और भावरूप है। यह ब्रह्म में ही आश्रित है। ब्रह्म अपनी मायाशक्ति से समस्त प्रपंच की सृष्टि करता है। वस्तुतः तो वह निष्क्रिय और असंग है।अतः जड मायाशक्ति के सहित ही ब्रह्म समस्त सृष्टि का कारण बनता है। माया या प्रकृति ब्रह्म के आश्रित होकर चेतनवत् हो जाती है और अपनी आवरण और विक्षेप शक्ति के बल से ब्रह्म स्वरूप पर आवरण डालकर समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति करा देती है। मायाशक्ति का विस्तृत विवेचन द्वितीय अध्याय में द्रष्टव्य है। सम्प्रति आत्म–अनात्म सम्बन्ध के कारण होने वाले सृष्टि परिणामों का वर्णन दोनों दर्शनों के अनुसार किया जा रहा है।

सांख्य दर्शन में सृष्टि

प्रकृति की दो अवस्थाएँ –

चरकमुनि के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थ दो श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं – (1) प्रकृति अर्थात् कारण (2) विकृति अर्थात् कार्य।[1] प्रकृति एक है और विकृतियाँ अनेक। महदादि कार्य प्रकृति की वैषम्यावस्था के परिणाम है। प्रकृति की वैषम्यावस्था सृष्टिकालीन अवस्था है और साम्यावस्था प्रलयकालीन अवस्था है। सांख्यसूत्र (1/61) की व्याख्या करते हुए सांख्यप्रवचनभाष्य में विज्ञानभिक्षु साम्यावस्था की व्याख्या इस प्रकार करते हैं ..... सत्त्वादिद्रव्याणां या साम्यावस्थाऽन्यूनानतिरिक्तावस्थाऽन्यूनाधिकभावेनासंहतावस्थेति यावत्। अकार्यावस्थेति निष्कर्षः।[2] साम्यावस्था में गुण किसी भी प्रकार हलचल[3] नहीं उत्पन्न करते। इस अवस्था में सत्त्वगुण, सत्त्वगुण में, रजोगुण रजोगुण में एवं तमोगुण तमोगुण में परिणमित होते रहते है। इस अवस्था में कार्य अपने परमकारण अव्यक्त या प्रकृति में तिरोभूत हो जाते हैं। यह प्रकृति की स्वभाविक स्थिति है – साम्यावस्था

---

1 विकारः प्रकृतिश्चैव द्वयं सर्वसमासतः
चरकसंहिता की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ0 117

2 1/61 सां0 सूत्र पर प्रवचनभाष्य।

3 हलचल का तात्पर्य है – परिणाम या कार्यरूप हलचल, अन्यथा इस अवस्था में भी गुण शान्त नहीं रहते। निरन्तर क्रियाशील रहते है।

गुणानां या प्रकृतिः सा स्वभावतः।[1] प्रकृति स्वभाव से स्थिर नहीं है जैसा कि योगसूत्र (3/13) के व्यासभाष्य में कहा गया है – चलं च गुणवृत्तं अर्थात् गुणों की वृत्ति या स्वभाव चंचल है। साम्यावस्था में भी उनका यह स्वभाव बना ही रहता है किन्तु भोगापवर्गरूप पुरूषार्थ का अभाव रहने से इस अवस्था में महदादि परिणाम नहीं उत्पन्न होते। इसे सरूप परिणाम भी कहा जाता है। योगसूत्र (2/19) के भाष्य में व्यासजी प्रकृति की इस अवस्था को अलिंगावस्था या अलिंगपरिणाम कहते है – 'निःसत्ताऽसत्तं चालिंगपरिणाम इति' अर्थात् यह अवस्था महदादि कार्यो की अभिव्यक्ति से रहित अवस्था है। इस अवस्था का कारण भोगापवर्गरूप पुरूषार्थ नहीं है अर्थात् अलिंगावस्था के प्रारम्भ में पुरूषार्थ कारण नहीं होता।[2] उपर्युक्त वर्णन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं – इस अवस्था में भी त्रिगुण क्रियाशील रहते हैं किन्तु किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं करते। तत्त्ववैशारदी में त्रिगुण की प्रलयकालीन अवस्था का वर्णन इस प्रकार से है – सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था न क्वचित्पुरूषार्थः उपयुज्यते इति न सती नापि गगनकमलिनीवत् तुच्छस्वभावा तेन नासत्यपि इति।[3] डा0 दासगुप्त के अनुसार – 'This equilibrium however is not a merepassive state but one of utmost tension; there is intense activity, but the activity here does not lead to the generation of new things and qualities.'[4]

---

1. सांख्यतत्त्वविवेचनं
2. नालिंगावस्थायामादौ पुरूषार्थता कारणं भवतीति न तस्याः पुरूषार्थता कारणं भवति। 2/19, व्यासभाष्य
3. उद्धृत पातञ्जलयोगदर्शनम्, पृ0 229
4. A History of Indian Philosophy.

इस अवस्था में परिणाम या क्रिया मानने का कारण यह है कि यदि हम गुणत्रय को चंचल या क्रियाशील न माने तो प्रश्न यह उठेगा कि सृष्टि–काल में यह सक्रियता कहां से आयी? सांख्य का मान्य सिद्धान्त है कि जो धर्म जिसमें है उसका उसमें कभी अभाव नहीं हो सकता और जो धर्म जिसमें नहीं है वह उसमें कभी नहीं रह सकता। यही कारण है कि गुणों को स्वभावतः चंचलवृत्ति वाला कहा गया है।[1]

गुणत्रय जब न्यौनाधिक्य को प्राप्त होते हैं तब गुणों की साम्यावस्था भंग हो जाती है। गुणत्रय में से कोई एक प्रधान एवं अन्य दो गौण हो जाते हैं। परस्पर विरोधी होने पर भी गुणत्रय अग्नि, वर्तिका और तैल के समान परस्पर अनुकूल रहते हुए अपना कार्य करते हैं। यह गुणों की वैषम्यावस्था है – अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।[2] सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरू वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।[3] प्रकृति - पुरूष दोनों ही विभु, अनादि एवं नित्य माने गए हैं इसलिए प्रकृति–पुरुष का सान्निध्य सर्वत्र एवं सार्वकालिक है। प्रकृति–पुरूष के सम्बन्ध या संयोग की समस्या यहां नहीं है। समस्या प्रकृति की प्रवृत्तिविषयक है। प्रकृति वैषम्यावस्था में सृष्टि के लिए क्यों प्रवृत्त होने लगती है? इस प्रश्न का उत्तर निरीश्वरवादी सांख्य में इस प्रकार दिया जाता है – प्रकृति की प्रवृत्ति अज्ञानी जीव के लिए होती है। प्रकृति, पुरूष के भोग एवं मोक्ष के सम्पादनार्थ स्वतः ही प्रवृत्त होने लगती है। जैसे वत्सवृद्धि के लिए अज्ञक्षीर की प्रवृत्ति स्वतः ही होने लगती है – वत्सविवृद्धिनिमित्तं

---

1. सां0 का0 – 9
2. सां0 का0 – 12
3. सां0 का0 – 13

क्षीरस्य यथा प्रवत्तिरज्ञस्य। पुरूषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।[1] इस प्रवृत्ति में प्रकृति का कोई स्वार्थ नहीं है। प्रत्येक पुरूष को मुक्त कराना ही प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रयोजन है – 'प्रतिपुरूषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः।[2] अचेतन होने के कारण सृष्टि के प्रति प्रकृति का कोई अभिप्राय या स्वार्थ नहीं हो सकता। यह प्रकृति, उस श्रेष्ठ भृत्य के समान है जो अपने स्वामी पुरूष की सेवा में निःस्वार्थभाव से तत्पर रहता है।[3] जैसे कोई अनुरक्त मित्र अपने मित्र के बिना कुछ कहे ही उसका उपकार करता है क्योंकि उसका कार्य स्वार्थ प्रेरित नहीं होता है वैसे ही प्रधान, पुरूष के भोग एवं मोक्ष रूप प्रयोजन का सम्पादन करने के लिए प्रवृत्त होती है।[4] जैसे उष्ट्र द्वारा कुमकुम वहन किसी दूसरे के लिए अर्थात् अपने स्वामी के लिए होता है उसी प्रकार प्रधान की सृष्टि चेतनात्मा के लिए होती है क्योंकि प्रकृति स्वयं उसका भोग नहीं कर सकती है।[5] इस प्रकार वैषम्यावस्था में प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रयोजन या उद्देश्य होता है और साम्यावस्था में प्रकृति की प्रवृत्ति स्वभावतः होती रहती है। वैषम्यावस्था में चेतन के प्रतिबिम्ब से सचेष्ट हुई जड प्रकृति से निम्नलिखित कार्यो का आविर्भाव होता है –

---

1. सां0 का0 – 57 एवं 'अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य' 1/59 सां0 सूत्र
2. सां0 का0 – 56
3. स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद् भृत्यवत् सां0 सूत्र (3/61) एवं सांख्यतत्त्व–कौमुदी सां0 का0 – 61।
4. सां0 का0 की प्राचीनटीका परमार्थकृत चीनी अनुवाद का अय्यास्वामी कृत संस्कृत रूपान्तर (पृ0 84), उद्धृत सां0 द0 की ऐति0 प0, पृ0 228 एवं माठरवृत्ति सां0 का0 - 61 एवं गौडपादभाष्य सां0 का0 - 61 द्रष्टव्य है।
5. 'प्रधानसृष्टि परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्र कुमकुमवहन्वत्' सां0 सूत्र 3/58। अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्र कुमकुमवहनवत् 6/40 सां0 सूत्र ।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहकांरस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पंचम्यः पञ्चभूतानि।[1]

सांख्यशास्त्र में प्रतिपादित प्रकृति - विकृति की गणना निम्नलिखित कारिका में की गई है – मूलप्रकृतिविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरूषः।[2]

अर्थात् मूल प्रकृति न किसी का कार्य है, न कारण, महत् तत्त्व प्रकृति का कार्य है और अहंकार का कारण। महत् तत्त्व, अहंकार एवं पंचतन्मात्र का कारण - कार्य दोनों है। आकाशादि पाँचस्थूलभूत तथा ग्यारह इंद्रियों का समुदाय केवल कार्य है। ये तो प्रकृति से उत्पन्न हुए कार्यों का विवरण है। पुरूष तत्त्व न कार्य है, न कारण। प्रकृति से भिन्न एवं स्वतन्त्र तत्त्व है। प्राकृतिक विकारों का क्रम से विवरण इस प्रकार है –

महत् तत्त्व

सृष्टि के विकास में सर्वप्रथम उत्पन्न तत्त्व महत् है – प्रथमं महतः सर्गो।[3] सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपनम् में कहा गया है – 'त्रिगुणात्मकमाद्यं कार्यं बुद्धिरित्येकं लक्षण'[4] अर्थात् महत्तत्त्व प्रकृति से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ है और प्रकृति की ही भाँति त्रिगुणात्मक है। महत् तत्त्व त्रिगुण प्रकृति के सात्त्विकांश से उद्भूत हुआ है। रजस् और तमस् महत् तत्त्व में न्यून होते हैं और सत्त्वगुण अधिक होता है। योगभाष्य में सत्त्वगुणाधिक्य बताने के लिए ही चित्तसत्त्व एवं बुद्धिसत्त्व

---

1. सां० का० – 22
2. सां० का० – 3
3. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड 3/76/81
4. पृ० 35, चौ० सं० सी० ऑफिस, वाराणसी

का अनेकशः प्रयोग हुआ है।[1] सांख्यतत्त्वविवेचन में 'महत्' तत्त्व को प्रधान के सात्त्विकांश से उत्पन्न कहा गया है – सात्त्विकांशात् प्रधानात् तु महत्तत्त्वम् जायत इति।'[2] महत् और बुद्धिशब्द पर्यायवाची हैं किन्तु महत् शब्द वैश्विक और समष्टिपूरक अर्थ में प्रयुक्त होता है। बुद्धि व्यष्टिवाचक है तथा विभिन्न पुरूषों की निजी बुद्धि को सूचित करती है। इस प्रकार महत् और बुद्धि एक ही तत्त्व की क्रमशः समष्टि और व्यष्टिपरक संज्ञाएँ है। बुद्धि के पर्यायवाची शब्द हैं – मति, ख्याति, प्रज्ञा और ज्ञान। अनुगीता में महान् आत्मा, मति, विष्णु, जिष्णु, शक्तिशाली शम्भु, बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, ब्रह्मा, धृति, स्मृति इन सभी पर्यायवाची शब्दों के द्वारा महत्तत्व का व्यवहार किया जाता है।[3] सांख्यकारिका में बुद्धि का विशिष्ट लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित है – अध्यवसायो बुद्धिः।[4] अन्तःकरण की निश्चयात्मकवृत्ति बुद्धि कहलाती है – अध्यवसायश्च निश्चयाख्यस्तस्याऽसाधारणी वृत्तिरित्यर्थः।[5] बुद्धि तत्त्व की व्यापकता अहंकारादि समस्त कार्यों में है। इस कारण से ही इसे महत् तत्त्व कहा जाता है। अन्तःकरणत्रय मन, बुद्धि और अहंकार में बुद्धि तत्त्व ही प्रधान है क्योंकि यही पुरूष के समस्त कार्य (भोग एवं मोक्ष) सम्पन्न करती है – सान्तःकरणा बुद्धिः सर्व विषयमवगाहते यस्मात्। तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि।[6] त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्य होने से इसका स्वरूप भी त्रिगुणात्मक है। सात्त्विक बुद्धि के धर्म या रूप इस प्रकार से है – धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इसके विपरीत बुद्धि के तामस् रूप

---

1 2/17 योगसूत्र

2. सांख्यसंग्रहः

3 सांख्यसार, पृ0 31

4. सांख्यकारिका – 23 एवं तत्त्वकौमुदी

5. सां0 प्र0 भा0 – 2/14

6. सां0 का0 – 35

है – अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य।[1] इसका विवेचन पंचम अध्याय में द्रष्टव्य है। यहां पर संक्षेप में इनकी चर्चा की जा रही है – धर्म वह है जो लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण का कारण बनता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति तथा पुरूष के विवेक या भेद का साक्षात्कार ही ज्ञान है। राग का अभाव विराग अर्थात् वैराग्य है। इसकी यतमान, एकेन्द्रिय तथा वशीकार ये चार संज्ञाएं हैं। ऐश्वर्य भी बुद्धि का धर्म है इससे अणिमा इत्यादि की उत्पत्ति होती है। ये चारों बुद्धि के सात्त्विक रूप हैं। इनके विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य ये चार बुद्धि के तामस धर्म है।[2] बुद्धि में रजस् एवं तमस् गुण भी होते हैं। किन्तु इसमें सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। यही कारण है कि बुद्धितत्त्व में पुरूष तत्त्व को प्रतिबिम्बत करने की क्षमता होती है।

बौद्धिक सर्ग

बुद्धि के चार प्रमुख परिणाम हैं – विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि। गुणों के न्यूनाधिक्य से पारस्परिक अभिभव होने के कारण इनके पचास भेद होते हैं।[3] विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि से बन्धन एवं सिद्धि से मोक्ष प्राप्त होता है – ज्ञानेन चापवर्गो, विपर्ययादिष्यते बन्धः।[4] बुद्धि के इन चार परिणामों के अन्तर्गत ही ज्ञान–अज्ञान, ऐश्वर्य – अनैश्वर्य, धर्म–अधर्म एवं वैराग्य – अवैराग्यादि का भी अन्तर्भव हो जाता है। अज्ञान का विपर्यय में, अधर्म

---

1. अध्यवसायो बुद्धिधर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् सात्त्विकमेतद् रूपं तामसम स्माद्विपर्यस्तम्। सां0 का0 23
2. तत्त्वकौमुदी – 23
3. एषप्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धियाख्यः गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तुपञ्चाशत्। (सां0 का0 46)
4. सां0 का0 – 44

अवैराग्य एवं अनैश्वर्य का अशक्ति में तथा धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य का तुष्टि में तथा ज्ञान का सिद्धि में अन्तर्भाव हो जाता है ।

अविद्या या विपर्यय :

यह पाँच प्रकार का होता है किन्तु सूक्ष्मभेदों के कारण यह 62 प्रकार[1] का कहा गया है –

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोह।
तामिस्त्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः।।[2]

अविद्या के पाँच प्रकार – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। यद्यपि इसकी चर्चा तृतीय अध्याय में की जा चुकी है तथापि संक्षेप में पुनः चर्चा की जा रही है। अविद्या, अनित्य में नित्यता का ज्ञान, अपवित्र शरीरादि को पवित्र समझना, अनात्म पदार्थों में आत्म बुद्धि रखना और दुःखदायक जगत् में सुख का बोध होना वस्तुतः विपर्यय या अविद्या है। अस्मिता, दृक्–दर्शन शक्ति की एक रूप से प्रतीति होना राग, अज्ञान के कारण सुखदायक पदार्थों के प्रति जीव का साकारात्मक भाव एवं उसे प्राप्त करने की इच्छा राग है। द्वेष, दुःखद पदार्थों के प्रति हेयभाव रखना और उससे दूर रहने की इच्छा द्वेष है और अभिनिवेश अपने अस्तित्व के विषय में 'मैं सदैव रहूँ' ऐसी कामना अभिनिवेश है।[3] पंचपर्वों वाली अविद्या के सूक्ष्मभेद –

1. तमस् या अविद्या – प्रकृति, महत्, अहंकार एवं पंचतन्मात्रों में आत्मभावना करना तमस् है। इस प्रकार तमस् के आठ भेद हुए।

---

1. 'सोऽय' पंचविधो विकल्पो विपर्ययोऽवान्तरभेदाद् द्वाषष्टिरिति' तत्त्वकौमुदी सां0 का0 – 48
2. सां0 का0 – 48
3. योगसूत्र व्यासभाष्य (1/8, 2/5, 2/6 – 9)

2. मोह या अस्मिता – अणिमादिअष्टसिद्धियों के लाभ से अपने को अजर एवं अमर मानना मोह है। मोह भी आठ प्रकार का हुआ।

3. महामोह या राग – शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि दिव्यादिव्यभेद[1] से दस प्रकार के होते है। इनके प्रति उपादेय बुद्धि होना राग या महामोह है।

4. तामिस्र या द्वेष – अष्टविध ऐश्वर्य तथा दिव्यादिव्य शब्दादि 10 विषयों में से यदि किसी के प्रति अप्रीति हो गई हो तो उसके प्रति द्वेष अथवा दूसरों द्वारा उपभुज्यमान् पदार्थों को देखकर/ उनके प्रति द्वेष होना ही तामिस्र या राग नामक क्लेश है।

5. अन्धतामिस्र या अभिनिवेश – तामिस्र के 18 विषयों को प्राप्त करने की प्रबल कामना एवं प्राप्त करके भोग के समय उनके विनाश का भय होना अन्धतामिस्र है। इस प्रकार तमस् के 8 भेद + मोह के 8 भेद + महामोह के 10 भेद + तामिस्र के 18 भेद + अन्धतामिस्र के 18 भेद = मिलाकर विपर्यय या अविद्या के 62 अवान्तर भेद हुए ।

<u>अशक्ति</u> :

अशक्ति के 28 भेद होते हैं। 5 ज्ञानेन्द्रिय + 5 कर्मेन्द्रिय + एकमन = ग्यारह इन्द्रियों के कुण्ठितभाव या दोष भी ग्यारह है। सत्रह प्रकार के बुद्धिवध

---

1. मनुष्यों को भौतिक शरीर द्वारा शब्दादि विषय का भोग होता है वे शब्दादि विषय शान्त, घोर, मूढ़ अवस्था वाले होते है। देवताओं द्वारा भुज्यमान्शब्दादि विषय अविशेष होते है, क्योंकि वे विषय शान्त, घोर, और मूढ़ दशाओं से रहित होते है। देवानांशब्दादयः पंचतन्मात्राख्या विषया अविशेषाः (माठरवृत्ति सां0 का0 – 48)

या दोष होते हैं। इंद्रियों एवं बुद्धि दोषों को ही अशक्ति कहते हैं[1] – 'एकाशदशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरूद्दिष्टा, ग्यारह इंद्रियवध इस प्रकार से है' – श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणिपाद, पायु, उपस्थ और मन इन ग्यारह इंद्रियों के कुण्ठित हो जाने पर क्रमशः ग्यारह प्रकार के इंद्रियवध या दोष होते हैं – बहरापन, कोढ़, अन्धापन, स्वादों का ज्ञान न होना, गन्ध का ज्ञान न होना, गूंगापन, हाथ का टूटा होना, लंगड़ापन, नपुंसकत्व, गुदादोष तथा मनःस्तब्धता आदि हैं। बुद्धि के 17 दोष इस प्रकार हैं – 9 तुष्टि और अष्ट सिद्धियां होती हैं उनका अभाव तथा अभिभव के कारण बुद्धिदोष 17 हुए। ग्यारह इंद्रियवध तथा 17 बुद्धिदोष मिलाकर अशक्ति के 28 प्रकार होते हैं। 9 तुष्टि एवं उनके अभाव इस प्रकार से है – 1. प्रकृतितुष्टि . 2. कालतुष्टि 3. उपादानतुष्टि 4. भाग्यतुष्टि 5. शब्दोपरमा 6. स्पर्शोपरमा 7. रूपोपरमा 8. रसोपरमा 9. गन्धोपरमा। इन तुष्टियों के अभाव से प्रकृत्यातुष्टि, कालातुष्टि, उपादानातुष्टि, भाग्यातुष्टि, शब्दोपरमातुष्टि, स्पर्शोपरमातुष्टि अतुष्टि भी 9 प्रकार की होती है। इसी प्रकार ऊह, शब्द, अध्ययन, आध्यात्मिक-आधिभौतिक - आधिदैविक - दुःखविघात, सुहृतप्राप्ति और दान नामक अष्ट सिद्धियाँ हैं। इनका अभिभव या अभाव अनूह, अनध्ययन, आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक दुःखानभिघात, सुहृदाप्राप्ति तथा आदान आदि हैं।

तुष्टि :

तुष्टि के नवभेदों की विस्तार से चर्चा इस प्रकार से है –

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पंच च नव तुष्टयोऽभिमताः।।[2]

---

1 सां0 का0 – 49 पूर्वार्द्ध

2 सां0 का0 – 50

प्रकृति से सर्वथा भिन्न (पृथक्) आत्मतत्त्व है, ऐसा समझ कर भी जो व्यक्ति अरात् उपदेश से सन्तुष्ट होकर श्रवण मननादि के द्वारा विवेक ज्ञान के लिए प्रयत्न नहीं करता, उसकी आध्यात्मिक तुष्टियां 4 प्रकार की होती है –

1 **प्रकृतितुष्टि** – यद्यपि प्रकृति–पुरूष के भेद ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है, यह सिद्धान्त है, तथापि किसी अल्पज्ञ गुरू द्वारा इस उपदेश से कि विवेक साक्षात्कार प्रकृति का कार्य है, प्रकृति 'मुक्ति' कर ही देगी, ध्यान समाधि आदि की आवश्यकता नहीं है। ऐसा संतोष हो जाने से प्रकृति तुष्टि होती है।

2 **उपादानतुष्टि** – यद्यपि विवेकज्ञान से तुष्टि होती है परन्तु वह प्रकृति के ज्ञान मात्र से नहीं होती क्योंकि यदि ऐसा होता तो प्रकृति सबके लिए समान होने से सब विवेकयुक्त होकर मुक्त जाएँगे। पर ऐसा संभव नहीं है। अतः सन्यास लेने से ही विवेकज्ञान होता है ध्यानादि की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के उपदेश से जो तुष्टि होती है वह उपादानतुष्टि है। उपादानतुष्टि सलिलतुष्टि भी कहलाती है।

3. **कालतुष्टि** – संन्यास भी शीघ्र अपवर्ग देने वाला नहीं है। वह कालान्तर में परिपक्व होकर ही तुम्हें विवेकज्ञान देगा, तुम्हारे उद्विग्न होने से कोई लाभ नहीं, ऐसे उपदेश से जो तुष्टि होती है वह काल नामक तुष्टि है। यह ओ**घ** भी कहलाती है।

4 **भाग्यतुष्टि** – विवेकज्ञान न प्रकृति से, न काल से, न संन्यास ग्रहण से ही होता है। मदालसा की सन्तानें अत्यधिक बाल होने पर भी माता के उपदेश से ही विवेकज्ञान युक्त होकर मुक्त हो गई। इसलिए भाग्य ही हेतु है, अन्य कुछ नहीं ऐसे उपदेश से जो तुष्टि होती है वह भाग्य नामक तुष्टि है। यह 'वृष्टि' भी कहलाती है।

उपयुर्क्त चारों आभ्यन्तर तुष्टियां हैं अन्तिम पांच बाह्य तुष्टियां हैं। शब्दादि पांच विषयो शब्द स्पर्श, रूप, रस एवं **गन्ध** के अर्जन, संरक्षण, विनाश और भोग में कष्ट, हिंसा के बिना शब्दादि का अर्जन नहीं हो सकता, इसलिए कष्ट, इन क्लेशों के कारण तथा विषयदोष के दर्शन से भी इनके प्रति चिन्त निवृत्त हो जाता है। इसे ही क्रमशः शब्दोपरमा तुष्टि, स्पर्शोपरमा तुष्टि, रूपोपरमातुष्टि एवं गन्धोपरमा तुष्टि कहते है। इनके अपर नाम योग में क्रम इस प्रकार से हैं – 1. अम्भ 2. सलिल 3. ओघ 4. सृष्टि 5. पार 6 सुपार 7. पारापार 8 अनुत्तमाम्भः 9. उत्तमांभ।

अष्टसिद्धि

उह, शब्द, अध्ययन, त्रिविधदु:ख विनाश, सुहृदप्राप्ति तथा दान ये आठ सिद्धियां हैं।[1] अष्टसिद्धियों में प्रथम अध्ययन नामक सिद्धि केवल कारण है। दु:ख के त्रिविध होने के कारण उसके विनाश भी त्रिविध हुए। ये त्रिविध दु:ख–विनाश, मुख्य सिद्धियां हैं। ये केवल कार्य है और बीच वाली सिद्धियां कार्य-कारण दोनों हैं। शस्त्रविधिपूर्वक गुरू–मुख से अध्यात्मविद्या के परायण का श्रवण 'अध्ययन' नामक प्रथम सिद्धि है, जो संसारतरण का प्रथम हेतु होने के कारण 'तार' कहलाती है। उसका कार्य शब्द है। कार्य में कारण के आरोप द्वारा शब्द पद से शब्दोत्पन्न अर्थ ज्ञान सूचित होता है। यह दूसरी सिद्धि है, जो सरलतया संसार–तारक होने के कारण 'सुतार' कहलाती है। शास्त्रानुकूल युक्तियों से शास्त्रोक्त विषय की परीक्षा "ऊह" है और यह परीक्षा संदिग्ध पूर्वपक्ष के परित्याग द्वारा उत्तरपक्ष या सिद्धान्त की स्थापना है। इसे ही शास्त्रज्ञ मनन

---

1. उहः शब्दोऽध्ययनं दु:खविघातास्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
   दानं च सिद्धयोष्टौ सिद्धेःपूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः।।
   सां0 का0 – 51

कहते है। यह तीसरी सिद्धि अध्ययन और शब्द की अपेक्षा अधिक तारक होने से तारतार कहलाती है। स्वयं किया गया और सुहृदों के द्वारा असम्मत मनन सम्यक् मनन नहीं है। साधक युक्तियों के द्वारा स्वयं परीक्षा किए हुए सिद्धान्त में तब तक विश्वास नहीं करता, जब तक कि गुरू शिष्य और सहाध्यायियों के साथ संवाद नहीं कर लेता। अतः सुहृदों का संवाद सुहृत्प्राप्ति है। यह चौथी सिद्धि शास्त्रार्थ संवाद में रमणीय होने के कारण रम्यक कहलाती है।

दान :

यहां दान पद की निष्पत्ति शोधन अर्थ वाली दैप् धातु से होती है जिसका अर्थ है – विवेकज्ञान की शुद्धि है। यह पांचवी सिद्धि सार्वकालिक आनन्द का हेतु होने के कारण सदामुदित कहलाती है।

दुःख यविनाश :

आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक दुःखत्रयविनाश स्वरूप तीनों मुख्य सिद्धियां प्रमोद, मुदित और मोदमान कहलाती हैं। इस प्रकार कुल आठ सिद्धियां हुई। बुद्धि के चतुर्विध परिणामों में सिद्धि ही ग्राह्य है।[1] विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि, सिद्धि के विघातक होने के कारण त्याज्य हैं।

पुरूषार्थ सम्पादन के लिए ही यह सृष्टि होती है और यह पुरूषार्थ बौद्धिक परिणाम एवं तन्मात्रपरिणाम, दोनों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। बुद्धि परिणाम के बिना तन्मात्रपरिणाम न तो स्वरूपतः ही सिद्ध होगा और न पुरूषार्थ में साधन ही बनेगा। इसी प्रकार तन्मात्र–परिणाम के बिना बुद्धि–परिणाम भी

---

1 'अत्र प्रत्ययसर्गे सिद्धिरूपादेयेति प्रसिद्धमेव' तत्त्वकौमुदी – सां० का० 51

न स्वरूपतः ही सिद्ध होगा और न पुरूषार्थ में साधन बनेगा। 'भोग' नामक पुरूषार्थ शब्द शब्दादि विषयों तथा द्विविध (स्थूल और सूक्ष्म) शरीर रूप भोगायतनों के बिना असम्भव है। इसलिए तन्मात्र-परिणाम को मानना आवश्यक है। इसी प्रकार भोग नामक पुरूषार्थ स्वसाधनभूत इंद्रियों तथा अन्तःकरणों के बिना असम्भव है। अपवर्ग नामक द्वितीय पुरूषार्थ का साधन-भूत विवेकज्ञान भी बिना द्विविध सर्ग के असम्भव है क्योंकि विवेकज्ञान के लिए श्रवण, मननऔर निदिध्यासन आवश्यक है, ये तीनों बुद्धि, मनादि सूक्ष्म अन्तरिन्द्रिय के बिना असम्भव हैं।[1] बौद्धिक सर्ग का विवेचन करने के पश्चात् स्थूल सृष्टि का विवेचन किया जाएगा किन्तु इससे पूर्व अहंकार, मन, इंद्रिय, पंचतन्मात्रों और पंचमहाभूतों का विवेचन करना आवश्यक है।

<u>अहंकार</u> :

जिस प्रकार बीज से अंकुर उत्पन्न होता है उसी प्रकार महत् तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार अहं को प्रकट करता है – 'अभिमानोऽहंकार '[2] अभिमान करना अहंकार का असाधारण व्यापार है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अहंकार का अर्थ अभिमान या आत्मप्रेम है। कूर्म पुराण में अहंकार का लक्षण इस प्रकार से वर्णित है – अहंकारोऽभिमानश्च कर्त्ता मन्ता च संस्मृतः आत्मा देही च जीवश्च यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।[3]

---

1 तत्त्वकौमुदी सां0 का0 – 51

2 2/105 सां0 सूत्र

3. 1/4/19 एवं सां0 सूत्र 6/54, 1/63 द्रष्टव्य है।

तत्त्वकौमुदीकार के अनुसार – 'यत्खल्वालोचितं मतं च तत्र अहमधिकृत' 'शक्तः खल्वहमत्र', 'मदर्था एवामी विषयाः' मत्तो नान्योऽत्राधिकृतः कश्चिदस्ति 'अतोऽहमस्मि' इति योऽभिमानः सोऽसाधारण व्यापारत्वादहंकारः।[1] तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति में अहंकार का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित है –

अहं शब्दे अहं स्पर्शे अहं रूपे अहं रसे ।
अहं गन्धे अहं स्वामी धनवानहमीश्वरः।
अहं भोगी अहं धर्मेऽभिषिक्तोऽसौमया हतः।
अहं हनिष्ये बलिभिः परैरित्येवमादिकः।[2]

कर्तृत्व का सम्बन्ध इसके साथ है क्योकि अभिमान के पश्चात् ही प्रवृत्ति दिखायी देती है किन्तु पुरूष के अपरिणामी होने से कर्तृत्व का सम्बन्ध पुरूष से नहीं है। कर्तृत्व का अभिमान अन्तःकरण से सम्पर्क के कारण ही पुरूष में आरोपित होता है। योग में इसे अस्मिता कहा गया है। अहंकार भौतिक नहीं है इसके अस्तित्व की सिद्धि इसके कार्यों द्वारा होती है। जैसे प्रकृति अतिसूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। महदादि कार्यों से इसका अनुमान किया जाता है और महत् तत्त्व का अनुमान अहंकार द्वारा होता है अर्थात् अहंकार महत् तत्त्व के अनुमान में लिंग बनता है।[3] अहंकार द्रव्य हे क्योकि यह इंद्रियों एवं तन्मात्रों का उपादान कारण है।[4] अहंकार सात्त्विक, राजस् और तामस् भेद से त्रिविध होता है। यह भेद कार्यभेद की दृष्टि से किया गया है। इस अहंकार के अपने वास्तविक स्वरूप अथवा रचना में किसी प्रकार के भेद की सम्भावना नहीं की जा सकती। सात्त्विक अहंकार से एकादश इंद्रियों का सात्त्विकगण

---

1 सां0 का0 – 24, तत्त्वकौमुदी

2. पृ0 76 तत्त्वसमाससूत्रवृत्तिः

3 सां0 प्र0 भा0 1/63

4 सां0 प्र0 भा0 1/63

अहंकारश्चाभिमानवृत्तिकमन्तःकरणद्रव्यं न त्वभिमानमात्रम् द्रव्यस्यैव लोके द्रव्योपादानत्वदर्शनात्, सां0 प्र0 भा0 1/63

उत्पन्न होता है – पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय तथा मन। तामस् अहंकार से पंचतन्मात्रों की उत्पत्ति मानी गई है। राजस् अहंकार को दोनों की उत्पत्ति में सहायक माना गया है – सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्। भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः तैजासादुभयम्।[1] सांख्यकारिका के टीकाकारों ने इसी मत को स्वीकार किया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि सांख्यसूत्रों में केवल मन को ही वैकृत (सात्त्विक) अहंकार से उत्पन्न माना गया है तथा पंचज्ञानेन्द्रियों एवं पंचकर्मेन्द्रियों की राजस् अहंकार से उत्पत्ति मानी गई है।[2]

महादेव वेदान्ती ने आचार्यविज्ञानभिक्षु के मत का ही अनुसरण किया है। इन्होंने 25वीं सांख्यकारिका के तैजसादुभयं पद का अर्थ किया है – राजस् अहंकार से ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों की उत्पत्ति होती है।[3] आचार्यविज्ञानभिक्षु अपने मत की पुष्टि के लिए भागवतपुराण[4] को उद्धृत करते हैं –

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ।
अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणात्मनो वैकारिकादभूत् ।
तैजसादिन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च।
तमसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिंगमात्मनः ।

---

1 सां० का० – 25
तदुभयस्मिन्नपि कार्ये सत्त्वतमसोः क्रियोत्पादन द्वारेणास्ति रजसः कारणत्त्वमिति न व्यर्थं रज इति। तत्त्वकौमुदी, सां० का० 25

2 गजाननशास्त्री कृत सां.प्र.भा. की हिन्दी व्याख्या – एकादशानां पूरणमेकादशकं मनः षोडशात्मगणमध्ये सात्त्विक । .. अतश्च राजसहंकाराद्दशेन्द्रियाणि, तामसहंकाराच्च तन्मात्राणीत्यधिगन्तव्यं (सां० सू० 2/18)

3 सां० सूत्र – 2/18

4 सां० सूत्र – 2/18

डा0 आद्याप्रसाद मिश्र का इस विषय में यह विचार है कि सांख्यसिद्धान्त की दृष्टि से यह मत उचित या अनुचित जो भी हो, परन्तु सांख्यकारिका[1] की पंक्ति के अर्थ की दृष्टि से तो यह अवश्य ही युक्त नहीं लगता। जहां तक दोनों के अर्थो के सांख्य सिद्धान्तों के अनुकूल या प्रतिकूल होने का प्रश्न है वहां तत्त्वकौमुदीकार का ही मत अधिक संगत लगता है। यदि इस विषय में कोई शंका करे कि सभी इन्द्रियों के सात्त्विक होने पर कर्मेन्द्रियां भी विषयों को क्यों नहीं प्रकाशित करतीं? उन्हें भी मन और ज्ञानेन्द्रियों की ही भांति विषयों को प्रकाशित करना चाहिए। ऐसी शंका तो विज्ञानभिक्षु के अर्थ के सम्बन्ध में होगी क्योंकि यदि सभी इंद्रियां सात्त्विक नहीं है केवल मन सात्त्विक है तो फिर ज्ञानेन्द्रियां विषय का प्रकाशन क्यों करती हैं? इस प्रश्न का समाधान यह है कि उत्कृष्ट सत्त्वप्रधान अहंकार से मन, मध्यमसत्त्वप्रधान अहंकार से ज्ञानेन्द्रियां तथा निकृष्ट सत्त्वप्रधान अहंकार से कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होती है। अतएव जहां मन सर्वाधिक विषय प्रकाशक है वहां ज्ञानेन्द्रियां मन की तरह विषय का प्रकाशन नहीं करतीं और कर्मेन्द्रियां तो प्रकाशन करती ही नहीं। सात्त्विक होने से ही वे लघु एवं क्षिप्रकारिणी होती हैं।[2] ज्ञानेन्द्रियों में सत्त्वगुण मन की अपेक्षा न्यून होता है किन्तु कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा अधिक होता है इसलिए ज्ञानेन्द्रियां विषय का प्रकाशन करती हैं। पं0 उदयवीर शास्त्री के अनुसार इन्द्रियों की यह सृष्टि सात्त्विक ही है। डा0 उर्मिला चतुर्वेदी उपयुर्क्त मतों में सामंजस्य स्थापित करते हुए लिखती है कि सत्त्विक अहंकार से उत्पन्न न होते हुए भी ज्ञानेन्द्रियां विषय का प्रकाशन करने में इसलिए समर्थ होती है क्योंकि तामस् अंश उनमें उतना ही होता है जितना मन में। केवल तैजस् अर्थात राजस अहंकार

---

1 सात्त्विक एकादशकः प्रवर्ततेवैकृतादहंकारात् भूतादेस्तन्मात्राः स तामसः तैजसादुभयम्। (सां0 का0 25)

2. डा0 आद्याप्रसाद मिश्र कृत तत्त्कौमुदी की हिन्दी व्याख्या, पृ0 238 से 239

की मात्रा अधिक रहती है इसलिए उन्हें तैजस् अर्थात् राजस् अहंकार से उत्पन्न माना गया है। ज्ञानेन्द्रियों में सात्त्विकांश मन के तुल्य ही होता है। विषय का प्रकाशन वे मन की अपेक्षा न्यूनरूप में करती हैं क्योंकि उनमें राजस् अहंकार अधिक होता है। कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति के समय तामस् अंश की अधिकता हो जाती है सत्त्वांश न्यून हो जाता है इसलिए वे विषय का प्रकाशन नहीं करती हैं किन्तु उनमें सत्त्वांश पर्याप्त मात्रा में होता है। इस कारण वे क्षिप्रकारिणी होती हैं।[1]

एकादशेन्द्रिय

तत्त्वकौमुदीकार इंद्रिय का लक्षण करते हुए लिखते है कि जिसकी उत्पत्ति में सात्त्विकअहंकार उपादान कारण हो, वह इन्द्रिय है – सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम्।[2] इन्द्रिय का व्युत्पत्ति परक अर्थ वाचस्पतिमिश्र जी इस प्रकार करते हैं – 'इन्द्रस्यात्मनश्चिह्नत्वादिन्द्रियमुच्यते'[3] अर्थात् इन्द्रियां इन्द्र अर्थात् आत्मा की लिंग या अनुमापक होने के कारण इन्द्रिय कहलाती हैं। विज्ञानभिक्षु इन्द्रिय का अर्थ इस प्रकार करते है – इन्द्र अर्थात् आत्मा के भोग का साधन होने से इन्हें इन्द्रिय शब्द से कहा जाता है।[4] इन्द्रिय का लक्षण आचार्यविज्ञानभिक्षु के मत में इस प्रकार है ... अहंकारकार्यत्वेसति करणत्वमिन्द्रियत्वमिति[5] अर्थात् जो अहंकार का कार्य होते हुए करण भी हो उसे

---

1 सांख्यदर्शन और विज्ञानभिक्षु, पृ0 153 डा0 उर्मिला चतुर्वेदी कृत।

2 सां0 का0 26 पर तत्त्वकौमुदी

3 सां0 का0 26 पर तत्त्वकौमुदी

4 इन्द्रस्य संघातेश्वरस्य करणमिन्द्रियम् । (सां0 सूत्र 2/19 पर प्र0 भा0)

5 सां0 सूत्र प्र0 भा0 2/19

इन्द्रिय कहते हैं। भावागणेश के अनुसार अन्य तत्त्व को न उत्पन्न करने वाली तथा जिसका उपादान कारण अहंकार है वह इन्द्रिय है।[1] इन्द्रियाँ तीन प्रकार की होती है – आभ्यन्तर इन्द्रिय मन, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय।

<u>मन</u> :

मन इन्द्रियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इन्द्रिय है। यह सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होता है – 'इन्द्रियान्तरैः सात्त्विकाहंकारोपादानत्वं च'[2] यह आभ्यन्तरिन्द्रिय है। मन उभयात्मक अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का प्रवर्तक होने से, वह ज्ञानेन्द्रिय है और कर्मेन्द्रियों का प्रवर्तक होने से कर्मेन्द्रिय भी है – 'उभयात्मकमत्रमनः, संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्। यह ज्ञानेन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर ज्ञान प्राप्त करने में और कमेन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर कार्य करने में सहायता करता है। बाह्येन्द्रियों द्वारा प्राप्त किसी विषय का अस्पष्ट ज्ञान होने पर मन संकल्प–विकल्प करता है। तभी उस विषय का स्पष्ट ज्ञान होता है। अतः मन का असाधारण धर्म या लक्षण है – 'संकल्पमत्र मनः'[3] अर्थात् संकल्प - विकल्प करना है। मन ही ज्ञान का आधार है तथा ज्ञान को आत्मा तक पहुंचाने का माध्यम है। मन विभु नहीं है एक उदाहरण देते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि मन क्रिया युक्त है इसका उल्लेख श्रुतियों में भी पाया जाता है।[4] अतः मन विभु नहीं हो सकता। मन एक समय में एक ही इंद्रिय से संयुक्त होता है क्योंकि मन व्यापक नहीं है। ज्ञान का साधन है। अतः मन करण है – न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा वास्यादिवच्चक्षुरादिवत्।[5] मन निरवयव नहीं है। विज्ञानभिक्षु[6] मन के दैशिक अवयव

---

1 तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्, पृ0 2

2. तत्त्वकौमुदी – सां0 का0 27 एवं सां0 सूत्र 2/26

3 सां0 का0 – 27, तत्त्वकौमुदी

4 सां0 सूत्र – 5/70

5 5/59 सां0 सूत्र

6 5/71 सां0 सूत्र – न निर्भागत्वं तद्योगाद् घटवत्।
एवं रामशंकरभट्टाचार्य की व्याख्या।

नहीं मानते किन्तु कालिक अवयव स्वीकार करते हैं।

ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय

ज्ञानेन्द्रिय पाँच है – घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र।
कर्मेन्द्रिय – वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ।

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानिवाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः।[1]

घ्राणेन्द्रिय का विषय है – गन्ध, व्यापार है सूँघना। रसना का विषय है – रस, व्यापार है – स्वाद लेना। चक्षु का विषय है – रूप, व्यापार है देखना। त्वक् इंद्रिय का विषय है स्पर्श, व्यापार है छूना और श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है शब्द, व्यापार है सुनना। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के व्यापार इस प्रकार है – वाक् – बोलना, हस्त – आदान–प्रदान, पाद – गमनागमन, पायु (गुदा) – मलोत्सर्जन एवं उपस्थ का व्यापार है – प्रजनन।[2] ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान का बाह्य साधन हैं। ज्ञानेन्द्रियों से गृहीत विषय का मनन मन से, अभिमान अहंकार से तथा निश्चय बुद्धि के द्वारा होताहै। प्रायः सांख्य दार्शनिकों ने इंद्रियों का परिच्छिन्न परिमाण माना है किन्तु विन्ध्यवासी इन्द्रियों का विभु परिमाण मानते हैं।[3]

पञ्चतन्मात्र

तामस् अहंकार से पंचतन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियों तथा पंचतन्मात्रों की उत्पत्ति में कोई पौर्वापर्य नहीं है। क्योकि इनमें परस्पर कार्य–कारण भाव नहीं है।[4] आचार्य विन्ध्यवास महत्तत्त्व से ही तन्मात्रों की उत्पत्ति स्वीकार

---

1 सां0 का0 – 26

2. 2/28 – सां0 सूत्र; सां0 का0 28

3. युक्तिदीपिका – 22

4 सांख्यसार – पूर्वभाग /3

करते है[1] किन्तु अन्य सभी सांख्यदार्शनिकों ने अहंकार से ही तन्मात्रों की उत्पत्ति स्वीकार की है। जब अहंकार में सत्त्वांश अत्यन्त न्यून हो जाता है तथा तमस् का आधिक्य होता है तब तन्मात्र रूप अधिभूत सृष्टि होती है। यह सृष्टि भी इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होती अतः व्यवहार की दृष्टि से तन्मात्रों को सूक्ष्मभूत कहा जाता है।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहकांरस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ।।[2]

शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध के भेद से तन्मात्र पंचविध है। योगसूत्र में इन्हें अविशेष कहा गया हे। अविशेष अवस्था में त्रिगुण शान्त, घोर और मूढ़ रूप में अभिव्यक्त नहीं रहते। तन्मात्रों के अतिरिक्त छठवाँ अविशेष अस्मिता मात्र है।[4] इनमें अन्य किसी भी तत्त्व का मिश्रण न रहने से इन्हें तन्मात्र शब्द से कहा गया है। "विशेषैः रहिता अविशेषास्तद्वन्ति द्रव्याणि तन्मात्रः तेषां पर्यायाःतन्मात्राणि

---

1 युक्तिदीपिका – 22

2 सां0 कारिका – 22

महदादिक्रमेण पंचभूतानाम् 2/10 सां0 सू0

योगसूत्र 2/19

तन्मात्र शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध के आधारभूत सूक्ष्म द्रव्य है। ये स्थूलों की अपेक्षा अविशेष यानि विशेष धर्म से रहित होते है।

तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रास्तेन तन्मात्रता स्मृता ।
न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः ।
विष्णु पुराण (1/2/48)

तमोविग्रहाः सूक्ष्मभूतानि अविशेषा इति।[1] आचार्य विज्ञानभिक्षु ने तन्मात्रों के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष द्वारा उठायी गई शंका का समाधान इस प्रकार किया है –

1 तन्मात्र के कारण द्रव्य में रूपादि का अभाव होता है, तब तन्मात्रों में रूपादि धर्म कहां से आ जाते है ? इस शंका का समाधान करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं – त्रिगुण का न्यूनाधिक भाव से संयोग ही तन्मात्रों में रूपादि का कारण हैं। जैसे – हल्दी–चन्दन दोनों में अलग–अलग लालिमा नहीं होती है किन्तु दोनों के संयोग विशेष से उनमें लालिमा उत्पन्न हो जाती है वैसे ही तन्मात्र के कारण द्रव्य में रूपादि का अभाव होने पर भी कारण द्रव्य के गुणत्रय के विशेष संयोग से तन्मात्रों में रूपादि धर्म आ जाते है। इस संदर्भ में वे वैशेषिकों के परमाणुओं में रूपादि धर्म मानने के मत को हेय मानते हैं।[2] परमाणु में रूपादि यदि हों तो उनका परमाणुत्व भंग हो जाएगा। वायु एवं आकाश के परमाणु में रूपादि मानें तो वायु एवं आकाश का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं।

तन्मात्रों की उत्पत्ति

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच सूक्ष्मभूत या तन्मात्राएं है। इनका उपादान अहंकार है और ये स्थूलभूतों के कारण है।[3] अहंकार से शब्दतन्मात्र,

---

1. पृ0 38, सांख्यतत्त्वयथार्थ्यदीपनम्
   चौ0 सं0 सीरीज आफिस, द्वितीय संस्करण
2. सां0 प्र0 भा0 (1/62)
3. शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानिर्विशेषास्तद्वन्ति सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राः। निर्विशेषशब्दादि गुणवद् द्रव्यं तन्मात्रा इति सामान्यलक्षणं। अहंकारोपादानत्वे सति तत्त्वान्तरारम्भकत्वं द्वितीयं लक्षणम्। पृ0 37 सांख्यतत्त्व याथार्थ्यदीपनम्, चौ0 सं0 सीरीज आफिस, वाराणसी, द्वितीय संस्करण

तदनन्तर अहंकार सहकृत शब्दतन्मात्र से शब्द स्पर्श गुण युक्त स्पर्शतनमात्र उत्पन्न होता है। इसी क्रम से एक–एक गुणों की वृद्धि से क्रमशः रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र एवं गन्ध तन्मात्र की उत्पत्ति होती है।[1] योगभाष्य में तन्मात्रों की उत्पत्ति का यही क्रम स्वीकार किया गया है।[2] विष्णु पुराण में भी तन्मात्रों की उत्पत्ति का यही क्रम मिलता है।[3]

पंचमहाभूत

क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर ये पंचतत्त्व हैं। अविशेष सूक्ष्मतन्मात्रों से सविशेष एवं स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति होती है।[4] शब्द तन्मात्र से शब्दगुण वाला आकाश, शब्द तन्मात्र से युक्त स्पर्शतन्मात्र से शब्द और स्पर्श गुणों वाला वायु, शब्द और स्पर्शतन्मात्रों से युक्त रूप तन्मात्र से शब्द, स्पर्श और रूप गुण वाला तैजस, शब्द, स्पर्श एवं रूपतन्मात्र से युक्त रसतन्मात्र से अप् तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस सहकृत गन्धतन्मात्र से शब्दादि पंचगुण युक्त पृथिवी उत्पन्न होती है। यह क्रम कूर्मपुराण में भी मिलता है।[5] तन्मात्र के सम्बन्ध में एक और मत प्राप्त होता है। तन्मात्रों को केवल एकैक गुणवाला माना गया है। तत्त्वकौमुदी, युक्तिदीपिका और योगभाष्य आदि में एकैक गुणवाला मत नहीं प्राप्त होता है। इन सभी ने पूर्वोक्त मत को माना है। मार्कण्डेयपुराण में आकाशादि को क्रम से उत्पन्न एकैक गुणात्मक कहा गया है। लिंगपुराण,

---

1 सां० प्र० भा० 1/62

2 2/19 योगसूत्र व्यासभाष्य

3 1/2/37–43; विष्णुपुराण

4. 3/1 सां० प्र० भा०

5 सां० प्र० भा० – 1/62

भागवतपुराण और भविष्य पुराण में इन्हें 'एक, द्वि, त्रि, चतुः और पंचगुणात्मक कहा गया है। गौडपादभाष्य, जयमंगला और माठरवृत्ति में तन्मात्रों को एक-एक गुणवाला तथा उन्हीं से आकाशादि महाभूतों को साक्षात् उत्पन्न कहा गया है। आकाशादि पंचमहाभूतों का ही परिणाम यह समस्त स्थूलसृष्टि है।

सूक्ष्म शरीर :

सांख्यशास्त्र में सूक्ष्मशरीर कौ सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न अप्रतिहतगतिवाला स्थायी, महत्तत्त्व से लेकर सूक्ष्मतन्मात्रों से बना हुआ, भोगरहित, धर्माधर्म आदि भावों से युक्त एवं संसरण करने वाला बताया गया है –

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरूपभोगं भावैरधिवासितं लिंगम्।[1]

सूक्ष्मशरीर 'अष्टदशअवयवात्मक' कहा गया है जिसके अन्तर्गत महत्, अहंकार पंचज्ञानेन्द्रियां–चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक्, पंच कर्मेन्द्रियां–वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ, उभयेन्द्रिय – मन तथा पंचतन्मात्र–शब्दतन्मात्र स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र एवं गन्धतन्मात्र आदि अट्ठारह अवयव इस प्रकार से हैं। यह सूक्ष्मशरीर सृष्टि से लेकर महाप्रलय पर्यन्त रहता है। जब तक जीव को मुक्ति नहीं मिल जाती तब तक जीव का इस शरीर से सम्बन्ध बना रहता है।[2] जीव पुराने स्थूल शरीर को त्याग कर पुनः–पुनः नूतन शरीर को धारण करता है। यह सब सूक्ष्मशरीर के कारण ही संभव होता है क्योंकि संसरण जीव नहीं करता, संसरण सूक्ष्मशरीर ही करता है। सूक्ष्मशरीर से सम्बन्ध

---

1 सां० का० – 40

2. 'लिंगस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःख स्वभावेन', सां० का० 55

स्थापित करने के कारण जीव ही संसरणशील प्रतीत होता है। धर्माधर्मादि आठ भावों से बुद्धि युक्त होती है और बुद्धि से युक्त रहता है – सूक्ष्मशरीर। सूक्ष्मशरीर भी बुद्धि के धर्माधर्मादि भावों से उसी प्रकार युक्त होता है जैसे सुगन्धित चम्पकपुष्प के सम्पर्क के कारण वस्त्रादि जो उसके अति निकट (या चिपके) रहते हैं, तो सुवासित हो जाते है। धर्माधर्मादि अष्टभावों से युक्त होने के कारण सूक्ष्मशरीर संसरण करता है। सूक्ष्मशरीर महाप्रलय में प्रधान में ही लय को प्राप्त हो जाता है। इसलिए इसे लिंगशरीर भी कहते है। सांख्यकारिकाकार सूक्ष्मशरीर की आवश्यकता पर बल देते हुए कहते हैं जैसे – चित्र बिना आश्रय या भित्ति के नहीं बनाये जा सकते एवं छाया स्तम्भादि के बिना नहीं रह सकती उसी प्रकार सूक्ष्मशरीर के बिना बुद्धि आदि भी नहीं रह सकते –

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो बिनायथाच्छाया ।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रय लिंगम् ।[1]

भौतिक सर्ग

भौतिक सर्ग में त्रिविध[2] सृष्टि आती है – 1. देवसृष्टि आठ 2 तिर्यक् सृष्टि पांच तथा 3. मनुष्य सृष्टि एक प्रकार की होती है।

देव सृष्टि :

ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच यह आठ प्रकार की देवों की सृष्टि है।

---

1 सां0 का0 – 41

2 सां0 का0 – 53

तिर्यक् सृष्टि :

पशु, पक्षी, मृग, सर्पादि तथा तरू गुल्म आदि स्थावर रूप पांच प्रकार की तिर्यक् सृष्टि होती है।

मनुष्य सृष्टि :

एक प्रकार की होती है। यही संक्षेप में भौतिक सर्ग है। चैतन्य के आधिक्य और न्यूनत्व के कारण उर्ध्व, अधः और मध्यम लोकों में जन्म होने से भौतिक सृष्टि त्रिविध होती है – उर्ध्व लोक में सत्त्व–प्रधान, अधोलोक में तमः प्रधान तथा मध्य लोक में रजः प्रधान सृष्टि होती है। यही ब्रह्मा से लेकर तृणादि पर्यन्त सृष्टि है।

भुव लोक से लेकर सत्यलोक तक के भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् लोक सत्त्व प्रधान होते है। पशुओं से लेकर वृक्षादि स्थावर लोक तक की निम्न सृष्टि तमः प्रधान होती है। सात द्वीपों और समुद्रों वाला मध्य–स्थित यह भूलोक धर्म–अधर्म आदि कर्मों में तत्पर होने तथा दुःखमय होने से रजः प्रधान माना जाता है।[1]

शांकर अद्वैतमत में सृष्टि :

आचार्य शंकर के अनुसार प्रधान जगत् का कारण नहीं माना जा सकता है क्योकि जगत् के कारण में ईक्षणकर्तृत्व सुना जाता है 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत'[2] एवं 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमौल्लोकानसृजत'[3] इस प्रकार श्रुतिमें सृष्टि ईक्षणपूर्वक कही गई है। यह ईक्षण कर्तृत्व जड प्रधान

---

1. सां0 का0 54
2. छान्दोग्यो0 (6/2/1)
3. ऐत0 (1/1/1)

में सम्भव नहीं है। इसके साथ ही आचार्य यह भी मानते हे कि प्रकृति के बिना निर्गुण, निष्क्रिय एवं असंग ब्रह्म जगत्कर्त्ता नहीं सिद्ध हो सकता।[1] माया या प्रकृति रूप शक्ति के द्वारा ही ब्रह्म जगत् की रचना करता है। ब्रह्म के आश्रित रहकर यह जड माया शक्ति सचेष्ट होकर उसी की प्रेरणा से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति कर देती है। यह मायाशक्ति दो विशेषताओं से युक्त है – आवरण और विक्षेप। अपनी आवरण शक्ति के द्वारा वह ब्रह्म के स्वरूप को ढंक देती है और विक्षेप शक्ति के द्वारा ब्रह्मरूप अधिष्ठान पर नाना प्रपंच की उद्भावना कर देती है। आचार्य शंकर मायाशक्ति को ब्रह्म की उपाधि भी कहते हैं। माया की उपाधि से उपहित ब्रह्म जगत् का कर्त्ता बन जाता है। निर्विकार ब्रह्म जगत् का कर्त्ता या पालक क्यों एवं कैसे बन जाता है ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं यह सृष्टि ब्रह्म की लीलामात्र है।[2] इस सृष्टि के लिए उसे किंचित् भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता इस प्रकार मायाशक्ति से युक्त ब्रह्म से सर्वप्रथम व्यापक एवं क्रियारहित आकाश उत्पन्न होता है – आत्मनः आकाशः सम्भूतः[3] यह श्रुति भी इस विषय में प्रमाण हैं। व्यापक आकाश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पंचदशीकार इस प्रकार कहते हैं – माया या प्रकृति सांख्य की प्रकृति के सदृश ही त्रिगुणात्मिका है। तमोगुण की प्रधानता से युक्त और विक्षेपशक्ति सम्पन्न अज्ञान या माया की उपाधि से उपहित चैतन्य से आकाश उत्पन्न होता है।[4] आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। ये आकाशादि ही (स्मृतियों एवं पुराणों में) सूक्ष्मभूत तन्मात्र और अपंचीकृत कहे जाते हैं।

---

1 1/4/3 ब्र0 सू0 शां0 भा0

2. लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् 2/1/33 ब्र0 सू0 शां0 भा0

3. तैत्ति0 2/1

4 तमः प्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया ।
वियत्पवन तेजोम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे।
पंचदशी 1/18

यह तथ्य विचारणीय है कि छान्दोग्योपनिषद् में तेजपूर्वक सृष्टि–प्रक्रिया का वर्णन है जबकि तैत्तिरीय श्रुति में आकाशपूर्वक सृष्टि का क्रमिक वर्णन है शंकर दोनों श्रुति वाक्यों में सामंजस्य स्थापित करते हुए कहते है कि प्रत्येक उपनिषद् में क्रमादि के वैचित्र्य से भिन्न–भिन्न सृष्टि उपलब्ध होती है। कहीं पर आकाशपूर्वक[1]; कहीं पर तेजपूर्वक[2] और कहीं प्राण[3]—पूर्वक सृष्टि का वर्णन है। प्रत्येक उपनिषद् में सृज्यमान् आकाशादि के क्रम में विरोध होने पर भी स्रष्टा के विषय में कुछ भी विरोध नहीं है। एक उपनिषद् में जैसा सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वात्मा, अद्वितीय ब्रह्म कारण रूप में उपदिष्ट है वैसा ही अन्य उपनिषदों में भी व्यपदिष्ट है। वस्तुतः सृष्टि प्रतिपादन श्रुति का प्रयोजन नहीं है। श्रुतियों का अभिप्राय तो अध्यारोप एवं अपवाद द्वारा निष्प्रपंच ब्रह्म का ज्ञान कराना है। सृष्टि निरूपण ब्रह्मात्मैक्य अद्वितीय ब्रह्म के ज्ञान कराने का उपायमात्र है। वस्तुतः भिन्न–भिन्न सृष्टि का कथन करने वाले श्रुति वाक्यों में कुछ भी भेद नहीं है।[4] श्रुति वाक्य येनाश्रुतं श्रुतं भवति, आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्।[5] इस प्रकार प्रतिज्ञा करके कार्य–कारण में अभेद करने वाले मृतिका आदि दृष्टान्तों द्वारा समर्थन किया गया है। यदि आकाश को ब्रह्म का कार्य न माना जाए तो ब्रह्म के विज्ञात होने पर आकाश अज्ञात ही रहेगा और श्रुति प्रतिज्ञा की हानि होगी – यद्याकाशं न ब्रह्मकार्यं स्यान्न ब्रह्मणि विज्ञाते आकाशं विज्ञायेत, ततश्च प्रतिज्ञा हानि स्यात्।[6] प्रतिज्ञाहानि से वेद

---

1 2/1 तैतिरोपा0

2. 6/2/3 छान्दो0

3 प्रश्नोप0 6/4

4. 1/4/14, 1/4/16 ब्र. सू. शां. भाष्य
यद्यप्याकाशादिक्रमेणैव सृष्टिः तथा प्याकाशानलानिलादौ तत्र तत्र साक्षात् परमेश्वरस्य कर्तृत्वाच्छक्यं वक्तुं परमेश्वरादाकाशः संभूत इति। शक्यं च वक्तुं परमेश्वरादाकाशः संभूता इति। शक्यं च वक्तुं परमेश्वरादनलः संभूत इत्यादि। यदि त्वाकाशाद्वायुर्वायोस्तेज इत्युक्त्वा तेजसो वायुर्वायोराकाश इति ब्रूयाद् वेद्विरोधः। न चैतदस्ति। (भामती 1/1/14)।

5. 6/1/3 छा0 एवं बृ0 उ0 4/5/6

6 छान्दो0 2/3/6

का अप्रामाण्य कहना युक्त नहीं है क्योंकि सभी उपनिषद् वाक्य आत्मा को सर्वप्रथम एवं सबका कारण समान रूप से मानते हैं।[1] तेज का प्रथम श्रवण कराने वाली छान्दो0 श्रुति के अनुरोध से तैत्तिरीय श्रुति परित्याग करने योग्य नहीं है क्योंकि छान्दोग्य0 श्रुति में क्रम वाचक कोई शब्द नहीं है। अर्थात् क्रम अवगत होता है। 'वायोरग्निः' वायु से अग्नि, इस अन्य श्रुति से क्रम अवगत होता है। क्रम पूर्वक उत्पत्ति कही गई है इसलिए यह प्रबल श्रुति है।[2] आकाश का गुण है-शब्द, वायु का गुण है-संघात, दबाव, तेज का गुण है-प्रकाश, उष्णता, जल का गुण है-स्वाद अथवा रस और पृथिवी का गुण है-गन्ध। शब्दादि गुणों का तत्त्वों के साथ वही सम्बन्ध है जो बीज का पौधे के साथ है। प्रत्येक स्थूल पदार्थ में पाँचों सूक्ष्म तत्त्व पाए जाते हैं इनका अनुपात यद्यपि भिन्न है। यह सब अचेतन हैं और स्वयं अपना विकास नहीं कर सकते[3] ब्रह्म इन सबके अन्दर व्याप्त रहते हुए इनका नियन्त्रण करता है। यदि भिन्न-भिन्न तत्त्वों की क्रियाओं का कारण भिन्न-भिन्न देवता कहे गए हो, तो भी इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि देवता भी ईश्वर के व्यापारों के प्रतीक रूप हैं।

---

1. 'इदं सर्वं यदयमात्मा' बृहदा0 (2/4/6)
   'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' मुण्डको0 (2/1/11)

2 ब्र. सूत्र 2/3/5, 6, 7/पर शां. भा.

3. सत्त्वांशैः पंचभिस्तेषां क्रमादीन्द्रिय पंचकम् श्रोत्रत्वगक्षिरसन घ्राणाख्यमुपजायते।। पंचदशी 1/19

बुद्धि और मन

बाह्य विषयों को ग्रहण करने के कारण श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियां कहलाती हैं और आन्तरिक विचार की करणभूत इन्द्रिय को अन्तरिन्द्रिय या अन्तःकरण कहते हैं। वेदान्त में ये दो प्रकार की है – बुद्धि और मन। निश्चयात्मिका वृत्ति बुद्धि है और संशयात्मिका वृत्ति मन है। मन और बुद्धि आकाशादि सूक्ष्मभूतों में रहने वाले सत्त्वगुण के सम्मिलित (सामूहिक) अंश से उत्पन्न होते हैं। कहीं–कहीं अन्तःकरण के दो भेद माने जाते है – चित्त और अहंकार। अनुसन्धानात्मिका वृत्ति चित्त है और अभिमानात्मिका वृत्ति अहंकार है। इन दोनों का पृथक्–पृथक् निर्देश मिलने से यद्यपि अन्तःकरण चतुष्ट्य का निराकरण नहीं किया जाता तथापि इन दोनों का मन और बुद्धि में अर्न्तभाव मान लेने से सिद्धान्त की हानि नहीं होती। रामतीर्थ के अनुसार चित्त का बुद्धि में और अहंकार का मन में अन्तर्भाव होता है।[1]

पञ्च ज्ञानेन्द्रिय

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय है। प्रकाशात्मक और ज्ञानकारक होने से इनको सूक्ष्मभूतों के सत्त्विकांश का कार्य कहा जाता है। ज्ञानेन्द्रियां आकाशादि के सात्त्विकांश से पृथक्–पृथक् क्रमशः उत्पन्न होती हैं। यथा आकाश के सत्त्वांश से श्रोत्र, वायु के सत्त्वांश से त्वक्, तेज के सत्त्वांश से चक्षु, जल के सत्त्वांश से रसना और पृथिवी के सत्त्वांश से

---

1 वेदान्तसार की तत्त्वपारिजातव्याख्या
डा० सन्तनारायण श्रीवास्तव्यकृत, पृ० 102

घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं।[1] पंच ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार इस प्रकार हैं – "चक्षुश्च द्रष्टव्यं च, श्रोत्रं च श्रोतव्य च, घ्राणं च घ्रातव्यं च, रसश्च रसयितव्यं च, त्वक् च स्पर्शयितव्यं च, . . ।"[2]

कर्मेन्द्रिय

सांख्यमत में रजोगुण को सत्त्व एवं तमस् का सहायक स्वीकार किया गया है। रजोगूण सत्त्व एवं तमस् की सहायता करता है। वेदान्त में रजोगुण के चंचल स्वभाव को ज्यों का त्यों स्वीकार किया जाता है किन्तु इससे कर्मेन्द्रिय एवं प्राण की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है। कर्मेन्द्रिय आकाशादि सूक्ष्मभूतों के रजोगुणांश से क्रमशः अलग–अलग उत्पन्न होती है। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पंच कर्मेन्द्रिय हैं। आकाश के रजोगुणांश से वाक्, वायु के रजोगुणांश से पाणि, अग्नि के रजोगुणांश से पाद, जल के रजोगुणांश से पायु और पृथिवी के रजोगुणांश से उपस्थ। वागादि पंचकर्मेन्द्रियों के विषय क्रमशः इस प्रकार हैं – वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्द। प्रश्नोपनिषद् में समस्त इन्द्रियों की क्रियाओं का वर्णन किया गया है। कर्मेन्द्रियों के व्यापार इस प्रकार वर्णित हैं – वाक् च वक्तव्यं च, हस्तौ चादातव्यं, चौपस्थश्चानन्दायितव्यं च, पायुश्च विसर्जयितव्यं च, पादौ च गन्तव्यं च, . . ।[3]

---

1 सत्त्वांशैः पंचभिस्तेषां क्रमादीन्द्रियपंचक श्रोत्रत्वमक्षिरसन घ्राणख्यमुपजायते।। पंचदशी (1/19)

2 प्रश्नोपनिषद् – 4/8

3 (4/8)

पञ्चप्राण

आकाशादि सूक्ष्मभूतों के सम्मिलित रजोगुणांश से इन प्राणादि पंचवायु की उत्पत्ति होती है। ये पंचवायु है – प्राण, अपान, व्यान, उदान, और समान।[1]

प्राणवायु – नासिका के अग्र भाग में रहती है और आगे की ओर जाना इसका स्वभाव है।

अपानवायु – गुदा आदि स्थानों में रहती है। नाभि से नीचे जाना इसका स्वभाव है।

व्यान वायु – सारे शरीर में विद्यमान रहती है और सभी ओर गमन करना इसका स्वभाव है।[2]

व्यान – अथ यः प्राणापनयोः सन्धि स व्यानः[3] अर्थात् प्राण अपान की जो सन्धि विशेष है उनके बीच की जो वृत्ति विशेष है उसे व्यान कहते हैं।

उदान वायु – यह मृत्यु के समय शरीर से उत्क्रमण करती है। "चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो शरीरदेशेभ्यः"[4] अर्थात् उत्क्रमण वायु, ऑख, शिर या शरीर के किसी अन्य अवयव से भी निकल सकती है। अतः उसके उत्क्रमण द्वार के सम्बन्ध

---

1 'वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानः' पृ0 104, वेदान्तसारः, पीयूष प्रकाशन, इलाहाबाद ।

2 वेदान्तसार, पृ0 105, 3/10/8/5, तैतिरीय ब्रा0

3 1/3/3, 5 छान्दोग्योपनिषद्

4 बृहदारण्यकोपनिषद् (4/4/2)

में कोई नियम नहीं है फिर भी किसी द्वार से उत्क्रमण करते समय कण्ठ से होकर अवश्य गुजरती है, इसलिए उदान वायु का कण्ठ से सम्बन्ध निश्चित होने के कारण उसे कण्ठस्थानवर्ती कहा गया है।

समानवायु – उसे कहते है जो शरीर के भीतर पहुंचे हुए, खाए–पिए अन्न आदि का समीकरण करने वाली हो।[1] इन पंचवायुओं के अतिरिक्त कुछ विद्वान् नागादि पांच वायु और बताते हैं। ये नागादि इस प्रकार है[2] – नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। इसमें नागवायु उद्गिरण (डकार या वमन) लाने वाली होती है। कूर्मवायु उन्मीलन और निमीलन (आँखों का खोलना और बन्द करना) कराती है। कृकल वायु के कारण भूख लगती है। देवदत्त जमुहाई लाती है। धनञ्जय शरीर का पोषण करती है। कुछ वेदान्तमतानुयायी इन पांचों नागादि वायु का प्राणादि पंच वायु में अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं। सुरेश्वराचार्य ने मानसोल्लास में इन पंच वायुओं का वर्णन इस प्रकार से किया है –

नागो हिक्काकरः कूर्मो निमेषोन्मेषकारकः ।
क्षुतं करोति कृकलो देवदत्तो विजृम्भणम् ।।
स्थौल्यं धनञ्जयः कुर्यान्मृतं च न विमुञ्चति।[3]

सूक्ष्म शरीर

जीवात्माएं मोक्ष प्राप्ति तक अपने कर्मानुसार स्थूल शरीर धारण करती हैं। मृत्यु के पश्चात् स्थूल शरीर तो नष्ट हो जाता है किन्तु सूक्ष्म शरीर मोक्ष

---

1 समीकरण तु परिपाककरणं रस रुधिर शुक्रपुरीषादि करणम्, वेदान्तसार की तत्त्वपरिजात नामक हिन्दी व्याख्या से उद्धृत, पृ0 105

2 वेदान्तसार, पृ0 107

3 मानसोल्लास 9/14–15

प्राप्त होने तक जीवात्मा के संग लगा रहता है। सांख्य और शांकर अद्वैत दोनों ही सूक्ष्म शरीर की कल्पना को स्वीकर करते हैं। अन्तर बस इतना है कि सांख्यमत में सूक्ष्म शरीर 18 अवयवों वाला है वेदान्त में उसे सप्तदश अवयवात्मक स्वीकार किया गया है –

> बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपंचकर्मनसा धिया।
> शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिंगप्रोच्यते।[1]

वेदान्त में अहंकार का अन्तर्भाव मन के अन्तर्गत किया गया हैं और पंचतन्मात्र के स्थान पर पंचप्राण की कल्पना की गई है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि दोनों दर्शनों में सूक्ष्म शरीर को मानने का एक ही प्रयोजन है, वह है आत्मा का सूक्ष्म शरीर के द्वारा विभिन्न योनियों में संसरण। सूक्ष्म शरीर के द्वारा ही जीवों को सुख–दुःख आदि भोग का अनुभव होता है। पूर्व जन्म के कर्म अनुसार जीवों को भोग कराने के लिए भी इसकी कल्पना अनिवार्य है। पांचभौतिक स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह शरीर बना रहता है। सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत तीन कोश होते है – विज्ञानमयकोश, मनोमयकोश, और प्राणमय कोश। वस्तुतः चिदात्मा न कर्त्ता है न भोक्ता बल्कि नित्य आनन्द स्वरूप, अपरिच्छिन्न और निष्क्रिय है। इन कोशों से ढंका हुआ चैतन्यात्मा अपने को कर्त्ता, भोक्ता मानता है। बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों सहित विज्ञानमयकोश कहलाती है। यह विज्ञानमयकोशावच्छिन्न चिदात्मा ही व्यावहारिक जीव कहा जाता है। मन, ज्ञानेन्द्रियों के सहित मनोमय कहलाता है। पंचवायु, कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर प्राणमय कोश बनाती है। विज्ञानमयकोश चैतन्य के अत्यन्त निकट होने से

सूक्ष्म शरीर

1. 1/23 वेदान्त परिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार भी/सप्तदश अवयवात्मक है -

   पञ्चप्राणमनोबुद्धि दर्शेन्द्रियसमन्वितम् ।

   अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्मांगं भोगसाधनम् ।

ज्ञानशक्ति से युक्त होता है – "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरूषः।"[1] मनोमयकोश इच्छाशक्ति से युक्त होता है – 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येष पश्यति मनसा श्रृणोति' अर्थात् मन करण रूप है।[2] प्राणमयकोश क्रियाशक्ति से युक्त हैं और कार्य रूप है।[3] सूक्ष्मशरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ और प्राण कहा जाता है। श्रुतियों में भी इसके ब्रह्म हिरण्यगर्भ, प्राण के सूत्रात्मा आदि नाम खूब प्रसिद्ध है।[4] सूक्ष्म शरीर जागरणकाल की वासनाओं से उत्पन्न होता है, अतः वासनामय होने के कारण इसे स्वप्न भी कहते हैं। यह स्थूल सृष्टि का लय स्थान है। हिरण्यगर्भ के विषय में मनुस्मृति में लिखा है कि परमात्मा ने नानाविध प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से युक्त होकर अभिध्यानमात्र के द्वारा पहले जल की सृष्टि की और उसमें (शक्ति रूप) बीज डाल दिया। वह बीज परमेश्वर की इच्छा से सूर्य के समान प्रकाशवाला सोने का अण्डा बन गया। उस अण्डे से समस्त लोको के पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुए।[5] इस प्रकार हिरण्यगर्भ सृष्टि का आदि तत्त्व

---

1 बृहदारण्यक – 4/327

2. 1/5/3 बृहदारण्यक 1/5/3

3 वेदान्तसार, पृ0 108, पीयूष प्रकाशन, तृतीय संस्करण

4 'वायुर्वै गौतम, तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेण' बृहदा0 3/722, हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे (ऋकसंहिता, 10/121/1), हिरण्यगर्भ जनयामासपूर्वम् (श्वेता0 3/4), कतम् एको देव इति प्राण (बृहदा0 3/9/9), एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ प्राणश्चेत्युच्यते' वेदान्तसार (पृ0 110)।

5 सोऽभिध्यायशरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।।
तदण्डमभवर्द्धमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः। 1/8 – 9

है जिससे सम्पूर्ण सृष्टि का विकास होता है। वेदान्ती हिरण्यगर्भ का प्रयोग सूक्ष्म शरीरों की समष्टि से अवच्छिन्न चैतन्यात्मा के लिए भी करते है। महाभारत के शान्तिपर्व में कराल जनक और वसिष्ठ संवाद में हिरण्यगर्भ को ब्रह्मा कहा गया है। उसे अमूर्त परमेश्वर से उत्पन्न माना है। वह अणिमादि से युक्त, सर्वनियन्ता एवं लोक स्रष्टा है।[1] महाभारत में हिरण्यगर्भ, महान् विरंचि, बहुधानात्मक, विचित्र रूप, विश्वात्मा, एकाक्षर और विश्वरूप इत्यादि बुद्धि के पर्याय हैं।[2] भागवत् पुराण में प्रकृति से उत्पन्न महत्तत्त्व को हिरण्यमय कहा गया है।[3] समन्वयवादी दृष्टिकोण रखने वाले विज्ञानभिक्षु ने सांख्य और वेदान्त की विचारधाराओं में पौराणिक परम्परा का पुट देकर भव्य वैचारिक त्रिवेणी प्रवाहित की है। सांख्य सम्मत महत्तत्त्व को उन्होंने हिरण्यगर्भ के रूप में देखा –

महदाख्यः स्वयम्भूर्योजगदंकुर ईश्वरः।
सर्वात्मने नमस्तस्मै विष्णवे सर्वजिष्णवे।।[4]

सभी जीवों का लिंग शरीर पहले स्वयम्भुव का उपाधि भूत शरीर एक ही होता है – "इदं च लिंगशरीरमादौ स्वयम्भुव उपाधिभूता मेकमेव जायते।"[5] उस एक लिंग शरीर से नाना प्रकार के जीवों के अलग–अलग लिंग शरीर जो कि उसके अंश होते है विभक्त हो जाते है। ये प्रलय पर्यन्त बने रहते हैं। शांकर अद्वैत में सूक्ष्म शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य तेजोमय अन्तःकरण की उपाधि से विशिष्ट होने के कारण 'तैजस' कहलाता है। सूक्ष्म शरीरों की समष्टि और व्यष्टि

---

1 12/291/15, 18, 19, 20, 25

2 महाभारत 12/250/30, 302/18

3 3/26/19, 20 – 28

4 सांख्यसार – पृ0 1

5. सांख्यसार, पृ0 19

में तथा सूत्रात्मा और तैजस में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार वन और वन के वृक्षों में तथा वनावच्छिन्न आकाश और वृक्षावच्छिन्न आकाश में अभेद होता है।[1]

पञ्चीकरण

पञ्चीकरण का श्रुतियों में कहीं भी उल्लेख न मिलने से इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह होता है किन्तु वेदान्तसार के कर्त्ता सदानन्द योगीन्द्र के अनुसार पञ्चीकरण के अप्रमाणिक होने की आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि त्रिवृत् करण श्रुति (छान्दो० 6/3/2) पंचीकरण को भी उपलक्षित करती है[2] त्रिवृत्करण श्रुति – सेयं देवतैक्षत (छा० 6/3/2) तत्तेजोऽसृजत इत्यादि। तैतिरयो० में पांचभूतों का वर्णन है – एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निः।[3] दोनों श्रुतिवाक्यों में समन्वय स्थापित करते हुए शंकर कहते हैं क्योकि कि 'एकवाक्यत्वात्सर्वश्रुतीनाम्' अर्थात् श्रुति वाक्यों में एक हीतात्पर्य निहित है इसलिए विरोध नहीं हो सकता।[4] पंचीकरण प्रक्रिया इस प्रकार है – पंचीकरण में आकाशादि भूतों के दो समान भाग करके उन दस भागों में से जो प्रथम पांच भाग है उनमें प्रत्येक के 4 समान भाग करते हैं। उन चार भागों को अपने–अपने द्वितीय अविभाजित अर्द्ध भागों को छोड़कर अन्य भूतों के द्वितीय अर्द्ध भागों में

---

1. वेदान्तसार, पृ० 112
2. शांकरभाष्य छान्दोग्यो० 6/4/2 यथा तु त्रिवृत्कृते त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यं तथा पंचीकरणेऽपि समानो न्यायः।
3. 2/1
4. ब्रह्मसूत्र शां. भा. 2/3/6
   यद्यपि त्रिवृत् करण प्राचीन है तथापि जड महाभूतों की संख्या तीन के बदले पांच मानी जाने लगी, तब त्रिवृत्करण के उदाहरण से ही पंचीकरण की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ और त्रिवृत्करण पीछे रह गया। गीता रहस्य – पृ० 187, पूना, द्वितीय संस्करण, 1976।

जोड़ देते है। यही पंचीकरण है –

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः
स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात् पंच पंच ते।[1]

पंचीकरण में प्रत्येक भूत में अपना आधा भाग शेष चारों भूतों का 1/8 भाग रहता है इस प्रकार प्रत्येक भूत पंचात्मक हो जाता है। इस प्रक्रिया के द्वारा स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्मावस्था में अपंचीकृत भूत अपने विशुद्ध रूप में होते हैं। जब आकाश से वायु उत्पन्न हुआ तो आकाश वायु का कारण हुआ। अतः आकाश का गुण (शब्द) वायु में (सूक्ष्मभूत वायु में) अनुवर्तित होगा। इसी प्रकार वायु के गुण का अनुवर्तन अग्नि में और जल में अग्नि का गुण एवं पृथिवी में जल का गुण अनुवर्तित होगा क्योंकि कारण के गुण की कार्य में अभिव्यक्ति देखी जाती है। उक्त नियम को यदि दृष्टि में रखा जाए तो प्रश्न यह उठता है कि जब सूक्ष्मभूत अपने विशुद्ध रूप में होते हैं और उनमें अन्य भूतों का मिश्रण नहीं होता तो यह मानना अनुचित है कि कारण के गुण का अनुवर्तन कार्य में होता है। आकाश तन्मात्र, वायु तन्मात्र का कारण है तो आकाश में शब्द के साथ–साथ स्पर्श गुण भी होना चाहिए।

इसका उत्तर यह है कि विशुद्ध का तात्पर्य है पंचीकरण न होना। आकाशादि में पूर्व–पूर्व, उत्तर–उत्तर का कारण कहा गया है लेकिन यह जरूरी नहीं है कि कार्य में जो गुण हों वे कारण में भी हों। कारण-कार्य में अभेद होने पर भी दोनों में इतना भेद अवश्य है कि कार्य कारणात्मक होता है लेकिन कारण कार्यात्मक नहीं हो सकता।[2] घट मृतिका रूप है लेकिन मिट्टी घटात्मक नहीं है। अतः कारण में अपने–अपने कार्यो के गुण अभिव्यक्त नहीं होते। आकाश

---

1 1/27 पंचदशी

2.ब्र. सू पर शा. भा. 2/1/9

का गुण शब्द है वायु में शोष, स्पर्श, गति, वेग यह चार धर्म होते हैं इसके अतिरिक्त अपने कारण के विशिष्ट गुण की विद्यमानता भी वायु में होती है।[1] अग्नि का गुण है उष्णता और प्रकाश। अग्नि में अपने कारण वायु के शब्द और स्पर्श गुण भी होते है।[2] इसी प्रकार जल के गुण हैं – रस, शब्द, स्पर्श एवं रूप। पृथिवी में गन्ध, शब्द, स्पर्श, रूप, रस ये चार गुण आकाशादि के होते हैं।[3] पंचीकृत स्थूलभूतों से विभिन्न लोकों और 4 प्रकार के शरीरों की उत्पत्ति होती है।[4] इन पंचीकृत भूतों से क्रमशः ऊपर–ऊपर विद्यमान भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः और सत्यम् इन नामों वाले (ऊपर के) लोक तथा क्रमशः नीचे–नीचे विद्यमान ऊतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल इन नामों वाले (नीचे के) लोक समस्त ब्रह्माण्ड उसके भीतर रहने वाले चतुर्विध स्थूल शरीर और उसके (निर्वाह के) योग्य भोजन–पान उत्पन्न होते हैं। चार प्रकार के शरीर जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज इत्यादि है। गर्भाशय से उत्पन्न होने वाले मनुष्य व पशु के शरीर जरायुज हैं, अण्डज पक्षियों के शरीर, सर्प, मुर्गा आदि के शरीर अण्डज है। तृण और वृक्षादि उद्भिज्ज है।

---

1. शोषस्पर्शौ गतिर्वेगो वायुधर्मा इमेमताः ।
   त्रयः स्वभावाः सन्मायाव्योम्नां ये तेऽपि वायुगाः।। (पंचदशी 2/29)
2. वह्निरूषणः प्रकाशात्मा पूर्वानुगतिरत्र च।
   अस्ति वह्निः सनिस्तत्वः शब्दवान् स्पर्शवानपि।।
   (वही 2/89)
3. सन्त्यापोऽमः शून्यतत्त्वाः सशब्दस्पर्शसयुताः।
   रूपवत्योऽन्यधर्मानुवृत्यो स्वीयो रसो गुणः ।। (2/92)
4. तैतिरीयोप0 में पंचभूतों की सृष्टि कहकर फिर 'पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।' पृथिवी से वनस्पति, वनस्पति से अन्न और अन्न से पुरूष उत्पन्न होता है। (2/1), यह सृष्टि पंचभूतों के मिश्रण से निर्मित है इसलिए सृष्टि का करण पंचीकृत स्थूलभूत कहे जाते है।

पसीने से उत्पन्न जुएँ, मच्छर आदि स्वेदज है।[1] इन 4 प्रकार के स्वीकृत शरीरों में सांख्य दो प्रकार के शरीर और जोड़ देता है – सांसिद्धिक अर्थात् स्वभाविक जैसे सृष्टि के आदि में विद्वान् महामुनि पूज्य, 'कपिल' धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए थे।[2] जो धर्मादि पूर्व-जन्म के कर्मों के फलस्वरूप सहज अर्थात् जन्म के साथ ही उत्पन्न होते हैं, वे स्वभावसिद्ध होने से प्राकृतिक हैं और जो वर्तमान जीवन में पुरूष के प्रयत्न[3] से प्राप्त होते हैं, वे वैकृतिक है।[4] ये दोनों ही प्रकार के धर्मादि भाव अगले संसरण के हेतु बनने के कारण निमित्त कहलाते है। इन धर्म -अधर्म आदि निमित्तों से कलल बुद्बुद् ,मॉसपिण्ड, अंग आदि अवस्थाओं से होता हुआ जो शरीर बनता है वह इनका नैमित्तिक (या कार्य) है। समस्त स्थूल शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य वैश्वानर कहलाता है। नाना रूपों देव, मनुष्य, पशु, गिरि नदी और समुद्रादि के रूप में विराजमान होने के कारण विराट् कहा जाता है। अन्न का विकार होने से और कोश के समान आत्मा का अच्छादक होने के कारण इसे अन्नमयकोश कहा जाता है। सम्पूर्ण स्थूल भोगो का आधार होने से इसे जाग्रत कहा जाता है।[5] एक स्थूल शरीर से उपहित चैतन्य विश्व कहा जाता है। वैश्वानर और विश्व में कोई अन्तर नहीं है। जैसे जलाशय और जल बिन्दु में अभेद है वैसे ही दोनों शरीरों में अभेद है।

---

1. वेदान्तसारः, पृ0 119
2. प्राकृतिकाः स्वभाविकाभावः सांसिद्धिकाः। तथा हि सर्गादावादि विद्वान् अत्रभवान् कपिलो महामुनि धर्मज्ञान वैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्रादुर्बभूवेतिस्मरन्ति। सांख्यकारिका – 43 तत्त्वकौ0
3. देवाराधना आदि से प्राप्त।
4. जैसे – वाल्मीकि आदि महर्षियों के धर्म, ज्ञानादि वर्तमान जीवन में प्रयत्न से प्राप्त हुए थे।
5. अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते। वेदान्तसारः पृ0 120

सांख्य और शांकर अद्वैत दोनों ही मत में बुद्धि, अहंकार, मन, एकादशेन्द्रिय, पंचतन्मात्र, पंचमहाभूत, सूक्ष्मशरीर एवं स्थूलशरीर का वर्णन है। सांख्यमत में सर्वप्रथम महत् या बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है और उससे अहंकार। अहंकार के सात्त्विकांश से एकादशेन्द्रिय–मन, पंचज्ञानेन्द्रिय एवं पंचकर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है और तामस् अहंकार से पंचतन्मात्र शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र एवं गन्धतन्मात्र की उत्पत्ति होती है। इन पंचतन्मात्रों को सूक्ष्म एवं अविशेष कहा गया है क्योंकि इनमें शान्त, घोर और मूढ अवस्था अभिव्यक्त नहीं रहती। पंचतन्मात्रों से स्थूलमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। ये पंचमहाभूत ही समस्त सृष्टि देव, मनुष्य, तिर्यक् एवं गुल्म आदि के उपादानकारण बनते हैं। शांकर अद्वैत मत में सृष्टि–क्रम सांख्य से भिन्न है। इनके मत में सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति होती है आकाश से वायु, वायु से अनल, अनल से जल एवं जल से पृथ्वी तनमात्र की उत्पत्ति होती है। ये आकाशादि सूक्ष्म एवं तन्मात्र कहे जाते हैं। ये स्थूलभूतों के कारण होते है। इनके गुण क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध हैं। कारण के गुण चूंकि कार्य में अनुवर्तित होते हैं इसलिए आकाश का शब्द गुण वायु में, वायु का शब्द एवं स्पर्श गुण अनल में अनुवर्तित होता है। इसी प्रकार जल में शब्द, स्पर्श, रूप व रस एवं पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध का अनुवर्तन होता है। सांख्य में अहंकार इन्द्रियों एवं तन्मात्रों का कारण होता है जबकि शांकर वेदान्त में बुद्धि, मनादि का कारण पंचतन्मात्र है। आकाशादि सूक्ष्मभूतों के सम्मिलित सात्त्विकांश से बुद्धि एवं मन की उत्पत्ति होती है। शांकरमत में कुछ लोग मन और बुद्धि के अतिरिक्त अन्तःकरण के दो भेद और मानते हैं–चित्त और अहंकार किन्तु इन दोनों का मन और बुद्धि में अन्तर्भाव मान लेने से सिद्धान्त की हानि नहीं होती । ज्ञानेन्द्रियां आकाशादि सूक्ष्मभूतों के सात्त्विकांश से क्रमशः उत्पन्न होती है जबकि कर्मेन्द्रियां आकाशादि सूक्ष्मभूतों के रजोगुणांश से क्रमशः उत्पन्न होती है। आकाशादि सूक्ष्मभूतों के सम्मिलित रजोगुणांश से

पंचप्राणों की उत्पत्ति होती है। सांख्यमत में पंचप्राणों को शांकरमत के सदृश स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया है। प्राणों को इन्द्रियों का एक परिवर्तित रूप कहा गया है।[1] विज्ञानभिक्षु के मत में प्राण अन्तःकरण की एक वृत्ति विशेष है अर्थात् अन्तःकरणत्रय का साधारण व्यापार है।[2] सांख्यकारिका में भी इसी आशय को व्यक्त किया गया है –

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषां भवत्यसामान्या ।
सामान्य करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पंच।।[3]

अर्थात् अन्तःकरणत्रय के अपने–अपने व्यापार विशेष असाधारण है। प्राणादिपंच को अन्तःकरणत्रय का साधारण व्यापार कहते हैं क्योंकि जीवनादि के द्वारा ये पंचवायु सभी करणों के व्यापारों में बीज हैं। सांख्य में लिंग शरीर के मध्य प्राणों की गणना न रहने पर भी न्यूनता नहीं मानी जाती क्योंकि क्रियाशक्ति के कारण सूत्रात्मा, प्राणादि नाम बुद्धि के ही कहे गए हैं। एकादशेन्द्रियां, बुद्धि और अहंकार इन तेरहों को करण कहते है। इन तेरहों का अस्तित्व प्राणों का प्रयोजक है इसलिए यह वायु 13 करणों का ही साधारण व्यापार कहा जाता है।[4] आचार्य माठर, गौडपाद, जयमंगलाकार एवं वाचस्पति मिश्र आदि सांख्यकारिका के टीकाकार और सांख्यसूत्र के वृत्तिकार अनिरूद्ध 'प्राणाद्याः वायवः पंच'[5] इत्यादि से प्राणादि को मुख्यरूप से वायु ही मानते है। विभिन्न स्थानों में रहने एवं विभिन्न रूपों का होने के कारण ही वायु प्राण इत्यादि सार्थक नाम धारण करता है।

---

1. सांख्यसूत्र 2/31
2. 2/4/13, विज्ञानामृतभाष्य
3. सां0 का0 – 29
4. 2/31 सांख्यसूत्र प्रवचनभाष्य पर डा0 गजानन शास्त्री मुंसलगांवकर की हिन्दी व्याख्या ।
5. सां0 का0 29 तथा सांख्यसूत्र 3/31

आचार्य शंकर सांख्यदर्शन के उक्तमत का खण्डन करते हैं उनके अनुसार प्राण का वायु एवं इन्द्रियों के व्यापार से पृथक् उपदेश किया गया है – एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुः।[1] सांख्यदर्शन एवं शांकर अद्वैत दोनों में ही सूक्ष्मशरीर की कल्पना की गई है किन्तु दोनों में कुछ भिन्नताएं भी है। सांख्यदर्शन में सूक्ष्मशरीर अट्ठारह तत्त्वों से निर्मित माना जाता है। जबकि शांकरमत में यह सत्रह अवयवों वाला है। शांकरमत में अहंकार की गणना नहीं की गई है क्योंकि अहंकार को मन के अन्तर्गत मान लिया गया है। इसके अतिरिक्त एक भेद और है पंचतन्माओं के स्थान पर शांकरमत में पंचप्राणों की कल्पना की गई है। जैसा कि वेदान्तपरिभाषाकार कहते है –

पंचप्राणमनोबुद्धि दशेन्द्रियसमन्वितम्।
अपंचीकृतभूनोत्थं सूक्ष्मांगं भोगसाधनम्।।

सांख्यसूत्रप्रवचन भाष्य (3/9) में विज्ञानभिक्षु भी सूक्ष्मशरीर को सप्तदश अवयवात्मक मानते हैं। वे बुद्धि, एकादशेन्द्रिय और पंचतन्मात्र का समावेश सूक्ष्मशरीर के सप्तदश अवयवों में करते हैं। अहंकार का अन्तर्भाव बुद्धि में कर देते हैं। भावगणेश भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हैं। इस विषय में सांख्यकारिका–22 में महत् से सूक्ष्मतन्मात्र तक अट्ठारह तत्त्व गिनाए गए है। चालीसवीं कारिका में इन्हीं अट्ठारह तत्त्वों का ग्रहण किया गया है। अतः सूक्ष्मशरीर को अट्ठारह तत्त्वों से निर्मित कहना उचित है। दोनों ही दर्शनों में सूक्ष्मशरीर का प्रयोजन है पुरूष का संसरण। इसी सूक्ष्मशरीर के द्वारा पुरूष या जीव जगत में विभिन्न योनियों के द्वारा संसरण करता है। दोनों दर्शनों में स्थूलभूतों की उत्पत्ति–क्रम को भिन्न–भिन्न ढंग से निरूपित किया गया है। सांख्यदर्शन में पंचमहाभूतों की उत्पत्ति इस प्रकार कही गई है – शब्दतन्मात्र से शब्दगुण वाला आकाश

---

1. 2/1/3 मुण्डको0

उत्पन्न होता है। इसी प्रकार शब्द तन्मात्र से सहित स्पर्शतन्मात्र से शब्द और स्पर्श गुणों वाला वायु तत्त्व आविर्भूत होता है। इसी प्रकार पूर्व–पूर्व कारण एवं उनके गुणों का अनुवर्तन परवर्ती कार्यो में होता है। अतः रूपतन्मात्र से शब्द, स्पर्श और रूप गुण वाला अनल, रसतन्मात्र से शब्द स्पर्श रूप और रस गुण युक्त जल उत्पन्न होता है और शब्दादि सहकृत गन्धतन्मात्र से पृथ्वी उत्पन्न होती है। शांकरमत में सूक्ष्मभूत पंचीकृत होकर स्थूल जगत की सृष्टि करते है। पंचीकरण में प्रत्येक भूत में अपना आधा भाग शेष चारों भूतों का 1/8 भाग रहता है। इस प्रकार प्रत्येक भूत पंचात्मक हो जाता है। इस प्रक्रिया के द्वारा स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है ।

*****

पंचम अध्याय

बन्ध और मोक्ष में प्रकृति की भूमिका

पुरूषार्थ चतुष्ट्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में मोक्ष परमपुरूषार्थ है – 'इह खलु धर्मार्थ काम मोक्षख्येषु चतुर्विध पुरूषार्थेषु मोक्ष एव परमपुरूषार्थः।'[1] मोक्ष एक ऐसी सत्ता का साक्षात्कार है, जो अनन्तकाल से विद्यमान है, यद्यपि वह हमारे दृष्टि के क्षेत्र से परे है। यह वह शान्ति है, जो संसार दे नहीं सकता और प्राप्त होने पर हर नहीं सकता। यह श्रेष्ठ अद्वितीय स्वर्गीय सुख है, जो परम अर्थों में यथार्थ निर्विकार, नित्य आकाश के समान सब प्रकार के परिवर्तनों से मुक्त, सर्वसंतोषप्रद, अविभक्त, स्वयं प्रकाश पाप–पुण्य, धर्म–अधर्म से अप्रभावित और कालत्रय से परे है। यह अलौकिक अवस्था ही मोक्ष है।[2] मोक्ष परमनिःश्रेयस् है। महाभारत में इसे 'अदुःखमसुखं' कहा गया है। सुखादि प्रकृति के कार्य हैं। मोक्षावस्था पुरूष या आत्मतत्त्व की सर्वबन्धन रहित स्वभाविक स्थिति है। इस अवस्था में पुरूष गुणत्रय के सम्पर्क से रहित स्वरूप में स्थित रहता है। मुक्ति की अवस्था का यह स्वरूप सांख्य और अद्वैतमत दोनों में ही मान्य है। शांकर अद्वैत के अनुसार मोक्ष की दशा में आत्मतत्त्व जड नहीं हो जाता बल्कि वह आनन्दानुभूति में सराबोर रहता है क्योंकि आत्मा का स्वरूप सत्–चित्-आनन्दमय स्वीकार किया गया है। शांकर अद्वैत का यह मत सांख्य से विशिष्ट है। मोक्षावस्था में आनन्द की अनुभूति लौकिक विषयों से मिलने वाले सुख से भिन्न है। इस विषय पर इसी अध्याय में मोक्ष के स्वरूप पर विचार करते समय विस्तार से चर्चा की जाएगी। सम्प्रति सांख्य एवं शांकरअद्वैत के अनुसार बन्ध–मोक्ष के स्वरूप, जीवन्मुक्ति एवं विदेह–मुक्ति तथा मोक्ष के साधन पर विचार किया जा रहा है।

---

1. वेदान्तपरिभाषा, पृ0 2
2. भारतीय दर्शन – 2; डा0 राधाकृष्णन

<u>**सांख्यमत में बन्धन का स्वरूप**</u> :

मोक्ष या मुक्ति का तात्पर्य है – 'छुटकारा'। नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त आत्मा का जड प्रकृति के साथ जो अवस्तविक (झूठा) तादात्म्य स्थापित हो जाता है, वही पुरूष का बन्धन है। सत्यता का भान होने पर पुरूष स्वरूप में स्थित हो जाता है और प्रकृति को अपना स्वरूप समझने की भूल नहीं करता। वस्तुतः पुरूष न कर्त्ता है, न भोक्ता किन्तु अनादि अविद्यावश प्रकृति कृत कार्यों को स्वकृत समझता रहता है[1], यथा – शुक, गुण अर्थात् रस्सी के योग से बन्धन को प्राप्त होता है तथैव पुरूष भी गुण अर्थात् प्राकृतिक गुणों के योग से बन्धन को प्राप्त होता है –

> 'न पुरूषः कर्त्ता, न भोक्ता किन्तु महत्तत्त्व प्रतिबिम्बत्वात् कर्तृत्वाभिमानः यथा शुकः पक्षीयोगाद् बन्धमाप्नोति ।

पुरूष के स्वरूप के विषय में सांख्यकारिकाकार कहते हैं – कैवल्यंमाध्यस्थंदृष्टृत्वमकर्तृभावश्च[2] अर्थात् पुरूष चेतन, अविषय, साक्षी, अपरिणामी एवं अकर्त्ता है। सांख्यसूत्रकार कहते हैं – 'अहंकारः कर्त्ता न पुरूषः'[3] एवं 'निःसंगेऽप्युपरागोऽविवेकात्'[4] इत्यादि से वे पुरूष का अकर्तृत्व सिद्ध करते हैं। श्रुति एवं पुराणों में भी पुरूष का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व अवास्तविक कहा गया है।[5] प्रकृति को ही प्रसवधर्मी एवं विकारी स्वीकार किया गया है – प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।[6] प्रकृतिः

---

1. अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्, 1/105 सां0 सू0
   अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः ।। 1/106।।
2. सां0 का0 – 19 का उत्तरार्द्ध
3. सां0 सू0 6/54
4. सां0 सू0 6/27
5. असंगो हि अयं पुरूषः
6. गीता-13/26 – पूर्वार्द्ध

कुरूते कर्म शुभाशुभफलात्मकं[1] और पयोमृदादिवत्तत्र प्रकृतिः परिणामिनी।[2] अतः प्रकृति को सर्वत्र क्रियाशीला एवं परिणामी माना गया है इसलिए कहीं-कहीं यह कहा गया है कि बन्ध और मोक्ष पुरूष में नहीं होता। पुरूष निर्विकार, असंग एवं कूटस्थ है। वह न बंधता है, न मुक्त होता है और न ही संसरण करता है –

'तस्मान्न बध्यते मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ।।[3]

अर्थात् बन्ध-मोक्ष वस्तुतः प्रकृति का ही होता है अनेक रूपों देव, मनुष्य और तिर्यक् योनि का आश्रय लेकर बुद्धि, अहंकार और इंद्रियादि रूप से प्रकृति अपने को बांधती है, मुक्त होती है और संसरण करती है। सांख्यकारिकाकार कहते है कि प्रकृति अपने को सातरूपों – अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य आदि से बांधती है और अपने को एक रूप अर्थात् ज्ञान से मुक्त करती है –

रूपैः सप्तभिरेवं बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरूषस्यार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ।।[4]

अज्ञानादि बुद्धि के अष्टभाव या धर्मो का विवेचन इस प्रकार से है – अज्ञान यह प्रकृति का प्रथम विकार बुद्धि के अष्ट धर्मो में परिगणित है। प्रायः सभी दार्शनिकों ने इसे बन्धन का कारण माना है। यह बुद्धि का

---

1. महाभारत – 12/292/40
2. अहिर्बुध्न्य संहिता – 7/5
3. सां0 का0 – 62
4. सां0 का0 – 63

   देवमानुषतिर्यग्योन्याश्रया बुद्धयाहंकारतन्मात्रेन्द्रियभूतस्वरूपेण बध्यते, मुच्यते, संसरति चेति। मुक्त एव स्वभावात् स सर्वगतश्च कथं संसरति । (सां0 का0 – 63 पर गौडपादभाष्य)

तामसिक रूप है – अविद्या च मिथ्याज्ञानरूपा बुद्धि धर्मा इति योगसूत्रिता[1] योगसूत्रकार अज्ञान की व्याख्या इस प्रकार से करते है – 'अनित्याऽशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या।'[2] यह अज्ञान या अविद्या ही अविद्यादि पंचक्लेशों को उत्पन्न करने वाली है।[3] अज्ञान का विस्तृत विवेचन 'तृतीय अध्याय' में किया गया है। प्रसंगतः यहां पर संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है। योगसूत्र में अविद्यादि को पंचपर्वा कहा गया है। अविद्या के पंचभेद इस प्रकार से हैं – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश। अज्ञान या अविवेक के कारण पुरूष, प्रकृति से आत्मभेद नहीं कर पाता और प्रकृति के साथ इस प्रकार का संसर्ग या तादात्म्यभाव स्थापित कर लेता है कि प्रकृति को वह अपना ही स्वरूप समझने लगता है। अज्ञानवश ही जीवात्मा पाप पुण्यादि कर्मों में लिप्त रहता है। पाप–पुण्यादि कर्म को करने से उस कर्म के संस्कार बनते हैं। तत्पश्चात विपाकानुभूति और फिर उसके संस्कार वासनारूप से बुद्धि में अवस्थित रहते हैं। कर्म एवं संस्कारों का अनवरत चक्र चलता रहता है, जब तक कि उसके कारणभूत अज्ञान का नाश न हो जाए। विज्ञानभिक्षु अज्ञान को प्रकृति-पुरूष संयोग का मुख्य हेतु कहते हैं – तथाऽविवेक एव पुरूषेण साक्षाच्छेत्तुं शक्यते।[4] अविवेक या अज्ञान वस्तुतः पुरूष का धर्म नहीं है किन्तु यह बुद्धि के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसके धर्म का अपने ऊपर आरोपण करता है। पुरूष का बुद्धि के साथ संयोग या सम्बन्ध अनादि है किन्तु अनन्त नहीं, क्योकि अविवेक का नाश हो जाने पर कर्मादि संस्कार भी क्षीण हो जाते है जिस प्रकार जले हुए बीज अंकुरोत्पादन में असमर्थ हो जाते हैं उसी प्रकार विवेकज्ञान की अग्नि में समस्त कर्म एवं उनके संस्कार पुनः–पुनः जन्मायु आदि फल

---

1. सांख्य प्र० भा० (1/69)
2. योगसूत्र (2/5)
3. 2/4 योगसूत्र एवं इस पर व्यासभाष्य
4. 1/55 सां० प्र० भा०

देने में असमर्थ हो जाते हैं।[1] न्यायसूत्रकार ने ठीक ही कहा है – 'दुःख–जन्म–प्रवृत्ति–दोष, मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरायादपवर्गः' अर्थात् मिथ्याज्ञान ही समस्त कष्टों एवं दुःखों का मूल है। अज्ञान के कारण होने वाला बन्धन तीन प्रकार का कहा गया है – 'विपर्ययात्' अतत्त्वज्ञानात् इष्यते बन्धः'। स च त्रिविधः। प्राकृतिको, वैकृतिको, दाक्षिणकश्चेति।[2]

प्राकृतिक बन्धः

प्राकृतिक बन्ध उनका होता है जो प्रकृति को ही आत्मा समझते हैं। उसे ही सर्वस्व मानकर उपासना करते हैं। विवेकज्ञान से रहित होने के कारण ऐसे योगी शरीरपात के अनन्तर अव्यक्त में लीन हो जाते हैं तथा शतसहस्र मन्वन्तर पर्यन्त प्रकृति–लीन नामक देवताओं की स्थिति में रहते हैं – पूर्णं शतसहस्रं हि तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।[3]

वैकृतिक बन्धन :

यह बन्ध उन्हें प्राप्त होता है जो भूतों (पृथ्वी आदि), इन्द्रियों, अहंकार और बुद्धि इत्यादि प्रकृति की विकृतियों की ही पुरूषभाव से उपासना करते हैं। उन्हीं के विषय में कहा गया है "दश मन्वन्तरणीह तिष्ठन्तीन्द्रिय–चिन्तकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः।[4] अर्थात् इंद्रियों के उपासक स्थूल शरीर का पात होने पर दस सहस्र मन्वन्तरों तक दुःखत्रय

---

1. योगसूत्र 2/12, 2/13
2. तत्त्वकौमु0 का0 – 44 एवं भावागणेश कृत सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्, पृ0 52
3. उद्धृत, तत्त्वकौमुदी – 44 वीं कारिका ।
4. सांख्यतत्त्वकौमुदी – 44वीं सां0 का0

से रहित होकर उन–उन तत्त्वों में लीन होकर स्थित रहते हैं जिनको वैकृतिक बन्धन प्राप्त होता है वे विदेह कहलाते हैं। विदेहों का ऐश्वर्य प्रकृतिलीनों की अपेक्षा स्थान, काल और भोग की दृष्टि से बहुत कम होता है।[1]

दक्षिणाबन्ध :

इष्टापूर्तादि[2] कर्म करने वाले, पुरूष ज्ञान से रहित और कामनाओं से परिपूर्ण मनवाले साधारणजनों को दक्षिणाबन्ध होता है। इस प्रकार अज्ञान बन्धनकारक है – विपर्ययादिष्यते बन्धः।

धर्म – अधर्म :

बुद्धि के चारसात्त्विक रूप है – धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य एवं बुद्धि के चार तामसिक रूप है – अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य। इस प्रकार 'धर्म' बुद्धि का सात्त्विकरूप है और 'अधर्म' तामसिक। तत्त्वकौमुदीकार के मत में धर्म वह है जो लौकिक सुख और पारलौकिक कल्याण (निःश्रेयस्) का कारण है। आचार्य गौडपाद दया, दान, यम और नियमादि को धर्म

---

1. पातञ्जलयोगदर्शन पर योगसिद्धि नामक व्याख्या, पृ0 70
2. 1. एकाग्नि कर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते। अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते ।
   2. वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च अन्नप्रदानमारामः पूर्तमध्या प्रचक्षते ।
   3. दाक्षिणकः – 'यज्ञादौ बहुविधगोसुवर्णादि दक्षिणादानेन लभ्यः। तत्पुण्यभोगार्थम् प्रसह्यापि स्वर्गीयशरीरादौ अवस्थानात्मकं बन्धनं इति' उद्धृत, सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा, फुटनोट, पृ0 287

मानते है।[1] जयमंगलाकार का मत इस प्रकार है – तत्र योऽयमनिर्विषयमनुष्ठा–नात्मकोऽध्यवसायः स धर्मः।[2] युक्तिदीपिकाकार का मत जयमंगलाकार की भाँति ही है। यज्ञदानादि के सम्पादन से उत्पन्न धर्म लौकिक सुख का कारण बनता है और अष्टांगयोग के साधन से उत्पन्न धर्म निःश्रेयस् अर्थात् कैवल्य का कारण होता है – तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजनितो धर्मोऽभ्युदयहेतुः, अष्टांगयोगानु–ष्ठानजनितश्च निःश्रेयस् हेतुः।[3] आचार्य माठर 'धर्म' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करके 'धर्म' को इस प्रकार परिभाषित करते हैं –

> धारणार्थो धृञित्येष धातु शब्दैः प्रकीर्तितः ।
> दुर्गतिप्रपतत्प्राणिधारणाद् धर्म उच्यते ।।[4]

आचार्य माठर पंच नियम एवं पंच यम को भी धर्म कहते है। धर्म से उर्ध्वलोकों की प्राप्ति होती है तथा अधर्म से अधोलोक सुतलादि में गति प्राप्त होती है।[5] कर्मोपार्जित कोई भी फल नित्य नहीं है। कर्म से प्राप्त स्वर्गरूप फल शाश्वत नहीं है क्योंकि वह अशुद्धि, क्षय एवं न्यूनाधिक दोष से युक्त है। गीता में कहा गया है – क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। मोक्ष क्षयातिशय से रहित एवं नित्य अवस्था है मोक्ष प्राप्ति हेतु मन को निष्काम होना आवश्यक है। यज्ञादि अनुष्ठान में किसी न किसी प्रकार की कामना निहित होती है इसीलिए धर्म, पुण्य के लिए होते हुए भी जीव को बांधता है। नरकादि अनिष्ट के साधनभूत कर्म, निषिद्ध कर्म है और शास्त्रनिषिद्ध कर्म, अधर्म की श्रेणी में आते है।[6] पाप–पुण्य दोनों ही प्रकार के कर्मो के कर्माशय

---

1 23वीं सां० का०

2 23वीं सा० का०

3. तत्त्वकौमुदी – 23वीं कारिका

4. माठरवृत्ति – 23वीं का०

5. तत्त्वकौ० – 23वीं का०

6 धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण, सां०का० 44 का पूर्वार्द्ध

बनते है ये कर्म संस्कार वे बीज हैं जो जीव को कर्मजाल के चक्र में बांधते है।[1]

ऐश्वर्य–अनैश्वर्य :

ऐश्वर्य भी बुद्धि का सात्त्विक धर्म है। ऐश्वर्य के स्वरूप के विषय में सांख्यकारिका के सभी टीकाकरों का मतैक्य है। सुवर्णसप्ततिकार ने अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, ईशित्व, प्राकाम्य, वशित्व और यथाकामावसायित्व के भेद से अष्टविध ऐश्वर्य स्वीकार किया है। माठरवृत्तिकार तथा युक्तिदीपिकाकार ने अष्टविध ऐश्वर्य के अतिरिक्त गरिमा का भी उल्लेख किया है। डा0 रामशंकर भट्टाचार्य का मत है कि गरिमा का कहीं–कहीं अधिक पाठ मिलता है, यह अपपाठ है।[3] इन अष्टविध ऐश्वर्यों का वर्णन इस प्रकार से है – **अणिमा** वह है जिसमें योगी अणु रूप हो जाता है। **लघिमा** वह है जिसमें योगी अत्यन्त लघु या हल्का हो जाता है। **महिमा** वह है जिसमें योगी महान् हो जाता है। **प्राप्ति** वह है जिसमें योगी अंगुली के अग्रभाग से ही चन्द्रमा को छू लेता है। **प्राकाम्य** है इच्छा की निर्बाध पूर्ति, जिसमें योगी भूमि के अन्दर वैसे ही तैरता है और डूबता है जैसे साधारण व्यक्ति जल में। **वशित्व** वह है जिसमें योगी का भूतों और भौतिक पदार्थों के ऊपर अधिकार हो जाता है। वह स्वयं किसी के आधीन नहीं रहता। **ईशित्व** वह ऐश्वर्य है जिसमें योगी उन भूत तथा भौतिक पदार्थो के उत्पादन विनाश एवं स्थापना के विषय में समर्थ होता है।

---

1. 2/13 योगसूत्र पर व्यासभाष्य
2. सां0 का0 – 23
3. माठरवृत्ति – ईश्वरभावेनेत्यष्टविधम्। अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्र कामावसायित्वमिति। (सां0 का0 – 23)

यत्रकामावसायित्व अर्थात् सत्य संकल्प का होना, जिससे योगी का जैसा संकल्प होता है वैसी ही भूतों की प्रकृतियों की व्यवस्था होती है । समर्थ होने पर भी योगी पदार्थों को उल्टा नहीं करता।

अनैश्वय :

ऐश्वर्य के विपरीत अनैश्वर्य होता है और यह बुद्धि का तामस् रूप है। अष्टविध ऐश्वर्य की प्राप्ति कर लेने पर भी योगी यदि प्रकृति-पुरूष विवेकज्ञान से रहित है, तो उसका ज्ञान सम्पूर्ण नहीं होता। ये सब प्रकृति के ही कार्य हैं इसलिए इनके प्रति वैराग्य होना आवश्यक है। चूंकि ये ऐश्वर्य मोक्षदायक नहीं हैं इसलिए ये भी पुरूष को बांधते है। ऐश्वर्य प्राप्त कर लेने वाला योगी पुनः जन्म लेता है, क्योकि बन्धन का कारण अविवेक नष्ट नहीं होता।

वैराग्य – अवैराग्य :

वैराग्य ऐहिक और पारलौकिक विषयों के प्रति होने वाली उदासीनता है – 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यं'[1] अर्थात् स्त्री, अन्न, पान और प्रभुता इन ऐहिक विषयों के प्रति निःस्पृह होना तथा स्वर्ग, वैदेह्य और प्रकृतिलयत्व लाभ रूपी पारलौकिक विषयों के प्रति उदासीनता रखना अपर वैराग्य है। विवेक ख्याति के अनन्तर पुरूष दर्शन के अभ्यास से तृप्त चिन्त वाला होकर साधक चित्त की सात्त्विक वृत्ति के प्रति भी विरक्त हो जाता है, इसी को परवैराग्य कहते हैं। इस प्रकार परवैराग्य विवेकज्ञान के प्रति होने वाली उदासीनता है क्योंकि यह प्रकृति के सत्त्वगुण का कार्य है। यह ज्ञान का चरमोत्कर्ष है – 'तत्परं पुरूषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम।'[2]

---

1 योगसूत्र 1/15

2. 1/16 योगसूत्र

सुवर्णसप्ततिकार वैराग्य को बाह्य और आभ्यन्तर भेद से द्विविध मानते हैं। धन के अर्जन, रक्षण एवं क्षय के प्रति उपेक्षाभाव रखना बाह्य वैराग्य है। आभ्यन्तर वैराग्य पुरूष तथा प्रकृति के भेदज्ञान से उत्पन्न वैराग्य है।[1] माठरवृत्ति तथा गौडपादभाष्य में वैराग्य का यही स्वरूप स्वीकार किया गया है। युक्तिदीपिका एवं तत्त्वकौमुदी में राग अर्थात् आसक्ति के अभाव को वैराग्य कहा गया है। इसकी यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार चार संज्ञाएं मानी गई है। इंद्रियों की प्रवृत्ति को रोकने के लिए रागादि कषायों के परिपाक (शमन) के लिए किए गए प्रयत्न यतमान संज्ञक वैराग्य है। कषायों के शमन के लिए प्रयत्न करने पर कुछ कषाय शान्त हो जाते हैं और कुछ रह जाते हे। उनके शमन के लिए किए गए अनुष्ठान व्यतिरेक संज्ञक वैराग्य है। सभी इंद्रियों के विषयों के प्रति निवृत्त हो जाने पर भी विषय–तृष्णा के रूप में अवशिष्ट मलों को मन में ही रखना एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य है। भोजन, पान आदि लौकिक और स्वर्गीय वेदोक्त विषयों के उपस्थित होने पर भी उत्सुकता न होना अर्थात् उनके प्रति उपेक्षा बुद्धि का होना वशीकार संज्ञक वैराग्य है।

अवैराग्य

वैराग्य का अभाव राग अर्थात् आसक्ति है जब वैराग्य जीव के बन्धन का हेतु है, तो अवैराग्य निश्चित ही जीव के लिए बन्धन कारक है। जब तक विवेकख्याति एवं उनसे मिलने वाली सिद्धियों के प्रति वैराग्य नहीं होता तब तक जीव को मुक्ति नहीं मिल पाती। अतः तब तक प्रकृति, पुरूष को बांधे रखती है। इसलिए वैराग्य को भी बन्धनकारक कहा गया है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि परवैराग्य मोक्षदायक है क्योंकि इस वैराग्य को प्राप्त करके योगी के समस्तक्लेश नष्ट हो जाते

---

1 23वीं सां0 का0

2 सां0 का0 – 23

हैं और वह संसारचक्र के आवागमन से मुक्त हो जाता है। परवैराग्य के होने पर कैवल्य भी निश्चित रूप से प्राप्त होता है। योगसूत्र (1/16) के भाष्य में व्यास जी इस प्रकार से कहते है – यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते – प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतत्वाः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्ट पर्वा भवसंक्रमः, यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते, मृत्वा च जायत इति। ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यं। एतस्यैव हि नान्तरीयं कैवल्यमिति।[1]

ज्ञान :

सांख्यमत में त्रिगुणात्मक प्रकृति तथा पुरूष के विवेक या भेद का साक्षात्कार ही ज्ञान है – गुणपुरूषान्यताख्यातिर्ज्ञानम्। 'ज्ञान' बुद्धि का ही परिणाम विशेष है। बुद्धि स्वयं प्रकृति का कार्य हैं। इसलिए कहा गया है पुरूष का कैवल्य प्रकृति के बिना सम्पादित नहीं हो सकता। बुद्धि के अष्टभावों में 'ज्ञान' पुरूष को मोक्ष या कैवल्य प्रदान करने वाला है। ज्ञान बुद्धि निष्ठ है या कैवल्य प्रदान करने वाला है।

पुरूष अपने और प्रकृति में भेदज्ञान प्राप्त करके प्रकृति से अपना तादात्म्य स्थापित नहीं करता बल्कि वह स्वरूप में स्थित हो जाता है। ज्ञान चूंकि बुद्धि का कार्य हैं इसलिए पुरूष इसके प्रति भी विरक्त हो जाता है। ऐसे पुरूष के लिए प्रकृति पुनः अपने कार्यों को नहीं प्रकट करती। भोग और मोक्ष दोनों के ही सम्पन्न हो जाने पर उस पुरूष के प्रति किस कारण से प्रकृति अपने परिणाम को उत्पन्न करे। अतः प्रकृति व्यापार शून्य हो जाती है और पुरूष प्रकृति के प्रति उदासीन हो जाता है –

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य।।[2]

---

1 तत्त्वकौमुदी – 23

2. सां0 का0 – 66

सांख्यकारिका एवं सांख्यसूत्र में क्रियाशीला एवं परिणामिनी प्रकृति का इस प्रकार वर्णन किया गया है जिससे प्रकृति ही पुरूष के बन्ध–मोक्ष का सम्पादन करने वाली प्रतीत होती है – 'पुरूषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः'[1] तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।।[2] सांख्यसूत्रकार भी इस मत से सहमत हैं – 'प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुंकुमवहनवत्'।[3] प्रकृति या प्रधान की प्रवृत्ति का प्रयोजन है, पुरूष का भोग एवं मोक्ष – स्वार्थो हि प्रधानस्य कृत भोगापवर्गात् पुरूषादात्मविमोक्षणमिति।[4] महाभारत में कहा गया है – प्रकृतिः कुरूते कर्मशुभाशुभ फलात्मकं। प्रकृतिश्च तदश्नाति त्रिपुलोकेषु कामगा।।[5] क्या उक्त उद्धरणों के आधार पर केवल जड प्रकृति को पुरूष के बन्ध–मोक्ष का कारण कहा जा सकता है? जड प्रकृति एकाकी न तो किसी कार्य के लिए प्रवृत्त हो सकती है और न ही कोई परिणाम उत्पन्न कर सकती है। वस्तुतः चेतन के प्रतिबिम्ब से चेतनवती सी हुई प्रकृति परिणाम उत्पन्न करने में समर्थ हो सकती है। अविवेक या अज्ञान तो प्रकृति का कार्य है। यह पुरूष के बन्धन का कारण किस प्रकार हो सकता है? 'विवेक या ज्ञान' यह भी जड बुद्धि का धर्म है यह पुरूष के लिए मोक्षदायक किस प्रकार हो जाता है? पुरूष तो असंग, निष्क्रिय, कूटस्थ एवं निर्विकार है, वह भोक्ता किस प्रकार बन जाता है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर यह है कि यद्यपि प्रकृति–पुरूष दोनों ही भिन्न–भिन्न तत्त्व हैं किन्तु दोनों का संयोग या सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है।

---

1. सां० का० – 59
2. सां० का० – 62
3. 3/58
4. 3/58, सां० प्र० भा०
5. 12/292/40

इस संयोग के परिणामस्वरूप पुरूष, प्रकृति के साथ इस प्रकार एकात्म्यभाव स्थापित कर लेता है कि वह प्रकृति को अपना स्वरूप समझने लगता है। इस स्थिति का पंचशिखाचार्य ने अपने सूत्र द्वारा इस प्रकार वर्णन किया है 'एकमेवदर्शनं, ख्यातिरेवदर्शनं' इति।[1] पुरूष द्वारा अपने सत्–चित् स्वरूप को भूलकर, सुख–दुःख मोहात्मक प्रकृति के स्वरूप को अपना समझकर सुखी–दुःखी होना ही उसका बन्धन है। पुरूष–प्रकृति का सम्वन्ध वास्तविक नहीं होता क्योंकि दोनों भिन्न–भिन्न तत्त्व हैं। दोनों तत्त्वों के संयोग के विषय में तृतीय अध्याय के अन्तर्गत चर्चा की जा चुकी है किन्तु पुरूष का बन्ध–मोक्ष सुस्पष्ट करने के लिए प्रतिबिम्बवाद का संक्षिप्त वर्णन यहां पर पुनः किया जा रहा है। निर्विकार पुरूष का प्रतिबिम्ब सन्निहित बुद्धि तत्त्व में पड़ता है, जिससे वह चेतनवती सी हो जाती है, जिस प्रकार चुम्बक की सन्निधि से लौहतत्त्व सचेष्ट हो जाता है इसी प्रकार पुरूष सी चेतन हुई प्रकृति अज्ञानी पुरूषों के लिए बुद्धि आदि विकारों को उत्पन्न करती है। निर्विकार पुरूष का भोग एवं मोक्ष बुद्धि द्वारा सम्पादित होता है। सर्वप्रथम बाह्य इंद्रियों का विषयों से सन्निकर्ष होता है। वे अपना समस्तज्ञान बुद्धि को सौंपती है बुद्धि विषयाकाराकारित होकर पदार्थ ज्ञान से युक्त होती है। बुद्धि में पड़ा हुआ जो पुरूष प्रतिबिम्ब है वही उस बुद्धिनिष्ट ज्ञान का बोद्धा एवं द्रष्टा बनता है। भोग सुख–दुःख का अनुभव है। पुरूष जब बुद्धिनिष्ठज्ञान को अपनाता है अर्थात् अपना समझता है तभी सुखी या दुःखी होता है यही पुरूष का बन्धन है। त्रिविध दुःख से त्रस्त होकर मोक्ष की आकांक्षा करता है। शास्त्रविहित मार्ग का अनुसरण करके अपने चित्त को शुद्ध करता है तदनन्तर कठिन अभ्यास एवं प्रयत्न के द्वारा अपने और प्रकृति के भेद को जानकर प्रकृति से अपने को पृथक् कर स्वरूप में स्थित हो जाता है। यह विवेकज्ञान भी बुद्धि में ही सम्पन्न

---

1 1/7 योगसूत्र, व्यासभाष्य में उद्धृत ।

होता है। इस प्रकार बुद्धि द्वारा ही पुरूष का भोग एवं मोक्ष सम्पादित होता है –

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरूषस्य साधयति बुद्धिः।[1]
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरूषान्तरं सूक्ष्मम् ।।

विज्ञानभिक्षु पुरूष के प्रतिबिम्ब के विषय में कुछ भिन्न विचार प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार पुरूष का अनुमान 'भोक्तृभावात्' के आधार पर किया जाता है अतः भोग को वे पुरूषनिष्ठ स्वीकार करते है, चाहे यह बुद्धि द्वारा ही सम्पादित होता हो। इनके अनुसार बुद्धि में सन्निहित पुरूष का प्रतिबिम्ब पड़ता है जिससे बुद्धि पुरूषवत् चेतन हो जाती है। बुद्धि में पड़ा हुआ पुरूष प्रतिबिम्ब उस ज्ञान को ग्रहण नहीं करता बल्कि समीपस्थ पुरूष तत्त्व में इस बुद्धिनिष्ठ ज्ञान का भी प्रतिबिम्ब पड़ता है। तब पुरूष उस ज्ञान का बोद्धा एवं अभिमन्ता बनता है। प्रतिबिम्बवाद के द्वारा निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती है – भोग एवं अपवर्ग पुरूष में आरोपित होते हैं। उसका भोक्तृत्व पारमार्थिक नहीं है। पुरूष अज्ञान या अविवेक के कारण ही प्रकृति कृत कार्यो का अभिमान करता है। वस्तुतः न वह कर्त्ता है, न भोक्ता। निष्क्रिय एवं कूटस्थ आत्मतत्त्व में किसी प्रकार का कुछ न जुड़ सकता है न घट सकता है। भोग का अर्थ है अभ्यवहरण अर्थात् आत्मसात्करण। भोग की गति बुद्धि के माध्यम से चेतन तक है। बुद्धिवृत्ति को उस भोग का लाभ नहीं मिलता क्योंकि वह जड है।[2] अपरिणामी पुरूष द्वारा विषयभोम का प्रतिबिम्बदानमात्र अर्थात् प्रतिबिम्ब का ग्रहणकर लेना मात्र ही भोग है – सुखादि प्रतिबिम्बात्मा भोगोऽप्यस्य न वस्तुतः।[3]

---

1 सां0 का0 – 37

2 चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् । (6/55) सां0 सू0

3. सांख्यसार – 2/1/2

सांख्यदर्शन में मोक्ष का स्वरूप

मोक्ष या मुक्ति पुरूष की स्वाभाविक एवं नित्य अवस्था है। मोक्ष शाश्वत एकरस रागद्वेषादि सभी लौकिक भावों से परे त्रिविध दु:खों (आध्यात्मिक आधिभौतिक एवं आधिदैविक) से शून्य अवस्था हे – 'त्रिविधदु खा त्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरूषार्थ:।'[1] मोक्ष में पुरूष को किसी स्थान विशेष में गमन नहीं करना होता है। देवयान या पितृयान मार्ग से ब्रह्मलोक या स्वर्गलोक की प्राप्ति करना मो क्ष नहीं है । कारण यह कि आत्मा निष्क्रिय है उसमें किसी भी प्रकार की गति संभव नहीं है – 'न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य'।[2] मोक्ष की अवस्था में आत्म का उच्छेद नहीं हो जाता – 'न सर्वोच्छितिरपुरूषा–र्थत्वादिदोषात'[3] मोक्षपुरूषार्थ है, यदि मोक्ष में आत्म–नाश होता हो तो कोई भी मोक्ष के लिए प्रवृत्त नहीं होता। आत्मा सत् चित् स्वरूप है। आत्मा की सत्ता नित्य है। आत्म स्वरूप की प्राप्ति मोक्ष है इसलिए मोक्ष शून्यता की स्थिति नहीं है जैसा कि नास्तिको द्वारा प्रतिपादित है।[4] प्रकृष्ट धन, प्रकृष्ट स्त्री आदि का स्वामित्व प्राप्त कर लेना भी मोक्ष नहीं है क्योंकि ये सब विनाशी है मोक्ष नित्य एवं अविनाशी अवस्था है।[5] सांख्यसूत्रकार कहते हैं जीवरूप अंश का परमात्मारूपी अंशी में लय हो जाना भी मोक्ष नहीं है।[6] वैष्णवों ने मुक्ति की दशा में आत्म रूपी अंश का परमात्मा रूप अंशी में विलय को मोक्ष कहा है। यह सांख्यमत में युक्त नहीं है क्योंकि संयोग सदा वियोगान्त ही होता है[7] अर्थात् आत्मा का पुन: अपने अंशी से अलगाव

---

1 सांख्यसूत्र 1/1

2 5/76, सां0 सू0

3 सां0 सू0 5/78

4 सां0 सू0 5/79

5 सां0 सू0 5/80

6. न भागियोग भागस्य, सां0 सूत्र – 5/81, वैष्णवों का यह मत है।

7 संयोगा हि वियोगान्ता इत्युक्तहेतो ईश्वरानभ्युपगमाच्च, 5/81 सां0प्र0भा0

हो सकता है। निरवयव आत्मतत्त्व में अंश–अंशी भाव नहीं माना जा सकता है। सावयव तत्त्व कभी भी नित्य नहीं हो सकता । अवयवों के नाश एवं उत्पत्ति की प्रक्रिया जगत् के पदार्थों में देखी जा सकती है। आत्मा में न कोई नया तत्त्व जुड़ सकता है, न उससे कोई तत्त्व अलग हो सकता है क्योंकि वह पूर्ण है, निरवयव निर्विकार एवं कूटस्थ है। आत्मा व्यापक है उसका सभी से सम्बन्ध सदा, सर्वदा ही बना रहता है। यदि परमात्मा को स्वीकार भी कर लें, तो भी विभु आत्मतत्त्व का परमात्मा से सदेव ही सम्बन्ध बना रहता है। परमात्मा निरवयव ही होगा और उस निरवयव परमात्मा में अंश–अंशी भाग नहीं माना जा सकता सांख्य पुरुष बहुत्व को मानता है –

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरूषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।।[1]

'पुरूष बहुत्वं व्यवस्थात:'[2] श्रुति प्रतिपादित बन्ध–मोक्ष की व्यवस्था देखकर पुरूष का अनेकत्व सिद्ध होता है। सांख्यशास्त्र में जिस पुरूष की अविद्या का नाश होता है उसी पुरूष को मोक्ष प्राप्त होता है, अन्य पुरूष बद्ध ही रहते हैं यदि पुरूष एक ही होता तो एक पुरूष को तत्त्वज्ञान हो जाने पर सभी पुरूषों को तत्त्वज्ञान हो जाता। सांख्य का यह विशिष्ट मत वेदान्त से भिन्न है। मुक्ति दशा में आत्म तत्त्व का अस्तित्व बना रहता है उसका किसी भी अन्य तत्त्व में लय नहीं होता। योग द्वारा अनेक सिद्धियों की प्राप्ति करके योगी महान् कार्यो को करने में समर्थ हो जाता है, किन्तु इन सिद्धियों एवं विभूतियों की प्राप्ति मोक्ष नहीं है। इनकी प्रयत्न द्वारा प्राप्ति होती है अत: उनका नाश या उच्छेद निश्चित है। ये निरन्तर नहीं बने रहते –

---

1 सां0 का0 – 18

2 5/45 सां0 सूत्र

नाणिमादियोगोऽप्यवश्यं भावित्वात् तदुच्छित्तेरितरयोगवत्'[1]

सांख्यमत में मोक्ष का स्वरूप इस प्रकार है – पुरुषार्थ से रहित बुद्धि आदि का प्रविलय अपने मूल कारण अव्यक्त प्रधान में हो जाता है। उस पुरूष का बुद्धि आदि गुणों से सम्बन्ध नहीं रह जाता। भविष्य में पुनः सम्बन्ध की संभावना की भी निवृत्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में पुरूष अपने चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। पुरूष को होने वाला भोग एवं मोक्ष प्रकृति द्वारा ही सम्पादित होता है किन्तु यही सन्निहित पुरुष में उपचरित किया जाता है। वस्तुतः 'कैवल्य' पुरूष सन्निहित गुणों का ही होता है। कैवल्य शब्द का अर्थ है केवलता, अकेलापन या प्रवृत्ति के साथ पुरूष का अलगाव होना। कैवल्य का विचार दो दृष्टियों से किया जा सकता है – पुरूषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति'[2] कैवल्य का यह स्वरूप महर्षि पतंजलि द्वारा योगसूत्र में कैवल्यपाद के अन्तर्गत प्रतिपादित है। **गुणों की दृष्टि से मोक्ष या कैवल्य** – 'पुरूषार्थ शून्याना गुणानां प्रतिप्रसवः' उक्त सूत्र की पूर्वार्द्ध पंक्ति में गुणों की दृष्टि से कैवल्य का विवेचन किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि पुरूष के भोग एवं मोक्ष रूप प्रयोजन को पूर्ण करके सत्त्वादित्रय उस पुरूष के प्रति समाप्ताधिकार वाले हो जाते हैं। ऐसे पुरूष के प्रति बुद्धि आदि कार्य की पुन उत्पत्ति नहीं होती। जिस प्रयोजन को लेकर प्रवृत्ति हुई थी वह पूर्ण हो जाने पर प्रकृति की प्रवृत्ति का कोई अर्थ नहीं जाता जिससे वह व्यापारशून्य हो जाती है।[3] ऐसे योगी प्रारब्धकर्मवश शरीर धारण किए रहते हैं। स्थूलशरीर का पात होने पर ऐसे योगी के बुद्धि आदि का लय अव्यक्त प्रधान में हो जाता

---

1 सां0 सू0 5/82

2 4/34

3 ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितं इति। योगसूत्र 1/50 पर व्यासभाष्य।

है। यही गुणों की दृष्टि से कैवल्य है। गुणों का बन्धन और मोक्ष निम्नलिखित कारिका द्वारा कहा गया है – तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।।[1] विवेकज्ञान हो जाने पर प्रकृति, पुरूष के समक्ष एक लज्जालु स्त्री के भाँति पुनः उपस्थित नहीं होती – प्रकृतेः सुकुमारतरं न किचिंदस्तीति मे मतिर्भवति या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरूषस्य"[2] अथवा जैसे नर्तकी रंगस्थ दर्शकों के समक्ष नृत्य के लिए एक बार उपस्थित होने के बाद पुनः नृत्य नहीं करती उसी प्रकार प्रकृति, पुरूष के समक्ष अपने को प्रकट कर देने के बाद फिर उसके विषय में प्रवृत्त नहीं होती – रंगस्य दर्शयित्वानिवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्। पुरूषस्य तथात्मनं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः।।[3] प्रकृति गुणवती एवं उपकारिणी है। उसकी प्रवृत्ति अपने लिए नहीं होती बल्कि पुरूष के लिए होती है।[4] तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेने पर प्रकृति उस पुरूष के प्रति निवृत्त हो जाती है। इन सभी कारिकाओं द्वारा यही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि बन्धन या मोक्ष प्रकृति का होता है। प्रकृति विवेकख्यातिपर्यन्त ही शब्दादि भोग क्यों उत्पन्न करती है? इसका उत्तर यह है कि भोग तो अविवेक के कारण होता है, उसके अभाव में नहीं। जैसे बीज के अभाव में उसका कार्य अंकुर नहीं होता – करोतु नाम पौनःपुन्येन शब्दाद्युपभोगं प्रकृतिर्यथा विवेकख्यातिर्न कृता, कृत विवेकख्यातिस्तु शब्दाद्युपभोगं न जनयति।[5] **पुरूष की दृष्टि से कैवल्य** – तत्त्वज्ञान के अनन्तर अवसिताधिकार वाले चित्त का अपने कारण भूत अव्यक्त या प्रकृति

---

1 सां० का० – 62

2 सां० का० – 61
'दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधुवत्' सां० सू० (3/70)

3 सां० का० – 59, सां० सू० 3/69

4. सां० का० – 60

5 तत्त्वकौ० सां० कारिका – 66

में लय हो जाने पर, निर्गुण पुरूष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं'।[1] यह पुरूष का बुद्धि से अलगाव है या गुणों के साथ पुरूष के संयोग का अभाव है। पुरूष की दृष्टि से कैवल्य की व्याख्या सांख्यकारिकाकार इस प्रकार से करते हैं 'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।।[2] अर्थात् तत्त्वज्ञान के अभ्यास से पुरूष कर्तृत्व भोक्तृत्वादि के अभिमान से मुक्त हो जाता है। उसे यह विवेक हो जाता है कि सुखादि मेरे नहीं है। मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वरूप हूँ। सुख–दुःखादि तो प्रकृति के धर्म हैं। इस प्रकार एक बार विवेकज्ञान हो जाने पर पुरूष धर्म–अधर्मादि बुद्धि के सप्त रूपों से फिर मोहित नहीं होता। वह एक प्रेक्षक की भांति तटस्थभाव से जगत् को देखता है – 'प्रकृतिं पश्यति पुरूषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः।[3] निष्क्रिय एवं स्वच्छ का अभिप्राय है – राजस् और तामस् वृत्तियों से मलिन हुई बुद्धि के सम्पर्क से रहित होना क्योंकि सात्त्विक बुद्धि से थोड़ा–थोड़ा सम्पर्क तो उस अवस्था में भी बना रहता है, अन्यथा इस रूप में प्रकृति का दर्शन ही असंभव हो जाएगा।[4] योगसूत्र के कैवल्यपाद में (सूत्र 4/34 की उत्तरार्द्ध पंक्तियों में)[5] पुरूष की दृष्टि से कैवल्य का वर्णन इस प्रकार से किया गया है – कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति अर्थात् पुरूष की दृष्टि से कैवल्य का अभिप्राय है – पुरूष का स्वरूप में सदैव प्रतिष्ठित रहना। बुद्धिसत्त्व से सम्बन्ध होने की भविष्य में संभावना भी न रह जाना पुरूष का सदा एकाकी केवल निरूपाधि रूप से रहना ही पुरूष का कैवल्य है –

---

1. योगसूत्र – 1/3
2. सां0 का0 – 64
3. सां0 का0 – 65
4. तत्त्वकौमुदी, वही
5. 'गुणों की दृष्टि से कैवल्य के अन्तर्गत' पूरे सूत्र का उद्धरण दिया गया है।

स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात्पुरूषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्या।[1] जैसे स्फटिकमणि का उपरंजक जपाकुसुम को हटा लिया जाता है तो स्फटिक अपने वास्तविक रूप में प्रतिष्ठित दिखायी पड़ने लगता है। जपाकुसुम की समीपता से उसमें कोई विकार नहीं आने पाता। वैसे ही प्रकृति की समीपता से पुरूष विकृत नहीं होता। प्रकृति से सम्पर्क हट जाने पर उसमें कोई नए गुण या विकार नहीं उत्पन्न होते हैं बल्कि उसमें उपचरित होने वाली उपाधि हट जाती है।

वस्तुतः दो प्रकार का प्रतीत होने वाला कैवल्य एक ही होता है। इसका विचार दो दृष्टियों से किया गया है। सूक्ष्मतः विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रकृति का पुरूष द्वारा स्व से अभिन्न रूप में दर्शन दो नहीं, अपितु एक ही घटना है, जिसके प्रकृति और पुरूष दो पहलू हैं।[2] सांख्यवादियों का कहना है प्रवृत्ति और निवृत्ति तो प्रधान के स्वभाव ही हैं। प्रवृत्ति या निवृत्ति उचित कारण के प्राप्त होने पर ही हुआ करती हैं अर्थात् अविवेक होने पर प्रधान की प्रवृत्ति पुरूष के लिए होती है। प्रकृति के दोषों का ज्ञान हो जाने पर पुरूष तटस्थ हो जाता है, तब प्रधान के बुद्धि आदि कार्यों का कोई प्रयोजन उस पुरूष के प्रति नहीं रहता अतः वह निवृत्त हो जाती है। इस दृष्टि से बँधना या मुक्त होना प्रकृति का ही प्रतीत होता है। आत्मा मुक्त हो गया इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति को उसके लिए अब कोई कार्य नहीं करना है। पुरूष तो मुक्ति के पूर्व जैसा निर्विकार एवं मुक्त था वैसा मोक्ष के पश्चात् भी रहता है। उसमें उपचरित होने वाले सभी भोगों की निवृत्ति हो जाती है। मोक्ष तीन प्रकार का कहा गया है – आदौतु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्। कृच्छ्रक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणं।[3]

---

1 योगसूत्र 4/34 पर व्यासभाष्य

2 सां0 द0 की ऐति0 पर0,पृ0 230

3 सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्, पृ0 52

ये तीनों गौणमोक्ष हैं। मुख्य मोक्ष है – त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होना 'आत्यन्तिकत्रिविधदुःखनिवृत्तिरेव मुख्यो मोक्षः'[1]। अर्थात् विवेकज्ञान हो जाने पर प्रकृति, पुरूष के प्रति कृतार्थ हो जाती है। ऐसा पुरूष स्थूल शरीर का पात होने पर 'ऐकान्तिक' अर्थात् अवश्यम्भावि और आत्यन्तिक अर्थात् अविनाशी मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।[2]

शांकर अद्वैतमत में बन्धन का स्वरूप

आचार्यशंकर के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। इनके मत में परमार्थतः न बन्धन है, न मोक्ष है, न जीव है और न जगत्। ऐसी स्थिति में किसका बन्धन होता है? जब द्वैत सत्य नहीं है तो एकाकी ब्रह्म का किससे बन्धन होता है? जीव जगतादि की प्रतीति क्यों होती है? जीव के बन्धन एवं मोक्ष का क्या अभिप्राय है? आचार्यशंकर के अनुसार इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर या भेद नहीं है। जीव ब्रह्मस्वरूप ही है। जीव ब्रह्म का भेद उपाधिनिमत्तक है, उपाधियां अविद्या या मिथ्याज्ञाननिमित्तक हैं। जीव अनादि अविद्या के कारण शरीरादि से तादात्म्यभाव स्थापित करके द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता आदि रूप में अवभासित होता है। जैसे स्वच्छ स्फटिक रक्त पीतादि वस्तुओं की उपाधि द्वारा रक्त, पीतादि वर्ण का प्रतीत होने लगता है वैसे ही निर्मल, निष्क्रिय, निर्विकार और असंग पुरूष भी देहेन्द्रियादि उपाधियों से उपाहित होने के कारण अपने विशुद्ध चैतन्य स्वरूप में नहीं उपलब्ध होता। जैसा कि आचार्यशंकर ने अनेकशः यही कहा है – उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम्।[3]

---

1. सांख्यतत्त्वयथार्थ्यदीपनं, पृ0 52
2. प्राप्ते शरीर भेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
   ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति । सां0 का0 68
3. 2/3/48 ब्र. सू. शां. भा.

जैसे सूर्य एक है किन्तु नदी, तडागादि भिन्न-भिन्न स्थानों में पड़ने वाले उसके प्रतिबिम्ब अनेक हैं। जल के हिलने से प्रतिबिम्बत सूर्य हिलता हुआ सा प्रतीत होता है। जल के मलिन होने से प्रतिविम्बत सूर्य भी मलिन दिखाई पड़ता है किन्तु आकाश में स्थित सूर्य एक स्थिर निश्चल व स्वच्छ ही रहता है। प्रतिबिम्ब और बिम्ब जैसे एक हैं वैसे ही जीव और ब्रह्म की भी एकता है – 'आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः'।[1] जैसे सूर्य अथवा चन्द्रमा का प्रकाश अंगुलि आदि की उपाधि से ऋजु या वक्र भाव का प्रतीत होने पर भी परमार्थतः वैसा नहीं होता। वह तो सम्पूर्ण आकाश को समान रूप से व्याप्त करके अवस्थित रहता है। वैसे ब्रह्म भी उपाधि के कारण ही जीवभाव को प्राप्त होता है। शंकर इस प्रकार जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित करते हुए अनेकों दृष्टान्त देते हैं – यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति। तत्त्वमसि आदि वेदान्तवाक्यों द्वारा जीव-ब्रह्म की एकता बताकर जीव के ब्रह्मभाव होने का ही प्रतिपादन करते हैं। जीव अविद्या के कारण देहादि में आत्मभाव प्राप्त करके तत्कृत दुःख से दुःखी होता है। जीव का उपाधि से सम्बन्ध अविद्या निमित्तक ही है, पारमार्थिक नहीं है। उपाधि से सम्बन्धित होने के कारण ही जीव का कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि भी कहा जाता है[2] अन्यथा उपाधि रहित जीव ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है जैसे घटाकाश, मठाकाशादि में प्रतिबिम्बत आकाश का भेद घट-मठादि उपाधि के कारण है घट-मठादि के टूट जाने -पर घटाकाश एवं मठाकाश, सर्वव्यापक आकाश में विलीन हो जाता है।

---

1. 2/3/50 ब्र.सू.शां.भा.। 'यथा चोदशरावादिकम्पनात्तंगते सूर्यप्रतिबिम्बे-कम्पमानेऽपि न तद्वान्सूर्यः कम्पते, एवम् अविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युयहिते जीवाख्येऽंशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानीश्वरो दुःखायते।' 2/3/46 ब्र. सू. शां. भा.

2. 2/3/41, 221/14 ब्र. सू. शां .भा

आचार्य जीव - जगत् की सत्यता का निषेध पारमार्थिक स्तर पर करते हैं व्यावहारिक स्तर पर वे जीव-जगत् की व्याख्या ब्रह्म की उपाधि या माया शक्ति के आधार पर करते हैं। मायाशक्ति के द्वारा निष्क्रिय, कूटस्थ, असंग निर्विकार एवं चेतन ब्रह्म इस जगत् की रचना करता है। ब्रह्म की शक्ति माया दो विशेषताओं से युक्त है आवरण एवं विक्षेपशक्ति। आवरण-शक्ति जीव के ब्रह्म स्वरूप पर पर्दा डाल देती है और विक्षेप शक्ति ब्रह्म रूप अधिष्ठान पर जगत् की रचना कर देती है। ब्रह्म की मायाशक्ति का विस्तृत विवेचन द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है। जीव ब्रह्म की मायाशक्ति के वश में रहता है जबकि मायाशक्ति ब्रह्म के अधीन है। जीव ब्रह्म स्वरूप होते हुए भी मायाशक्ति के द्वारा क्यों चमत्कृत होता है? इसका उत्तर आचार्य के अनुसार यह है कि जीव अनादि अविद्या या अज्ञान के कारण ही जीवत्व को प्राप्त होकर माया द्वारा किए गए कार्यो को सत्य मानकर उससे प्रभावित होता है। जीव का देहादि से सम्बन्ध भी भ्रमनिमित्तक ही है यह भ्रम अनादि काल से चला आ रहा है। आचार्य उदाहरण देते हें – जिस प्रकार व्यक्ति को अन्धकार में अज्ञानवश स्थाणु में पुरूष की प्रतीति होने लगती है, अथवा रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है वैसे ही परमात्मा रूपी अधिष्ठान पर अज्ञान के कारण जगत् की प्रतीति होने लगती है।[1] ब्रह्मज्ञान होते ही जीव ब्रह्मरूप ही हो जाता है – 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म स्वरूप जीव का देहादि बन्धन भी तत्काल निवृत्त हो जाता। देहेन्द्रियादि से तादात्म्यभाव स्थापित किए हुए जीव का देहादि के सुख–दु:ख से सुखी-दु:खी होना ही उसका बन्धन है। बन्धन की स्थिति में जीव देहादि को ही आत्मा समझने लगता है। आचार्य के प्रमुख शिष्य सुरेश्वराचार्य के मत में बन्धन वस्तुत: न होकर आभासमात्र है। ब्रह्म तो नित्यमुक्त है। अत: ब्रह्म न जीव हो

---

1. यावदेव हि स्थाणाविव पुरूष बुद्धि द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन् कूटस्थनित्य दृकूस्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते तावज्जीवस्य जीवत्वं । 1/3/19 ब्र. सू. शां. भा

सकता है, न बन्ध–मोक्ष का अधिकारी। ब्रह्म में संसारित्व उसी प्रकार कल्पित है जैसे नभस्तल में नीलिमा – 'आत्मा संसारिता यातो यथा कार्ष्ण्यं वियत्तथा'[1] अर्थात् ब्रह्म रूप अधिष्ठान पर अज्ञानियों द्वारा संसार की कल्पना कर ली गयी है। आकाश का कोई रंग नहीं है। प्रकाश के भाव एवं अभाव के कारण ही उसका रंग काला, नीला आदि दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार अज्ञानी पुरूष निर्मल एवं निर्विकार आत्मतत्त्व में अविद्या के कारण संसार की उद्भावना कर लेता है। आचार्यवाचस्पतिमिश्र के अनुसार वन्धन का कारण जीवोपाधि अविद्या है। आचार्यशंकर ने जीव एवं माया की उपाधि में भेद नहीं किया किन्तु वाचस्पतिमिश्र जी ने जीव की उपाधि को अविद्या और ब्रह्म की उपाधि को माया कहा है। ये भेद केवल जीव और ईश्वर का सम्प्रत्यय स्पष्ट करने के लिए ही किया गया है। जीव की उपाधि अविद्या का निमित्त या विषय माया रूप उपाधि ही है। जिस जीव की अविद्या नष्ट होती है उसी को मोक्ष प्राप्त होता है अन्य को नहीं। बन्धन एवं मोक्ष को सुस्पष्ट करने के लिए आचार्य ने माया एवं अविद्या में भेद किया है वस्तुतः कोई भेद नहीं है।[2]

पंचदशीकार के अनुसार अद्वितीय ब्रह्म का न तो कभी बन्धन होता है, न मोक्ष ही किन्तु जब अद्वय आत्मतत्त्व अपने को परब्रह्म से भिन्न एवं दुःखित समझने लगता है तो वही उसका बन्धन हो जाता है। पुनः अपने स्वरूप में उसकी स्थिति मोक्ष है – अद्वयानन्दरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता । बन्धः प्रोक्तः स्वरूपेण स्थिति मुक्तिरितीर्यते।[3] बन्ध–मोक्ष जीव रचित ही हैं और ब्रह्म स्वरूप जीव का जीवत्व अविवेकजन्य है।[4]

---

1. बृ. उ. भा. वा. 2/4/436
2. 1/4/3 भामती
3. 10/4 पंचदशी
4. 'संसारो जीव कर्तृकः' 8/69 पंचदशी

संक्षेपशारीरककार के अनुसार माया या अज्ञान की शक्ति द्वय अपनी आवरण और विक्षेप शक्ति के द्वारा – जीव जगत् आदि की रचना कर देती है।[1] पंचदशीकार जीव की अज्ञानादि सात अवस्थाओं का वर्णन करते है – अज्ञान, आवृत्ति, विक्षेप, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोक निवृत्ति और तृप्ति। इन सात अवस्थाओं में ही बन्ध और मोक्ष का समावेश है।[2] **अज्ञान** 'मैं नहीं जानता' इस प्रकार के उदासीन व्यवहार का हेतु होता है। आत्मज्ञान होते ही अज्ञान नष्ट हो जाता है इसलिए पंचदशीकार कहते हैं – विचारप्रागभावेन युक्तम ज्ञानमीरितम्।[3] **आवरण या आवृत्ति** अज्ञानकृत है। इसके द्वारा कूटस्थात्मा विषयक ज्ञान ढक जाता है। निर्विकार आत्मा में जो कर्तृत्व, भोक्तृत्व का आरोप होता है उस आरोप का हेतु चिदाभास[4] ही **विक्षेप** है – 'कर्त्ता भोक्ताऽहमस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यते।[5] गुरू द्वारा उपदिष्ट यह ज्ञान कि जीव या चिदाभास कूटस्थ ब्रह्म है, **परोक्षज्ञान** है। श्रवणादि के द्वारा परिपक्व होने पर मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ, ऐसी आत्मानुभूति अपरोक्षज्ञान है। विचार रहित निःसंग आत्मा में ज्ञान का उदय होने के अनन्तर कर्तृत्वादि शोक की निवृत्ति **शोकनाश** है। वस्तुतः कर्तृत्व, प्रमातृत्व ही अखिल शोक का कारण है, बन्धन का हेतु है। 'आत्मानुभूति होने पर जीव की सभी इच्छाएं एवं कामनाएं शान्त हो जाती हैं' ऐसा संतोषात्मक ज्ञान होना ही तृप्ति है।[6] पंचदशीकार के अनुसार अज्ञानादि सात में से तीन अवस्थाएं अर्थात् अज्ञान, आवरण या

---

1. आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं ।
   जीवेश्वरत्व जगदाकृतिभिर्मृषैव ।।
   अज्ञानमावरणविभ्रमशक्ति योगादात्मत्वमात्र विषयाश्रयताबलेन।। (1/20)

2. अज्ञानमावृत्तिस्तद्विक्षेपश्च परोक्ष धीः।
   अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरंकुशा ।। 7/33 पञ्चदशी
   सप्तावस्थाइमाः सन्ति चिदाभासस्य तास्विमौ ।
   पंचदशी बन्धमोक्षौ स्थितौ तत्र त्रिस्रोबन्धकृतः स्मृताः । (7/34) पञ्चदशी

3. 7/35 पंचदशी

4. चिदाभास कूटस्थ आत्मा से भिन्न तत्त्व नहीं है। जिस प्रकार दर्पण में व्यक्त होने वाला मुखाभास मुख के अतिरिक्त कुछ नहीं है उसी प्रकार चिदाभास चिद्स्वरूप आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। (7/15)

5. 7/30 वही

आवृत्ति और विक्षेप बन्धन कारक हैं और शेष चार मोक्षरूप अथवा मोक्षप्रदान करने वाली हैं।[1] परोक्ष और अपरोक्ष दोनों प्रकार के ज्ञान से आवृत्ति का कारण अज्ञान दूर हो जाता है तब उस अज्ञान के कार्यभूत आवरण और विक्षेप का नाश हो जाता है। आवरण और विक्षेप ही कर्तृत्वादि का कारण है, इनके नष्ट होने पर सांसारिक दुःख शोकादि की निवृत्ति हो जाती है, और पूर्ण तृप्ति की प्राप्ति होती है।[2] सुरेश्वराचार्य के मत में बुद्धिगत चिदाभास रूप जीव बुद्धि के साथ ऐकात्म्यभाव स्थापित कर लेता है। तब बुद्धिगत सुख–दुःखादि से अपने को भी व्याप्त मानने लगता है। इस प्रकार नाना-कर्म को करते हुए संसार - चक्र में परिभ्रमित होता है। इन सबका कारण अविद्या है, अविद्या ही जीव के बन्ध का हेतु है।[3]

शांकरमत में मोक्ष का स्वरूप

आचार्यशंकर मोक्ष को इस प्रकार परिभाषित करते हैं – इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थ नित्यं, व्योमवत् सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योति स्वभावम्, यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रय च नोपवर्तते, तदेतत् अशरीरत्वं मोक्षाख्यम्।[4] आचार्यशंकर के अनुसार मोक्ष का स्वरूप इस प्रकार से है – मोक्षज्ञान का फल है, अज्ञान रूप प्रतिबन्ध की निवृत्तिमात्र है – मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रम् एव आत्मज्ञानस्यफलम्।[5] मोक्ष नित्य एवं अशरीरी अवस्था है।[6] मोक्ष की अवस्था कर्मोपार्जित नहीं है। मोक्ष सत्–चित्- आनन्दस्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति है।[7] मोक्ष की अवस्था वर्णनातीत है। इसको आँखों से

---

1. 7/34 पंचदशी
2. 7/44, 45, 46, 47 पंचदशी
3. बृ. भा. वा 3/3/23, 3/4/798
4. ब्र. सू. शां. भा. 1/1/4
5 1/1/4, वही
6. 1/1/4, वही
7. 1/1/12, वही

देखा नहीं जा सकता है तो भी हम अमरत्व के विचार को काल सम्बन्धी भाषा में रखकर इसे 'सर्वात्मभाव' के नाम से पुकार सकते हैं।[1] मोक्ष वह दिव्यानुभूति है, जिसको शब्दों द्वारा नहीं बताया जा सकता है इसलिए शंकर और उनके अनुयायियों ने मोक्ष का निषेधात्मक रूप से वर्णन किया है। निषेधात्मक रूप से वर्णन करने का यह अर्थ नहीं है कि मोक्ष नितान्त अभाव की अवस्था है क्योंकि यह परमानन्दानुभूति की अवस्था है। मोक्ष का विस्तृत विवेचन शांकरमत में इस प्रकार से है – **मोक्ष कर्मोपार्जित नहीं है** लोक और परलोक दोनों में ही देखा जाता है कि कर्मोंजित विषय अनित्य होते हैं। कारण के नाश से कार्य का नाश स्पष्ट ही है। यज्ञादि कर्म द्वारा प्राप्त स्वर्गादि का सुख नित्य नहीं है। यज्ञादि द्वारा अर्जित पुण्य का प्रभाव जैसे ही कम होता है मनुष्य पुनः मर्त्यलोक में आ जाता है – क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। मोक्ष कर्मसाध्य नहीं है बल्कि यह तो सिद्ध है। इसकी प्राप्ति अविद्या की निवृत्ति होने पर उसी प्रकार हो जाती है जैसे दीपक के प्रकाशित होने पर घट की अभिव्यक्ति हो जाती है।[2] मोक्ष का धर्म–अधर्म और कार्य–कारण से तीनों काल में भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि मोक्ष कर्म साध्य होता तो कर्मोपार्जित स्वर्गादि की भाँति अनित्य हो जाता। मोक्ष के विषय में पद्मपुराण के पातालखण्ड में शिवगीता के 13वें अध्याय में इस प्रकार कहा गया है –

मोक्षस्य हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा ।
अज्ञान ग्रन्थि नाशो मोक्ष इति स्मृतः ।

मोक्ष न उत्पाद्य है, न आप्य है, न संस्कार्य है और न विकार्य है। मोक्ष इन चारों प्रकार के कर्मों का फल नहीं है – 'न हि दध्यादि विकार्य उत्पाद्यं वा घटादि नित्यं दृष्टं लोके। न चाप्यत्वेनापि कार्यापेक्षाः स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्।[3]

---

1. 'सर्वात्मभावो मोक्षः उक्तः' बृ. उ. पर शां. भा. 4/4/6
2. मैवं साध्योऽप्यसौ मुक्तिः स्वर्गवन्नैव जन्यते। किन्त्वभिव्यजते बोधात् प्रदीपेन घटो यथा।। बृ. भा वा. सा., पृ0 33
3. 1/1/4 ब्र. सू. शां. भा.

लोक में घटादि उत्पाद्य होने के कारण अनित्य होते हैं। यदि मोक्ष की उत्पत्ति स्वीकार कर लें तो उसका भी नाश होगा जबकि श्रुति आदि में मोक्ष का नित्यत्व प्रतिपादित है। मोक्ष आत्म स्वरूप होने के कारण प्राप्य नहीं है क्योंकि अपना रूप तो सदैव ही प्राप्त है। उसे प्राप्त करने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। यदि ब्रह्म को स्वरूप से भिन्न मानें तो भी वह प्राप्य नहीं है।[1] आकाश के सदृश सर्वव्यापक होने से ब्रह्म सबको नित्य प्राप्त है – 'स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्राह्मणो नाप्यत्वम्, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मणः आकाशस्येव।'[2] मोक्ष विकार भी नहीं है, जैसे दधि, दूध का विकार है। मोक्ष कोई ऐसी अवस्था नहीं है कि आत्मदर्शन हो जाने के पश्चात् जीवात्मा में मोक्ष नामक विकार उत्पन्न हो जाता है। यदि ऐसा होता तो विकारशील पदार्थों की भांति मोक्ष भी अनित्य हो जाता। मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है। संस्कार दो प्रकार से होता है – एक गुणाधान से और दूसरा दोषापनयन से, जैसे याज्ञ में 'ब्रीहीन् प्रोक्षति' आदि का अभिप्राय यह है कि प्रोक्षण करने से ब्रीहि में गुणाधान रूप संस्कार होता है और मलिन वस्त्र, दर्पणादि का जलादि के द्वारा मल की निवृत्ति रूप संस्कार होता है। मोक्ष में गुणाधान (विशेषगुण लाने से संस्कृत होना) भी संभव नहीं है क्योंकि मोक्ष तो आधेयातिशय से रहित ब्रह्म स्वरूप है। दोषापनयन से भी उसका संस्कृत होना संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि मोक्ष नित्य शुद्ध ब्रह्म स्वरूप ही है। यदि यह कहा जाए कि जैसे घर्षण क्रिया से दर्पण संस्कृत होने पर अपने भास्वरत्व धर्म से अभिव्यक्त होता है जिससे अविद्या आदि रूप मल का तिरोभाव हो जाता है और मोक्ष रूप धर्म अभिव्यक्त होता है। यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि निष्क्रिय आत्मा किसी भी क्रिया का आश्रय नहीं है। क्रिया जिस आश्रय में रहती है, उसको विकृत करती है, इसलिए

---

1 स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्। ब्र. सू. शां. भा. (1/1/4)

2. 1/1/4, वही

आत्मा को क्रिया का आश्रय नहीं कहा जा सकता। 'अविकार्योऽयमुच्यते'[1] आदि के द्वारा आत्मा को अविकारी कहा गया है। 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर ; शुद्धमपापविद्धं'[2] इत्यादि मन्त्र के द्वारा श्रुति ब्रह्म की व्यापकता, अनाधेयातिशयता और नित्यशुद्धता प्रतिपादित करती है। ब्रह्मभाव की प्राप्ति ही तो मोक्ष है इसलिए मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है। शंकर कहते हैं मोक्ष में ज्ञान के अतिरिक्त क्रिया का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान मानसी क्रिया का नाम है यदि यह कहा जाए तो उचित नहीं है क्योंकि यह ज्ञान उससे विलक्षण है। पहले से विद्यमान नित्य प्राप्त आत्म स्वरूप का प्रकाशन अविद्या की निवृत्ति होने पर होती है। ज्ञान का उदय अविद्या के नष्ट होने पर स्वतः ही हो जाता है, जैसे मलिनता के छूट जाने पर वस्तु चमक जाती है। आचार्य कहते हैं वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा के बिना जहां विधान किया जाता है वह क्रिया है और वह पुरूष संकल्प के अधीन है।[3] जैसे देवता के लिए अध्वर्यु ने हवि का ग्रहण किया तो उस समय होता वषट् का उच्चारण करते हुए मन से ध्यान करे[4] और 'संध्या मनसा ध्यायेत्' इत्यादि के द्वारा प्रतिपादित ध्यान, चिन्तन आदि मानसी क्रिया हैं, तो भी पुरूष के अधीन होने के कारण वह पुरूष द्वारा करने, न करने अथवा अन्य प्रकार से करने योग्य हैं। ज्ञान तो प्रमाण जन्य है और प्रमाण यथार्थवस्तु विषयक होता है इसलिए यहां ज्ञान करने, न करने अथवा अन्य प्रकार से करने के योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह केवल वस्तु के अधीन है।[5] तत्केन कं पश्येत्[6] इत्यादि श्रुति वाक्य द्वारा मोक्ष की अवस्था में समस्त क्रिया, कारक एवं फल का निषेध किया

---

1. गीता – 2/25
2. ईशोप0 मन्त्र – 8
3. क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरूष चित्तव्यापाराधीना च । ब्र.सू.शां.भा. 1/1/4
4. 1/1/4 ब्र सू. शां. भा.
5. वही
6. मुण्डको0, 3/2/9

गया है। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मौव भवति' और 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे'[1] इत्यादि श्रुतिवाक्य ब्रह्मज्ञान के अनन्तर समस्त कर्मादि का अभाव दर्शाते हैं।

अशरीरत्व ही मोक्ष है – शरीरादि उपाधि से आत्मा का सम्बन्ध होना सशरीरत्व है। देहादि से आत्मतत्त्व का सम्बन्ध स्वभाविक नहीं है क्योंकि यह आत्मतत्त्व धर्म–अधर्म, सुख–दुःख एवं पाप–पुण्यादि से परे है – 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'[2] 'अप्राणो अमनाः शुभ्रः'[3] 'असंगो हि अयं पुरूषः'[4] इत्यादि के द्वारा अशरीरत्व आत्मा का स्वभाव कहा गया है। अशरीरत्व का तात्पर्य शरीरपात होना नहीं है – शरीरेपतितेऽशरीरत्वं स्यात् न जीवति इति चेत न, सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्।[5] शरीरादि के प्रति यह अभिमान होना कि यह मेरा शरीर है मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ इत्यादि शरीर के साथ आत्मा का जो तादात्म्यभाव है, वह मिथ्याज्ञान निमित्तक है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने पर जीव का देहादि के प्रति आत्मभाव भी निवृत्त हो जाता है। इस अवस्था में जीव आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है। सब कुछ देखते हुए भी मानों कुछ नहीं देखता, सुनते हुए भी कुछ नहीं सुनता। यह अशरीरी अवस्था जीव के स्थूलदेह त्यागने के पूर्व भी संभव है। आचार्य एक उदाहरण द्वारा इसे समझाते हैं, जैसे धनाभिमानी धनी गृहस्थ को धनापहार से दुःख होता है। संन्यास ग्रहण किए हुए धनाभिमान से रहित उसी पुरूष को धनापहार

मुण्डको॰ 3/2/9 ,
1. मुण्डको॰ 2/2/8
2. छा0 8/12/1
3. मुण्डको 2/1/2
4 बृहद0 4/3/15
5 1/1/4 ब्र. सू. शां. भा.

निमित्तक वही दुःख नहीं होता, वैसे ही शरीरादि के अभिमानी जीव को शरीरादि के कष्ट से कष्ट होता है किन्तु देहात्मभाव का त्याग कर देने पर उसी योगी पुरूष को देहादि के दुःख से कोई दुःख नहीं होता।[1] इस प्रकार अशरीरत्व आत्मा की स्वभाविक अवस्था है। इस स्वभाविक अवस्था की प्राप्ति ही मोक्ष है – 'नित्यमशरीरत्वं मोक्षाख्यम्'।[2]

मोक्ष आगन्तुक फल नहीं है – आत्म साक्षात्कार रूप मोक्ष स्वर्गादि साध्यफल के सदृश उत्पन्न नहीं होता क्योंकि आत्मा नित्य एवं सिद्ध है। आत्मानुभूति या साक्षात्कार से इसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है। जैसे प्रकाश, अन्धकार की निवृत्ति द्वारा वस्तु की अभिव्यक्ति में हेतु है अथवा जैसे शैवाल से आवृत्त जल उसके हटाए जाने पर स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है, वैसे ही अविद्या से आवृत्त, आत्मा अविद्या की निवृत्ति होने पर शुद्ध रूप में अभिव्यक्त होता है। अविद्यावस्था में आत्म अपने आनन्दस्वरूप को भूलकर सुखी–दुःखी होता है किन्तु ज्ञान हो जाने पर देहात्मभाव त्यागकर अपने सत्–चित्-आनन्द रूप से अवस्थित रहता है। आचार्य कहते है – 'अस्माच्छशरीरात्समुत्थाप परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति श्रूयते'[3] अर्थात् तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जीव अपने शुद्ध आत्म स्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है। अभिनिष्पत्ति का अर्थ यहां उत्पत्ति नहीं है बल्कि अभिव्यक्ति या आविर्भूत होना है। जिस प्रकार शुद्ध स्फटिक समीपस्थ वस्तु के कारण नील–पीतादि वर्ण की प्रतीत होता है किन्तु वास्तविक ज्ञान के अनन्तर अपने शुद्ध रूप में अभिव्यक्त हुआ कहा जाता है। उसी प्रकार देहादि उपाधियों से विविक्त हुआ आत्मतत्त्व भी अपने शुद्ध रूप में अभिव्यक्त होता है।[4]

---

1 1/1/4 – ब्र. सू. शां. भा.

2. 1/1/4 वही

3. ब्र. सू. शां. भा. 4/4/1

4 1/3/19, ब्र. सू. शां. भा.

मोक्ष चैतन्य के विलोप की अवस्था नहीं है – शांकर अद्वैतमत में आत्मा को सत्–चित्-आनन्द स्वरूप कहा गया है। जो जिसका स्वभाव या स्वरूप होता है वह उससे कभी भी वियुक्त नहीं होता। चैतन्य आत्मा का स्वरूप है अतः मोक्षावस्था में चैतन्य का विलोप नहीं होता। न्याय दर्शन में चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक धर्म माना गया है जड से संयोग होने पर चेतनता आत्मा में आ जाती है किन्तु अद्वैतमत में चैतन्यता आत्मा का आगन्तुक धर्म या गुण नहीं है। आत्मा निर्गुण, निर्धमक, असंग, कूटस्थ एवं एकरस है। नित्य चेतन आत्मतत्त्व सभी जीवों का आत्मा है परमेश्वर का स्वरूप ही जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप है। शारीरत्व उपाधिकृत है – 'पारमेश्वरमेव हि शारीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपं उपाधिकृतं तु शारीरत्वम्'[1] इस विषय में श्रुति वाक्य प्रमाण है – 'तत्त्वमसि'[2] 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्ट्'[3] इत्यादि। मुक्ति की अवस्था में जीव ब्रह्म स्वरूप हो जाता है – 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'। जैसे बूंद सागर में समा जाती है तो उसका अलग से कोई अस्तित्व नहीं रह जाता अथवा जैसे घटाकाश मठाकाश में घट–मठादि उपाधि के टूट जाने पर घटाकाश, मठाकाश सर्वव्यापक आकाश में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार आत्मैक्य की अवस्था में विशेष विज्ञान (व्यक्तिगत चैतन्य) का लय होता है, आत्मा का विनाश नहीं होता। यदि आत्मतत्त्व का विनाश मानें तो शून्यवाद का प्रसंग होगा। मोक्ष की इस अवस्था के प्रति किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी क्योंकि अपने अस्तित्व के विषय में सभी यही चाहते है कि मेरा अस्तित्व सदा रहे। श्रुतियों में आत्मा को अद्वितीय, अविनाशी, कूटस्थ, नित्य और विज्ञानैकरस कहा गया है। इसके उच्छेद का कहीं भी वर्णन नहीं किया गया है। आचार्य शंकर

---

1 3/4/8 ब्र. सू. शां. भा.

2. छा0 6/8/7

3. बृहदा0 3/8/11

के अनुसार – 'विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेव न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम्'[1] नहि विज्ञार्तुविज्ञातेर्विपरिलोपो, विद्यतेऽविनाशित्वात'[2] इस प्रकार मुक्ति की अवस्था में जीवात्मा का परमात्मा में लय हो जाता है वह परब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है। अविनाशी होने के कारण चैतन्य का लोप नहीं होता।

मुक्ति की दशा में जीव सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में लीन रहता है। आचार्य के इस विशिष्ट मत का समर्थन श्रुति वाक्य भी करते हैं – 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' 'आनन्द ब्राह्मणों विद्वान् न विभेति कुतश्चन' इति।[3] 'ब्रह्मेति व्यजानात्' इति च।[4] आचार्य कहते हैं कि आनन्द शब्द का ब्रह्म में बहुत बार अभ्यास होने से आनन्दमय आत्मा ब्रह्म है' ऐसा ज्ञात होता है। आनन्दमय में मयट् प्रत्यय प्राचुर्य अर्थ में है, विकार अर्थ में नहीं है। आनन्द प्रचुर होने से ब्रह्म आनन्दमय कहा जाता है। मनुष्य से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त क्रमशः सौ–सौ गुना उत्तरोत्तर आनन्द बढ़ता जाता है। ब्रह्म का आनन्द निरतिशय है, इसलिए परमात्मा के लिए आनन्दमय शब्द का जो प्रयोग हुआ है वहां प्राचुर्य अर्थ में मयट् प्रत्यय लगा है। जैसे लोक में जो अन्य निर्धन पुरूषों को धनी बना देता है, वह प्रचुर धन से युक्त कहा जाता है। वैसे ही जो अन्य लोगों को आनन्द देता है वह प्रचुर आनन्द है, ऐसा कहा जाता है – 'यो ह्यन्यानानन्दयति स प्रचुरानन्द इति प्रसिद्धं भवति। यथा लोके योऽन्येषां धनिकत्वमापदयति स प्रचुर–धन इति गम्यते, तद्वत्। तस्मात्प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः संभवादानन्दमयः'[5] सुरेश्वराचार्य के अनुसार – 'उत्कर्षोऽवसितो यत्र मोक्षानन्दः उच्यते'[6] अर्थात् मोक्ष की अवस्था नित्य एवं निरतिशय आनन्द की अवस्था है। लौकिक विषयों से जन्य सुख सातिशय एवं मानस प्रत्यक्ष का विषय बनता है किन्तु ब्रह्मानन्द अत्यन्त परोक्ष

---

1. ब्र. सू. शां भा. 1/3/19, पृ0 232
2. बृ उ. 4/3/30
3. तैत्ति. 2/8, 9
4. तैति. 3/6
5. 1/1/14 ब्र. सू. शां. भा.
6. बृ. भा. वा. सा. प्रथम भाग, पृ0 569

नहीं है क्योंकि प्राणिमात्र को आनन्दस्वरूप आत्मा की अनुभूति होती रहती है।[1] पंचदशी में विद्यारण्यमुनि महते हैं – 'इयमात्मा परमानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।'[2] वेदान्त परिभाषाकार कहते है – आनन्दात्मक ब्रह्मावाप्तिश्च मोक्षः शोकनिवृत्तिश्च'[3] अर्थात् आनन्दात्मक ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति मोक्ष है। यह आनन्द लौकिक एवं वैषयिक सुख से मिलने वाले आनन्द से भिन्न है। इस प्रकार मोक्ष की अवस्था में जीव सत्–चित्-आनन्दस्वरूप में स्थित रहता है।

मुक्ति की अवस्था मोक्ष एक रूप है – शंकर ने अनेक स्थलों पर स्पष्ट कहा है कि मुक्ति का स्वरूप जीव का ब्रह्म के साथ एकात्मभाव है। देश, काल, कार्य, कारण, सुख–दुःख, व्यक्ति और वस्तु भेद मुक्ति की अवस्था में नहीं रह जाते। सम्पूर्ण लोकों द्युलोक, पृथ्वीलोक , अन्तरिक्षलोक , इन्द्रिय और प्राणादि सभी का आश्रय एक आत्मा ही है।[4] स्वर्गादि रूप फल के समान क्या मोक्ष में भी सातिशय है? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं – मुक्ति की अवस्था सब श्रुतियों में एक रूप ही निश्चित की जाती है। "मुक्त्यावस्था हि सर्ववेदान्तेष्वेकरूपैवावधार्यते। ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था न च ब्रह्मणोऽनेकाकारयो–गोऽस्ति एकलिंगत्वावधारणात् 'अस्थूलमनणु'[5] (बृ0 3/8/8) इत्यादि के द्वारा मुक्ति की एकरूपता को कहा गया है। ब्रह्मात्मभाव ही मोक्ष है ब्रह्म अनेक

---

1. 'बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकसार' प्रथम भाग पृ0 569, 'न चाऽत्यन्तपरोक्षाऽ–यमानन्दः प्रणिनां यतः'
2. पंचदशी – 1/8
3. पृ0 123
4. 2/2/5, मुण्डको0
   ब्रह्मेवेदममृतं पुरस्तात् (मुण्ड0 2/2/11)
   पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणश्चोत्तरेण (मुण्ड0 2/2/11)
5. 3/4/52 ब्र. सू. शां. भा.

आकारों वाला एवं अनेक रूपों वाला नहीं है क्योंकि यह निराकार है। यह न अणु है, न स्थूल है। जब ब्रह्म एक रूप है तो मुक्ति अनेक रूपों वाली कैसे हो सकती? नित्य, एकरस, निराकार एवं निर्धर्मक ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है। ज्ञान से मोक्ष की अभिव्यक्ति मात्र होती है, मुक्ति के साधनभूत विद्या में, कर्मो के समान भेद नहीं है। मुक्तपुरूष ब्रह्मात्मस्वरूप में स्थित रहता है। शरीरधारी ईश्वर के उपासक तो ब्रह्मलोकको जा सकते हैं किन्तु जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया, उन्हें कहीं भी, किसी भी लोक में नहीं जाना होता। ब्रह्म सर्वत्र कण–कण में व्याप्त है। इसके लिए गतिशीलता का कथन करना अनुपयुक्त है।

मोक्ष प्राप्ति कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसमें जगत् को नष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है – यदि ऐसा होता तो सर्वप्रथम मोक्ष प्राप्त करने वाले मनुष्य के मोक्ष प्राप्त करते ही समस्त जगत् का विलय हो गया होता और इस समय जगत् पृथ्वी आदि से शून्य हो गया होता। अतः मोक्षावस्था में जगत् का नाश नहीं होता, बल्कि उसके भाव अर्थात् वास्तविक होने के भाव का अभाव हो जाता है। मोक्ष की अवस्था में योगी पुरूष का संसार के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है।[1] ब्रह्मज्ञान के पूर्व अज्ञानी पुरूष जगत् को सत्य समझता है उसके सुख–दुःख से सुखी–दुःखी होता है किन्तु तत्त्वज्ञान होते ही मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। उसके लिए उस समय जगत् निष्प्रयोजन हो जाता है क्योंकि वह जगत् की सारहीनता एवं तुच्छता का प्रत्यक्ष कर लेता है। जगत् अन्य अज्ञानी पुरूषों के लिए तो यथावत् अस्तित्व रख्ता ही है। इसलिए कहा गया है कि मोक्ष की अवस्था में जगत् नष्ट नहीं हो जाता ज्ञानी पुरूष का जगत् से सम्बन्ध टूट जाता

---

1 नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः
ना चेत्सुषुप्तिमूर्च्छादो मुच्येतायत्नतो जनः ।
6/13 पंचदशी

है क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने के पश्चात् वह संसार के आवागमन से मुक्त हो जाता है। आचार्यशंकर के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यो की दृष्टि में मोक्ष मुक्त पुरूष किस रूप में अविस्थत रहता है। इस विषय में आचार्यशंकर विभिन्न आचार्यो के मत को उद्धृत करते हैं। आचार्य जैमिनी इस विषय में कहते हैं कि श्रुतियों में 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादि से आरम्भ करके 'सत्यकाम: सत्यसंकल्प:'[1] इत्यन्त अर्थात् उपसंहार करके यह सिद्ध किया गया है कि मोक्षावस्था में यह आत्मतत्त्व सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्त्व इत्यादि धर्म से युक्त होकर अवस्थित होता है।[2] औडुलोमि आचार्य यह मानते हैं – चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप है, इसलिए मोक्ष की अवस्था में आत्मतत्त्व चैतन्य रूप से ही अभिनिष्पन्न होता है। जैमिनी द्वारा कथित सत्यकामत्व आदि धर्म वस्तु रूप से ही कहे जाते हैं, तो भी उपाधि सम्बन्ध के अधीन होने से उसमें चैतन्य के समान सत्य कामत्वादि संभव नहीं है। क्योंकि ब्रह्म निर्धर्मक है उसमें किसी भी धर्म या गुणों का कथन नहीं किया जा सकता है।[3] बादरायण दोनों के मत में सामंजस्य स्थापित करते हुए कहते हैं कि परमार्थत: चैतन्यमात्र स्वरूप होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से आत्मतत्त्व में सत्यकामत्व, ऐश्वर्यत्व आदि को मोक्षावस्था में माना जा सकता है। दोनों दृष्टियों से विचार करने पर दोनों के मत में कोई विरोध नहीं है।

आचार्यशंकर के साक्षात् शिष्य सुरेश्वराचार्य जीव तथा ईश्वर दोनों को ही चैतन्य का आभासमात्र एवं मिथ्या मानते हैं। जीव ब्रह्मस्वरूप ही है किन्तु अज्ञानता के कारण ही जीव ब्रह्म में संसार को कल्पित लेता है जैसे नभस्तल में नीलिमा अज्ञानता के कारण ही कल्पित है। जीव की देहादि

---

1. 8/7/1 छा0
2. 4/4/5 ब्र सू. शां. भा.
3. 4/4/6 ब्र. सू. शां. भा.

रूप उपाधि का नाश होने से जीवत्व का नाश हो जाता है और जीव आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है। मोक्ष के आत्मस्वरूप होने के कारण उसकी प्राप्ति का कथन करना औपचारिक है।[1] बृ. उ. भा वा. में सुरेश्वराचार्य ने व्याघकुलसंवर्धित राजकुमार की आख्यायिका द्वारा मोक्ष प्राप्ति की औपचारिकता का निरूपण किया है। तैतिरीयोप0 भा. वा. में भी 'दशमस्त्वमसि' दृष्टान्त के आधार पर इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है ।

विवरणकार प्रकाशात्मा के प्रतिबिम्बवाद के आधार पर ईश्वर एवं जीव की व्याख्या की है। इनके मत में जीव प्रतिबिम्ब रूप है तथा ईश्वर उसका बिम्ब रूप है। अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है तथा बिम्ब स्थानीय चैतन्य ईश्वर है। मुक्तिदशा में जीव की ईश्वररूपता मानी गई है। इनके मत में जब तक सब जीवों की मुक्ति नहीं हो जाती, तब तक मुक्त जीव ईश्वर रूप ही रहता है, ब्रह्मरूप नहीं होता। इस सम्बन्ध में यह आपत्ति उठायी जाती है कि यदि मुक्त होने पर जीव ईश्वर के रूप में रहें, तो ऐसी स्थिति में कदाचित् उसे जीवरूप प्रतिबिम्बान्तर की भी प्राप्ति हो सकती है। इस तरह पुनः उसके बन्धन की सम्भावना बन सकती है। विवरणकार के मत में ईश्वर वस्तुतः ब्रह्मरूप ही है। जीवरूप प्रतिबिम्ब के निमित्त ही ब्रह्म की बिम्बरूपता या ईश्वरता है। जीवरूप प्रतिबिम्बों के हटते ही उसकी बिम्बरूपता या ईश्वरता भी समाप्त हो जाती है। किन्तु जब तक प्रतिबिम्बों की सत्ता है, तब तक उसका बिम्बत्व भी बना रहता है। इस प्रकार विवरणकार के मत में मुक्तिदशा में जीव की तब तक बिम्बरूपता या ईश्वरता रहती है जब तक कि समस्त जीवों की मुक्ति न हो जाए।[3] सर्वज्ञात्ममुनि मुक्तिदशा में जीव को

---

1. बृ. उ. भा. वा. 2/4/436
2. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ0 536
3. बिम्बेशावादे मुक्तः प्राक् सर्वजीवविमोचनात् ।
   ईशो भूत्वा ततः शुद्धे स्वभावे व्यवतिष्ठते ।।

   वही, पृ0 535

विशुद्ध चैतन्य के रूप में अवस्थित मानते हैं। ये भी प्रतिबिम्बवाद के समर्थक हैं। इनके मत में अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर है तथा अविद्या के कार्य अन्तःकरण में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है। अविद्या कारण है तथा अन्तःकरण कार्य है। उपाधियों में भेद के कारण ही चैतन्य के स्वरूपों में भी भेद की व्यवस्था की गई है। मुक्तिदशा में मुक्तपुरूष बिम्बभूत शुद्ध चैतन्य रूप से ही अवस्थित रहता है। जैसे एक मुख का यदि अनेक दर्पणों में प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो, एक दर्पण के टूट जाने पर उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब, बिम्ब रूप से अवस्थित हो जाता है, वैसे ही अनेक उपाधियों में जब चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो एक उपाधि के नष्ट हो जाने पर उसके प्रतिबिम्ब का बिम्बभूत शुद्ध चैतन्य के रूप में अवस्थान होता है।[1]

आचार्य वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवाद के समर्थक हैं। अवच्छिन्न एवं सान्त जीव का अनवच्छिन्न एवं अनन्त ब्रह्म के रूप का हो जाना ही मुक्ति है – 'निर्विशेष ब्रह्मभावप्राप्तिः परममुक्तिः।'[2] जैसे अनवच्छिन्न आकाश घट रूप उपाधि से अवच्छिन्न होकर घटाकाश के रूप में अवभासित होता है, वैसे ही अनवच्छिन्न चैतन्य अन्तःकरण रूप उपाधि से अवच्छिन्न होकर जीवरूप में अवभासित होता है और जैसे घट रूप उपाधि के नष्ट हो जाने पर तदवच्छिन्न आकाश महाकाश के रूप में अवस्थित होता है वैसे ही अन्तःकरण रूप उपाधि के नष्ट होने पर तदवच्छिन्न चैतन्य अनवच्छिन्न चैतन्य के रूप में अवस्थित हो जाता है ।

---

1 जीव इवेश्वरोऽपि प्रतिबिम्बविशेषः इति पक्षे मुक्तस्य बिम्बभूतशुद्धचैतन्य–रूपेणैवावस्थानं। सि. ले. सं., पृ0 534

2. चे. क. परि. 1/4/3

सांख्य एवं शांकर अद्वैत के अनुसार मोक्ष के स्वरूप की समीक्षा – सांख्य एवं शांकर अद्वैत दोनों के ही मत में अज, कूटस्थ, निर्गुण, निर्धर्मक, अविकारी, विभु एवं नित्य आत्मतत्त्व का बन्ध एवं मोक्ष नहीं हो सकता - पुरूषो न बध्यते सर्वगतत्वात्। यस्मान्न बध्यते तस्मान्न मुच्यते। मुक्त एव सः। अबद्धः कुतो मुच्यते। कस्याभुक्तेन विशूची भवति। न संसरति सर्वगतत्वात्। सर्वगतस्य बन्धमोक्षौ कुतः।[1] 'तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।[2] सांख्यसूत्र के वृत्तिकार अनिरूद्ध के मत में 'वस्तुस्थित्या न बन्धोऽस्ति तदभावान्न मुक्तता'[3]। सांख्य के उपर्युक्त मत के सदृश ही शांकर अद्वैतमत में भी आत्मतत्त्व में बन्ध एवं मोक्ष नहीं स्वीकार किया गया है– 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता'[4] यदि बन्ध–मोक्ष वास्तविक नहीं है तो शास्त्रों में कथित बन्ध–मोक्ष का क्या अभिप्राय है? इसका उत्तर है शास्त्रों में वर्णित बन्ध–मोक्ष व्यर्थ नहीं है। दोनों ही दर्शनों में बन्ध–मोक्ष स्वीकार किए गए हैं, भले ही इनकी व्याख्या अलग–अलग हो। दोनों ही दर्शनों में बन्धन का अर्थ रस्सी से बांधना नहीं है। जैसे पशु को रस्सी से बांध दिया जाता है, वैसे आत्मतत्त्व को नहीं बांधा जा सकता। यह तो एक प्रकार का अनुभव है जो प्रकृतितत्त्व के आत्मतत्त्व के साथ संयुक्त होने पर होता है।[5] दोनों ही दर्शनों में आत्मतत्त्व की बुद्धि मूलक व्याख्या की गई है। दोनों में ही आत्मा से उपाधिजन्य धर्मों का बहिष्कार किया गया है अथवा उन्हें अज्ञान, जनित मान लिया गया है। सांख्य एवं शांकर अद्वैत दोनों के ही मत में मोक्ष की अवस्था में जीव की

---

1 माठरवृत्ति का0 – 62

2. सां0 का0 – 62

3. सां0 सू0 अनिरूद्धवृत्ति, पृ0 8

4. सां0 का0 – 2/71

5. सां0 सू0 – 2/55

चेतनता विलुप्त नहीं होती क्योंकि यह उसका स्वभाव है। सांख्य मत में पुरूष बहुत्व को माना गया है। आत्मतत्त्व विभु एवं नित्य होते हुए भी बहुत से हैं। जिस पुरूष का अज्ञान नष्ट होता है वह पुरूष मुक्त हो जाता है[1] किन्तु अपने अस्तित्व को नहीं खोता। वह विशिष्टता बनाए रखता है जबकि शांकर अद्वैत मत में जीव परमब्रह्म में लीन हो जाता है। यहां अद्वैत ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है। जीव नानात्व की कल्पना अज्ञान या अविद्या के कारण है। शांकर अद्वैतमत में आत्मा को आनन्द स्वरूप भी स्वीकार किया गया है। मोक्षावस्था न्यायदर्शन की तरह शुष्क अवस्था नहीं है। इस अवस्था में जीव दिव्यानन्द की अनुभूति करता है। सांख्यमत में आत्मा सत्–चित् स्वरूप तो है किन्तु आनन्द स्वरूप नहीं है। सांख्यवादी आनन्द (सुख) को प्रकृति के सत्त्वगुण का कार्य मानते हैं। मोक्ष की अवस्था सर्वगुणातीत अवस्था है। इस अवस्था में पुरूष का प्रकृति से कैवल्य या अलगाव हो जाता है। अतः इस अवस्था में आनन्द कैसे रह सकता है। यदि पुरूष आनन्द की अनुभूति करता है तो उसका मोक्ष कैसे हो सकता है? मोक्ष में त्रिविध गुणों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।[2] श्रुति जो आत्मा को आनन्द स्वरूप कहती है – 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'[3] उसकी व्याख्या करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते है कि श्रुति में आत्मा के लिए जो आनन्द का प्रयोग हुआ है वह 'गौण' है – "विदेह कैवल्ये तु सुखवाक्यानि दुःख निवृत्त्या गौणानीति"[4] मोक्षावस्था में त्रिविध दुःखों की एवं दुःख मिश्रित वैषयिक सुखों की भी आत्यन्तिक निवृत्ति रहती है।[5] यह

---

1. 'तेषामेव च देहादीनामुपात्तानां परित्यागो मरणम् नत्वात्मनो विनाशः तस्य कूटस्थनित्यत्वात्' तत्त्वकौ0 सा. का. 18
2. कैवल्यस्य च, सुखत्वम् आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूपतयोक्तम्, योग वा. 2/42
3. बृ0 3/9/28, 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैति0 3/6)
4. योग वा. 2/42
5. 'विदेह कैवल्ये तु सुखवाक्यानि दुःखनिवृत्त्या गौणानीति' योग वा. 2/42

मोक्ष अवस्था की विशेषता है। आनन्द का "गौण" प्रयोग करने का एक कारण और है – विमुक्ति प्रशंसा मन्दानाम्[1] अर्थात् शास्त्र सर्वजन हितैषी होने के कारण उन अनभिज्ञ लोगों को भी अध्यात्म मार्ग पर चलने के लिए एवं उनके अन्दर अभिरूचि पैदा करने के लिए दु:खनिवृत्तिरूप मुक्ति को सुख रूप कहकर श्रुति द्वारा उस अवस्था की प्रशंसा करता है अन्यथा निर्धर्मक आत्मा में, मोक्षावस्था में आनन्द का प्रादुर्भाव नहीं मान सकते।[2] अद्वैतवादी कहते हैं मोक्षावस्था का 'आनन्द' सत्त्वगुण का परिणाम नही है। यह लौकिक सुख से भिन्न नित्य निरतिशय आनन्द है। इस आनन्द की झलक बन्धावस्था में भी यदा–कदा मिलती रहती है[3] किन्तु मोक्षावस्था में मुक्त पुरूष आनन्द की निर्बाध रूप से अनुभूति करता है। वार्तिककार आनन्द की पराकाष्ठा को मोक्ष कहते हैं यह आनन्द प्राणी के निकटतम है इसे कहीं खोजने की आवश्यकता नहीं है ।

सांख्य एवं शांकर अद्वैत दोनों के ही मत में कर्तृत्व - भोक्तृत्व निष्क्रिय आत्मा में आरोपित है। सांख्यमत में इसका कारण है प्रकृति - पुरूष का संयोग और इस संयोग का कारण है जीव की अज्ञानता। यह अज्ञान या अविद्या अनादि काल से चली आ रही है। इस अवस्था में जीव प्रकृति के साथ इस प्रकार तादात्म्यभाव स्थापित कर लेता है कि प्रकृति कृत समस्त कार्य को स्वकृत समझता है। इस शास्त्र में प्रवृत्ति सत् है, प्रकृति कृत कार्य भी सत् हैं और पुरूष का नित्यत्व भी स्वयं सिद्ध है किन्तु पुरूष द्वारा प्रकृति को अपना रूप समझना भ्रम है। मोक्षावस्था में इसी भ्रम की निवृत्ति होती है। चूंकि समस्त कार्य प्रकृति द्वारा किए जाते हैं। भोग एवं मोक्ष भी

---

1. सां0 सूत्र – 5/68
2. 'नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिनिर्धर्मत्वात्' सां0 सू0 5/74
3. 1/8 पंचदशी

बुद्धिनिष्ठ हैं। इसलिए अनेकशः यह कहा गया है कि बन्ध और मोक्ष प्रकृति को ही होता है। पुरूष जब बुद्धिनिष्ठ ज्ञान को अपनाता है, तभी वह ज्ञाता, भोक्ता आदि बनता है। आचार्यशंकर के मत में पारमार्थिक स्तर पर न उत्पत्ति है, न प्रलय है, न कोई साधक है और न मुमुक्षु – 'उत्पत्तिप्रलययोर–भावद्बद्धादयो न सन्तीत्येषा परमार्थता' आचार्यगौडपाद इस विषय में कहते हैं – न निरोधो न चोतपत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।[1] शंकर के इस विचार से कर्तृत्व–भोक्तृत्व का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है किन्तु यह अनुभव के विरूद्ध है। इसलिए आचार्य बन्ध–मोक्ष की व्याख्या व्यावहारिक स्तर पर करते हैं। इस दृष्टि से जगत् सत् है। जीव का देहादि से सम्बन्ध भी व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर संभव है। अनादि अविद्या के कारण जीव का देहात्मभाव ही जीव के कर्तृत्व–भोक्तृत्व का कारण है। जड तत्त्व की स्वतन्त्र उपादानता नहीं है। वह ब्रह्म की शक्ति या उपाधि ब्रह्माश्रित होकर ही जगत् का कारण बनती है। यहां पर आत्मा तो सत् है किन्तु जडतत्त्व तथा जडतत्त्व कृत समस्त विकार मिथ्या हैं। अतः जीवात्मा जो अवस्तुरूप जगत् है, जैसे सर्प–रज्जु के उदाहरण में सर्प की अनुपस्थिति में जीव अज्ञान के कारण सर्प का प्रत्यक्ष करके भयभीत होता है वैसे यहां पर भी ब्रह्म रूप अधिष्ठान की सत्यता न जानने के कारण जीव उस पर जगत् की कल्पना कर लेता है। इस दर्शन में जीव जिसको सत् समझने की भूल करता है, उसका अस्तित्व है ही नहीं। अतः शांकर मत में जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय होना तथा जीव को अपने ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान होना ही मोक्ष है। तत्त्वज्ञान प्राप्त करके जीवात्मा तत्क्षण ही मुक्त हो

---

1. 2/71 मा0 का0

जाता है या कुछ समय तक उसे देह धारण करना ही पड़ता है? सांख्य और वेदान्त दोनों में जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति के रूप में इसका उत्तर मिलता है ।

सांख्य एवं शांकर अद्वैत के अनुसार मोक्ष की दशाएँ :

सांख्यमत में पुरूष-प्रकृति के भेदज्ञान की अनुभूति होते ही पुरूष मुक्त नहीं हो जाता। विवेकख्याति से नए कर्म का संचय रूक जाता है किन्तु प्रारब्ध के प्रबल होने से जीव शरीर धारण किए रहता है किन्तु ऐसे पुरूष को अविवेक व्याप्त नहीं कर सकता । सांख्यकारिका में इस प्रकार कहा गया है – सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तै। तिष्ठति संस्कारवशात् चक्र भ्रमिवद् धृतशरीरः।। इसकी व्याख्या करते हुए तत्त्वकौमुदीकार कहते हैं – जिस प्रकार भूमि में कुछ जल अवशिष्ट रहने पर उसमें पड़े हुए बीज अंकुर उत्पन्न करते है, उसी प्रकार बुद्धि में अविद्या इत्यादि क्लेशों के अवशिष्ट रहने पर ही कर्म फलदायक होते हैं। जैसे प्रचण्ड निदाघ द्वारा समस्त जल के सूख जाने पर ऊसर भूमि में बीज अंकुरित नहीं होते है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान से बुद्धिगत अविद्या इत्यादि सारे क्लेशों के नष्ट होने पर कर्म, फलदायक नहीं होते।[1] साधक प्रारब्ध कर्म के संस्कार से उसी प्रकार शरीर धारण करता है, जैसे कुम्हार के दण्ड चालन व्यापार के रूक जाने पर भी चाक गतिमान होने के कारण कुछ देर तक चलता रहता है। समय आने पर वेग के नष्ट हो जाने पर रूक जाता है । "... यथोपरतेऽपि कुलालव्यापारे चक्रं वेगाख्य संस्कारवशात् भ्रमत तिष्ठति, कालपरिपाकवशात् तूपरते संस्कारे निष्क्रियं भवति।"

---

1. योग सूत्र 2/3 एवं 67 सां0 का0 पर तत्त्वकौ0

विज्ञानभिक्षु के अनुसार मध्य विवेक की अवस्था में स्थित रहने पर ही वह जीवन्मुक्त होता है। जीवन्मुक्तोऽपि मध्यविवेका-वस्थ एव भवतीत्यर्थः।[1] मध्य विवेक का तात्पर्य यह है कि मध्यम प्रयत्न करने वाला अधिकारी। विवेक ज्ञान के प्रति प्रयत्न करने वाले अधिकारी प्रयत्न के आधार पर तीन प्रकार के कहे गए हैं – 1. उत्तम 2. मध्यम 3. अधम। इन तीनों अवस्थाओं में से मध्य-विवेक की अवस्था में स्थित रहने पर ही पुरूष जीवन्मुक्त होता है। जीवन्मुक्त के विषय में प्रमाण – जीवन्मुक्त की अवस्था के विषय में यह प्रमाण है कि शास्त्रों में विवेक के विषय में गुरू-शिष्य-भाव का श्रवण होना। परोक्ष-अर्थों को तत्त्वज्ञानी ही बता सकते हैं। जीवित तत्त्वदर्शी के उपदेश को ही शास्त्र कहा जाता है।[2] 'जीवितानां तत्त्वदर्शिनामुपदेशरूपंशास्त्रं' जीवन्मुक्त के विषय में अन्य श्रुतियां भी प्रमाण हैं – "विमुक्तश्च विमुच्यते"[3] यदा सर्वे प्रमुचन्ते ... अत्र ब्रह्म समश्नुते (बृ0 उ0 4/4/7)।

सांख्यसूत्रकार के अनुसार हैं – 'संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः' विज्ञानभिक्षु सां0 प्र0 भा0 में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं – शरीर-धारण में हेतुभूत जो विषय संस्कार है उनके स्वल्प अवशेष रह जाने से उस शरीर धारण की सिद्धि हो जाती है।[4] श्रुति में कहा गया है – "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये"[5] अर्थात् विवेकज्ञान प्राप्त करने वाले पुरूष को शरीर त्यागने में तभी तक देर रहती है, जब तक वह शरीर के बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता। शरीर-पात के अनन्तर तो वह मुक्ति प्राप्त कर

---

1 सां0 बृ0 भा0 3/78

2. न्या. वा0 (1/1/2)

3 मठा0 (5/1)

4 सां॰सू॰ 3/83 परप्र0 भाष्य

5. छा0 6/14/2

लेता है।" विवेकज्ञान के द्वारा अज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी प्रारब्ध संस्कार बच जाते हैं उन्हीं के सामर्थ्य से वह ज्ञानी पुरूष शरीर धारण किए रहता है – प्रक्षीयमाणाविद्यासंस्कारवशेषश्च संस्कार: तद्वशात् तत्सामर्थ्यात् धृतशरीरस्तिष्ठति।"[1] जीवन्मुक्त पुरूष शुभाशुभ दोनों ही स्थितियों में समान रहता है। योगवासिष्ठकार कहते हैं – जो सम्पूर्ण दृश्यमान चाकचिक्य से परिपूर्ण वस्तुओं से अनासक्त रहता है। जिस पुरूष का मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है और शुद्ध तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है संसार के प्रति उसकी आसक्ति नहीं रह जाती, वही 'जीवन्मुक्त' कहलाता है।[2]

विदेह मुक्ति :

जीवन्मुक्त पुरूष को परम मुक्ति मिलती है या नहीं, इस विषय पर विचार किया जाएगा। सांख्यकारिकाकार कहते है कि जीवन्मुक्त के शरीरपात होने पर भोग एवं अपवर्ग दोनों ही प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने पर प्रकृति निवृत्त हो जाती है पुरूष ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। 'प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिकभुभयं कैवल्यमाप्नोति'।[3] विवेक सिद्धि से वैराग्य का चरमोत्कर्ष 'परवैराग्य' के द्वारा समस्त वृत्तियों का विरोध करने पर समस्त प्रकार के दु:खों की नि:शेष निवृत्ति हो जाती है, तभी पुरूष कृतकृत्य होता है अर्थात् उसे परममुक्ति या 'विदेह मुक्ति' प्राप्त हो जाती है । विज्ञानभिक्षु दोनों अवस्थाओं में अन्तर बताते हुए कहते हैं – जीवन्मुक्त की अवस्था में प्रारब्ध कर्मफल के अतिरिक्त अनागतावस्थ दु:ख अर्थात् भविष्यत् कालिक दु:ख (बीज) का दाह (नाश) होता है और विदेह मुक्ति में चित्त के साथ त्रिविध कर्मो सहित, त्रिविध दु:खों

---

1 सां० का०-67 पर तत्त्वकौ०

2. 3/9/7

3. सां० का०-68

का नाश माना जाता है। विदेह कैवल्ये तु चित्तेन सह विनाश इत्यावान्तर विशेषः।[1] शांकर मत में भी जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति, मुक्ति की ये दोनों अवस्थाएं स्वीकार की गई है। भामतीकार, विवरणकार और वार्तिककार सभी इस मत से सहमत है। शंकर उपर्युक्त द्विविध अवस्था के अतिरिक्त क्रममुक्ति का भी वर्णन करते है।

शांकरमत में मुक्ति की तीन अवस्थाएं

1. **क्रम मुक्ति :**

शंकर क्रममुक्ति को स्वीकार करते है प्रश्नोपनिषद् के एक वाक्य के ऊपर भाष्य करते हुए 'ओम्' के ध्यान के विषय में कहते हैं कि इस प्रकार का ध्यान ब्रह्मलोक की ओर ले जाता है जहां हम क्रम से पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं।[2] एक अन्य स्थान पर वे तर्क करते है कि शरीरधारी ईश्वर की उपासना का उद्देश्य पाप कर्मों से मुक्ति (दुरितक्षय), ऐश्वर्य प्राप्ति अथवा क्रमिक मुक्ति है।[3] वार्तिककार भी इसके समर्थक है। उपासक क्रम से परमात्मा को प्राप्त होते हैं। तद्वक्ष्यामि या गमिष्यामि (वृ0 30 4/2/1) इसमें याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को कहा गया वाक्य ऐसा प्रतीत होता है कि गन्तागति पूर्वक ब्रह्म को प्राप्त होता है किन्तु यह आशंका उचित नहीं है कि गन्तव्य, गन्ता और गति भेद ब्रह्मात्मा में ही पर्यवसित होते है मुक्ति में गति स्वीकार करने पर श्रुति विरोध भी होगा। मुनि द्वारा प्रयुक्त गमिष्यसि का प्रयोग श्रुति में इसलिए है क्योंकि अज्ञानध्वंस होने के पूर्व वह मोक्ष

---

1 पृ0 33 सां0 प्र0 भा0 (4/1)

2. 1/3/13

3 3/2/21 ब्र सू. शां. भा.

अप्राप्त सा होता है। क्रममुक्ति भी गत्यादि से सर्वथा विरहित होती है। श्रुति वर्णित हिरण्यगर्भ प्राणात्मा ब्रह्मलोक में साधक क्रमशः पहुंचता है। तत्त्वावबोध हो जाने पर पुर्नगति को नहीं प्राप्त होता है।

जीवन्मुक्ति :

शंकर ने जो जीवन्मुक्ति का वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मोक्ष के बाद भी जीवन कुम्हार के चाक की तरह कुछ समय तक चलता ही रहता है। देहपात के पूर्व भी देहादि में अभिमान न होना संभव है यही जीवन्मुक्ति है।[1] शंकराचार्य जीवन्मुक्ति के विषय में इस प्रकार विचार व्यक्त करते हैं। "(1) अनारब्धकार्ये एव तु तदवधेः" ब्रह्मसूत्र (4/1/15) इस सूत्र के भाष्य में कहते है कि ज्ञान की प्राप्ति से संचित कर्मराशि का ही क्षय होता है प्रारब्ध कर्मराशि का नहीं। यदि ज्ञान से संचित तथा प्रारब्ध सभी कर्मो का क्षय माना जाए तो शरीर-धारण के हेतु के अभाव में ज्ञान के अनन्तर ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाए। उसके लिए शरीरपात की प्रतीक्षा न करनी पड़े । (2) तत्त्वज्ञान प्राप्ति से आरब्ध तथा अनारब्ध सभी कर्मो का क्षय माना जाए तो स्थितप्रज्ञ का शरीर धारण कैसे हो सकता है? इससे यह ज्ञात होता है कि तत्त्वज्ञान से अनारब्ध कर्मो का ही क्षय होता है आरब्ध कर्मो का नहीं। आरब्ध कर्मो के फलोपभोग के लिए शरीर ज्ञान-प्राप्ति के बाद भी अवस्थित रहता है इस प्रकार शंकर शारीरकभाष्य में स्पष्ट रूप से जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन करते है ।

इस सम्बन्ध में विवरणप्रमेयसंग्रहकार का मत है कि विद्या से अविद्या के नष्ट हो जाने पर भी अविद्या के संस्कार से देह इंद्रियादि का अवस्थान संभव है। जैसे – फूलों की डालियों से फूलों को निकाल देने

---

1. शां. भा. ब्र. सू. (1/1/4)

पर भी, गन्ध के संस्कार से वह डालियां कुछ काल तक सुगन्धित रहती हैं, वैसे ही अविद्या के दूर हो जाने पर भी उसके संस्कार से कुछ काल तक देहेन्द्रियादि अवस्थित रहते हैं।[1] अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती का यह कथन है कि जीवन्मुक्ति की दशा में अविद्या की आवरणशक्ति का तो नाश हो जाता है किन्तु उसकी विक्षेपशक्ति प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होने तक बनी रहती है। अविद्या की यह विक्षेपशक्ति जीव के बन्धन का कारण नहीं है। अविद्या की आवरण शक्ति ही उसके बन्धन का कारण है। जीवन्मुक्ति की दशा में आवरण शक्ति का नाश तथा विक्षेपशक्ति का वर्तमान रहना ही अविद्यालेश की अनुवृत्ति का कारण है।[2] इस सम्बन्ध में विवरणकार प्रकाशात्मा का कथन है कि 'तस्यतावदेव चिरम्' यह छान्दोग्योपनिषद् का वाक्य इस बात को प्रमाणित करता है कि तत्त्वज्ञान के बाद भी देहेन्द्रियादि का अवस्थान रहता है।[3] यह तभी संभव है जबकि यह देहेन्द्रियादि के निमित्तभूत कर्मों की स्थिति मानी जाए। विवरणकार कहते हैं कि प्रारब्ध कर्म वाले पुरूष को शरीरावस्था में ही तत्त्वदर्शन सम्भव है । वार्तिककार एवं भामतीकार भी जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। वार्तिककार ने छान्दोग्योपनिषद् के वाक्य 'तस्य तावदेव चिरम्' को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है।[4] वे कहते हैं कि सर्वविशेषों की कारणभूता अविद्या के अपनीत होने पर मुमुक्षु को जीवनकाल में मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि शरीरपात के अनन्तर ही मोक्ष-प्राप्ति संभव है।[5] भामतीकार का जीवन्मुक्ति के समर्थन में कहना है कि हिरण्यगर्भ, मनु, उद्दालक आदि देवर्षिगण तत्त्वज्ञानी होते हुए भी दीर्घजीवी थे।[6] इससे यह सिद्ध होता है कि प्रारब्ध कर्मों के प्रक्षय

---

1. पृ0 360, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी
2. "भामती एवं विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन", डा0 सत्यदेव शास्त्री, पृ0 135
3. पं0 पा0 वि0 पृ0 786, मद्रास
4. बृ. उ. भा. वा. 1/4/1546
5. वही
6. भामती – नि. सा. प्रे. मुम्बई 1938, पृ0 958

के लिए तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने पर भी फलोपभोग की प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है।[1] सर्वज्ञात्ममुनि के अनुसार/ ब्रह्मज्ञान से निरवशेष रूप से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है अतः विदेहमुक्ति ही सिद्धान्त रूप से मान्य है।[2] सदानन्द जीवन्मुक्त का लक्षण इस प्रकार करते हैं –

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।[3]

गोस्वामी तुलसी दास जी भी कहते हैं –

जड चेतनहि ग्रन्थि परि गई । जदपि मृषा छूटत कठिनई।

विदेहमुक्ति :

जीवन्मुक्त पुरूष केवल शरीरयात्रा के प्रयोजन से इच्छा अनिच्छा और परेच्छा से प्राप्त कराए गए सुख–दुःख रूप प्रारब्ध कर्मो का असंगभाव से अनुभव करता है। प्रारब्ध के क्षीण हो जाने पर प्रत्यगानन्दरूप परब्रह्म में प्राण के लीन हो जाने पर, अज्ञान एवं उसके कार्यों तथा संस्कारों का भी विनाश हो जाता है। तब जीव समस्त भेद प्रतीतियों से रहित परमकैवल्य रूप आनन्दैकरसः और अखण्ड ब्रह्म के रूप में स्थित होता है। जिस समय जीवन्मुक्त शरीरादि उपाधियों का परित्याग करता है उस समय प्राणों से उपलक्षित उसका लिंग शरीर अज्ञानी जीवों के लिंग शरीर के समान उर्ध्वगमन नहीं करता, प्रत्युत अपने कारणभूत ब्रह्म में उसी प्रकार लीन हो जाता है जैसे समुद्र में उठने वाली लहरें समुद्र में विलीन हो जाती है अथवा गर्म लोहे पर गिरि हुई पानी की बूँदें लोहे पर गिर कर शीघ्र ही विलुप्त हो जाती हैं उसी प्रकार

---

1. वही, पृ0 958
2. संक्षेपशारीरक – 4/38
3. 65, वेदान्तसारः

जीवन्मुक्त शरीरपात होने पर आगामी जन्मों के बन्धन से छूटकर विदेह मुक्त हो जाता है। शांकरभाष्य की ये पंक्तियां विदेहमुक्ति पर प्रकाश डालती है – "इहैवाविद्याकृत कामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति। विमुक्तश्च सन् विमुच्यते, पुनः शरीरं न गृह्वातीत्यर्थः।"

प्राचीन इतिहास में मुक्तात्माओं के शरीर धारण करने की अनेक कथाएं मिलती हैं। अपान्तरतमस् नामक आचार्य ने विष्णु की आज्ञा से कलि और द्वापर की संधि में कृष्ण द्वैपायन के रूप में जन्म ग्रहण किया। ब्रह्मा के मानस पुत्र वशिष्ठ ने भी निमि के शापवश पूर्वदेह को त्यागकर ब्रह्मा के आदेश से मित्रावरूण के रूप में जन्म ग्रहण किया था। प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होने पर उन्होंने विदेह कैवल्य या मुक्ति को प्राप्त किया।[1]

मुक्ति के साधन

अनादि अविद्या के कारण राजस् और तामस् रूपी मल से मलिन चित्त आत्मसाक्षात्कार के प्रति अभिमुख नहीं होता। पुराणों एवं वेदों के वाक्यों को सुन कर भी जीव यथार्थतत्त्व की अनुभूति करने में समर्थ नहीं होता क्योंकि उसका चित्त अनादि काल से विषयों का ही चिन्तन करते–करते उसी ओर आकृष्ट रहता है। इस विकट समस्या को दूर करने के लिए वेदों, पुराणों में मोक्ष के साधन के रूप में अनेक उपाय बताये गए हैं। भागवतपुराण में जब देवहूति यह पूछती है कि प्रकृति–पुरूष दोनों ही नित्य हैं, परस्पराश्रित हैं तो पुरूष का प्रकृति से मोक्ष किस प्रकार सम्भव है? इसके उत्तर में भगवान् कहते है कि निष्काम कर्म से, अपने कर्तव्य पालन से, शुद्ध अन्तःकरण

---

1 3/3/32 ब्र. सू. शां. भा.

से बहुत समय तक सुनी हुई कथाओं से पुष्ट हुई और मेरी तीव्र भक्ति से प्रकृति के गुणों का नाश हो जाता है।[1] तत्त्वज्ञान से, योगाभ्यास से और चित्त की तीव्र एकाग्रता से पुरूष की प्रकृति उसी प्रकार संसार से धीरे-धीरे तिरोहित हो जाती है जैसे अग्नि से अरणि भस्म हो जाती है। प्रकृतिः पुरूषस्येह दह्यमानात्वहर्निशम् तिरोभावित्री शनकैरग्नेर्योनिरेवारणिः ।।[2] प्रकृति से उत्पन्न विषयों का परित्याग करने से, वैराग्य से युक्त, ज्ञानयोग से मुझमें समर्पित भक्ति से यह पुरूष इस शरीर में मुझको देखता है।[3] ईश्वर-भक्ति एवं योगाभ्यास की पुराणों में भी प्रशंसा की गई है। इन साधनों का अनुशीलन करने से चित्त एकाग्र होता है। चित्त की एकाग्रता आत्मसाक्षात्कार के लिए अति आवश्यक है। एकाग्र हुए चित्त में ध्यान और समाधि शीघ्र ही लग जाते हैं। एकाग्र चित्त का तात्पर्य है "चित्त का वृत्ति से रहित अर्थात् राजस् एवं राजस्‌वृत्ति से रहित[4] होना या चित्त का निस्तरंग प्रवाहित होना ही चित्त की स्थिति है।[5] "चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः" शंकर आत्मसाक्षात्कार के लिए श्रवणादि के अभ्यास पर जोर देते हुए कहते हैं 'श्रोतव्यो, मन्तव्यः' आदि श्रुति में बार-बार उसका उपदेश है।[6] वे कहते जब तक ब्रह्मसाक्षात्कार रूप अनुभव दृढ़ता को न प्राप्त कर ले, तब तक श्रवणादि साधनों का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए। योग में त्रिविध साधकों के आधार पर वाक्य मुक्ति-साधन के तीन प्रकार बताए गए है - 1. शान्त चित्त वाले सर्वोत्तम अधिकारी के लिए योग का उपदेश समाधिपाद में किया गया है ।

---

1. 3/27/21 भा० पु०
2. 3/27/23 भागवत पु०
3. 3/25/27 भा० पु०
4. राजस् और तामस् वृत्ति की चित्त में न्यूनता
5. योगसूत्र 1/13 पर व्यासभाष्य
6. आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ब्र. सू. शां. भा. 4/1/1

"समाहित चित्तस्य योगारूढ़चित्तस्योत्तमाधिकारिणोऽभ्यासवैराग्यमात्रसाधनेन"[1] अर्थात् समाहित चित्तवाले इस जन्म में केवल अभ्यास और वैराग्य के द्वारा योग को सिद्ध कर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं।

1 **अभ्यास** – शान्त या एकाग्र चित्त ही ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होता है। अतः उस स्थिति के लिए मानसिक प्रयास करना ही अभ्यास है। निरन्तर व दीर्घकालपर्यन्त तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा से किए गए अभ्यास के द्वारा चित्त को कैवल्याभिमुख किया जाता है। योग के शत्रु रूप चित्त के विक्षेप, जो योगी को तत्त्वदर्शन के लाभ से वंचित रखते हैं, उनको दूर करने के लिए अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। विक्षेपों के निवारणार्थ किसी एक तत्त्व में देर तक चित्त को अवलम्बित करने का अभ्यास करना चाहिए। चित्त चंचल होने के कारण जल्दी स्थिर नहीं होता चित्त को स्थिर करने के लिए योग में अनेकों परिकर्म बताए गए है –

1 मैत्री करूणामुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्या पुण्यविषयणां भावनातश्चित्त–प्रसादनम्"[2] अर्थात् सुखी के प्रति मैत्री, दुःखी के प्रति करूणा, पुण्यात्माओं के प्रति प्रेम, पापियों के प्रति उपेक्षा की भावना करनी चाहिए। इससे चित्त प्रसन्न होता है, प्रसन्न चित्त एकाग्र होकर स्थिति पद को प्राप्त होता है ।

2 **प्राणायाम** –(इसका विवरण आगे किया जाएगा) प्राणायाम करने से भी चित्त एकाग्र हो जाता है ।[3]

3. गन्धादि पांचों विषयों का साक्षात्कार करने वाली वृत्तियां भी उत्पन्न होने पर मन की स्थिरता की हेतु बनती हैं। (क) नासिकाग्र

---

1. योग वा0 पृ0 137
2. योग सूत्र समाधिपाद 1/33
3. 1/34 योगसूत्र

भाग में धारणा करने वाले साधक को दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है, जिह्वा के अग्र भाग में, दिव्य रस का, तालु में दिव्य रूप का साक्षत्कार होता है। जिह्वा के मध्य भाग में दिव्य स्पर्श का, जिह्वा की जड में दिव्य शब्द का साक्षत्कार होता है। ये ये प्रवृत्तियां उत्पन्न होकर चित्त को एकाग्र करती हैं और विवेकख्याति का साधन बनती हैं।

4. **ज्योतिष्मती प्रवृत्ति** – हृत्कमल में धारणा करने वाले को जो बुद्धि साक्षात्कार होता है उसमें एकाग्रता जन्य निर्मलता सूर्यचन्द्रादि की कान्ति रूप की होती है। अस्मिता में धारणा करने से चित्त निस्तरंग, महान् समुद्र के सदृश शान्त, अनन्त और अस्मिता रूप ही हो जाता है। ऐसे साधक को सम्यग् ज्ञान प्राप्त होता है। ये दोनों प्रवृत्तियां – क्रमशः विशोका विषयवती (2) विशोका अस्मितामात्र प्रवृत्तियां है।

5 वीतरागचित्त को धारणा का विषय बनाने वाला चित्त स्थिरता का प्राप्त होता है।

6 स्वप्न और सुषुप्ति के ज्ञान को धारणा का विषय बनाने वाला चित्त एकाग्र हो जाता है ।

7 अथवा जो अभीष्ट हो, उसके ध्यान से चित्त स्थिर हो जाता है उसकी निर्मलता स्फटिकमणिके सदृश होती है और परिकर्मित चित की एकाग्रता की सामर्थ्य परमाणु पदार्थों से लेकर परम महत् पदार्थों तक होती है। एकाग्रता की सामार्थ्य से परिपूर्ण चित्त फिर किसी अभ्याससाध्य परिकर्म की अपेक्षा नहीं करता है अभिप्राय

---

1 1/35

यह है कि योगी का परिष्कृत चित्त सूक्ष्मतमतत्त्व 'प्रकृतितत्त्व' में स्थिर हो जाता है। एकाग्र हुआ चित्त प्रकृति–पुरूष के सूक्ष्म भेद को जानने में समर्थ होता है ।

ईश्वर प्रणिधान :

योग में ईश्वर की भी सत्ता स्वीकार की गई है इसलिए ईश्वर की भक्ति विशेष की प्रशंसा की गई है। सांख्य में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। व्यास जी कहते है भक्ति द्वारा प्रसन्न किया गया ईश्वर योगी को संकल्पमात्र से अनुगृहीत करता है। इससे योगी को निम्न लाभ होते हैं – (1) जीवात्मा को स्वरूप दर्शन और विघ्नो का अभाव होता है। (2) कैवल्य की सिद्धि निकटतम हो जाती है। (3) व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्ध भूमिकत्व और अनवस्थितत्व – ये चित्त के विक्षेप है या विघ्न हैं। ये योग के शत्रु हैं।[1] योगसूत्रकार कहते हैं ईश्वर के वाचक "ओम्" शब्द का जप और उसके अर्थ की भावना या ध्यान करना चाहिए। इससे परमेश्वर प्रसन्न होता है । शंकर ने भी ईश्वर भक्ति एवं जप को बहुत महत्त्व दिया है यद्यपि वे ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानने के पक्ष में हैं। वे ईश्वर–भक्ति को मोक्ष का सरलतम उपाय बताते हैं। वेकहते हैं ईश्वर की कृपा बिना ये वैराग्यादि साधनचतुष्ट्य[2] नहीं प्राप्त होते, प्राप्त होने पर ठहरते नहीं, जैसे नारद विश्वामित्र आदि का वैराग्य बीच में व्युत्थित हो गया ।

---

1 1/30 योगसूत्र एवं 1/29

2 वैराग्य, नित्यानित्यवस्तुविवेक, शमादि षट्कसम्पत्ति, मुमुक्षु ये चारों साधन यह सूचित करते हैं कि व्यक्ति वस्तुतः ब्रह्म- विद्या को जानने का इच्छुक है। वेदान्तसारः 8

वेदान्त में भी अभ्यास का बहुत अधिक महत्त्व है। आत्मसाक्षात्कार के लिए वेदान्त में श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि इन चारों को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। इन साधनों की प्राप्ति का आधार अभ्यास है ।

1 **श्रवण** – सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु के प्रतिपादन में तात्पर्य है, इसका छः प्रकार के लिंगों से निश्चय करना श्रवण है। लिंग हैं – उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति[1]। किसी प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का उस प्रकरण के आरम्भ में और अन्त में उपपादन करना क्रमशः उपक्रम और उपसंहार है। वेदान्तसार के कर्ता के अनुसार – "प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः" अर्थात् प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का उस प्रकरण के मध्य में पुनः–पुनः प्रतिपादन करना अभ्यास है। जैसे छान्दोग्यो0 के छठें अध्याय में ही अद्वितीय वस्तु का उस प्रकरण के भीतर 'तत्त्वमसि' इन शब्दों में नौ बार प्रतिपादन किया गया है । प्रकरण प्रतिपाद्य का किसी अन्य प्रमाण के द्वारा विषय न बनाया जाना अपूर्वता है। आत्मज्ञान के लिए किए जाने वाले अनुष्ठान का प्रयोजन जो उस प्रकरण में वर्णित होता है, फल कहलाता है। प्रकरण प्रतिपाद्य विषय की उस प्रकरण में स्थान–स्थान पर प्रशंसा करना अर्थवाद है। प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य को सिद्ध करने के लिए स्थान–स्थान पर वर्णित युक्ति ही उपपत्ति है। जिसका श्रवण किया गया है, उस अद्वितीय वस्तु का वेदान्त के अनुकूल अविरोधी तर्कों के द्वारा निरन्तर चिन्तन करना ही मनन है। श्रवण मनन के द्वारा जब आत्मा के विषय में किसी प्रकार का संशय न रह जाए तो आत्मा में लगाए गए चित्त की एकतानता अर्थात् सदृश वृत्तियों का प्रवाह निदिध्यासन कहलाता है।

---

1 वेदान्तसार, पृ0 60

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत् ।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ।।[1]

वैराग्य :

वैराग्य के द्वारा चित्त को विषय की ओर से हटाया जाता है और विवेक ख्याति रूपी मार्ग की ओर चित्त को ले जाया जाता है। वैराग्य के दो प्रकार होते हैं –

1 लौकिक विषय जैसे – स्त्री, अन्नपान, ऐश्वर्यादि से एवं पारलौकिक विषय स्वर्ग, वैदेह्य और प्रकृतिलयत्व लाभ रूपी विषयों के प्रति निःस्पृह एवं उदासीन होना ही 'अपर वैराग्य' है ।

2. दृष्ट एवं वेदबोधित विषयों के दोषों को देखने के कारण वीतराग साधक विवेकख्याति करने में समर्थ होता है । पुरूष दर्शन के अभ्यास के कारण पुरूष शुद्ध चित्त और विवेकज्ञान से परिपूर्ण या आप्त बुद्धि वाला होकर उस प्रकृष्ट ज्ञान अर्थात् विवेकख्याति ज्ञान का के प्रति भी उदासीन हो जाता है यह 'वैराग्य' ज्ञान की पराकाष्ठा है/ चरमोत्कर्ष है। इसी वैराग्य का नियत परवर्ती विदेह कैवल्य है। शंकर भी वैराग्य को बहुत महत्त्व देते हैं। वे इसको ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए अति आवश्यक बताते हैं। शंकर के अनुसार ब्रह्मज्ञान का अधिकारी वही हो सकता है जो साधन चतुष्ट्य सम्पन्न हो –

1 नित्यानित्यवस्तुविवेक 2. इहामुत्रार्थफलभोगविराग

3 शमादिषट्कसम्पत्ति 4. मुमुक्षुत्व

---

1. पंचदशी – 1/54

इन चारों में से वे वैराग्य को इतना प्रमुख मानते हैं कि वे वैराग्यादि चतुष्ट्यम् से वैराग्य का पूर्व कथन करते हैं।[1] "साधनं प्रभवेत पुसां वैराग्यादि चतुष्ट्यं" वैराग्य का स्वरूप आचार्य इस प्रकार निरूपित करते हैं –

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु ।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम्।।[2]

अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त विषयों में क्रमशः उस प्रकार का वैराग्य होना चाहिए जैसे कैाए की विष्ठा में होता है यही विशुद्ध वैराग्य होता है। वर्णाश्रमादि धर्मों के अनुपालन, तप एवं ईशकृपा से व्यक्ति वैराग्यादि चतुष्टय की प्राप्ति कर लेता है।[4] वेदान्तसार के कर्ता के अनुसार –
'इहामुत्रार्थफलभोगविराग' अर्थात् जिस प्रकार इस लोक में प्राप्त विषयभोग कर्म जन्य होने से अनित्य एवं नाशवान् है उसी प्रकार परलोक में प्राप्त होने वाले अमृत स्वर्गादि विषयभोग भी यागादिकर्म जन्य होने से नित्य नहीं हैं, इसलिए उन भोगों के प्रति वमन किए हुए अन्न के सामन अत्यन्त विरति का होना इहामुत्रार्थफलभोगविराग है। छान्दोग्यो0 में कहा जाता है – "तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते", उपरोक्त साधनों का आश्रय लेकर मध्यम एवं अधम अधिकारी मोक्ष प्राप्ति नहीं कर पाते। योगसूत्रकार ने मध्यम एवं अधम प्रयत्न करने वाले अधिकारियों के लिए सरलतर साधन भी बताएं हैं – मध्यम अधिकारियों के लिए 1. तपस्या 2. स्वाध्याय 3. ईश्वर प्राणधान, ये तीन क्रियायोग बताए गए है।

---

1 अपरोक्षानुभूति

2. 3, श्लोक

3. अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद

4 3 श्लोक अपरोक्षानुभूति

5. 8/1/6

<u>तपस्या</u> :

सुख–दुःख, भूख–प्यास, सर्दी–गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहन करना ही तपस्या है। कर्मक्लेश की वासनाओं से भरी हुई अशुद्धि बिना तपस्या के छिन्न–भिन्न नहीं होती। शंकर भी मुमुक्षु के लिए तपस्या को एक अनिवार्य योग्यता के रूप में परिगणित करते हैं –

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसां हरितोषणात् ।
साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्।।[1]

2 ओंकार आदि पवित्रमन्त्रों का जप या मोक्षपरक शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय है।

3. **ईश्वरप्रणिधान** – इसकी चर्चा पूर्व में भी की जा चुकी है। सभी क्रियाओं को परमगुरू ईश्वर में अर्पित करना या उन कर्मो के फलों के प्रति तटस्थभाव रखना ही ईश्वर प्रणिधान है। तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान ये तीनों क्रियायोग कहलाते है। ये समाधि को पूरा करने वाले होते हैं क्लेशों को हल्का करते हैं। क्लेशों के हल्के हो जाने पर पुनः विषयो से संस्पृष्ट न होने वाली विवेक रूपिणी सूक्ष्म बुद्धि कृतकृत्य होकर अव्यक्त में लीन होने में समर्थ हो जाती है। "समाधि भावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च"[2] शंकर उत्तम प्रकार के अधिकारियों के लिए (जो साधनचतुष्टय सम्पन्न है) विचार पूर्वक मोक्ष प्राप्ति का प्रतिपादन करते है। अद्वैत मत में वस्तुतः ज्ञान ही मुक्ति का साधन हैं। श्रुति इस ज्ञान का मुख्य साधन है क्योंकि ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणों से नहीं हो सकता। विचार ज्ञान के प्रमुख साधन के रूप में विद्वानों में प्रसिद्ध है –

---

1. श्लोक – 3, अपरोक्षानुभूति
2. योगसूत्र 2/2

"नोत्पद्यते बिना ज्ञानं विचारेणऽन्यसाधनैः
यथा पदार्थभानं हि प्रकाशेन बिना क्वचित्।

अर्थात् विचार के अतिरिक्त ज्ञान अन्य साधनों से नहीं उत्पन्न होता, जैसे वस्तु का भान प्रकाश से ही होता है अन्य किसी साधन से नहीं। जो वस्तु यथार्थ पदार्थ होती है उसके भान के लिए प्रकाश के अतिरिक्त अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। शंकर का मत है ध्यान एक मानसिक क्रिया है और आत्मा जो सिद्ध वस्तु है, उसमें किसी क्रिया का उपयोग नहीं है क्योंकि, **मैं अपने को कर्ता**, आचार्य वेदान्तवाक्यों के विचार को आत्मज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण करण मानते हैं।

विचार का स्वरूप

मैं अपने को कर्ता, सुखी, दुःखी मानने वाला कौन हूँ? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? यह जगत् कैसे बना है? इसका कर्ता कौन है? इस संसार का उपादान कारण क्या है?[1] इन सब प्रश्नों पर श्रुतिवाक्य के अनुसार विचार करके तथा श्रुतियों में प्राप्त 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः[2] नेह नानास्ति किंचन' आदि वाक्यों के मन्तव्य का विनिश्चय करने के उपरान्त यह सृष्टि अज्ञानजन्य और मिथ्या ही सिद्ध होती है। कोऽहम्? इस प्रश्न पर विचार करते हुए मैं पंच महाभूतों का समुदाय देह नहीं हूँ, उसी प्रकार इन्द्रियों का समुदाय नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, अपितु इन सबसे विलक्षण हूँ जिसके लिए बृहदारण्यक श्रुति कहती है – "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्"[3] इस प्रकार श्रुति विहित विचारों का गहनता से

---

1. अपरोक्षानुभूति 12
2. (मा० का० 2/23)
3. बृहदा० 3/8/7

मनन, चिन्तन करने से जिज्ञासु आत्मतत्त्व को यथार्थतः जान पाता है। जीव ब्रह्म को जान कर ब्रह्मरूप ही हो जाता है। आत्म ज्ञान की अवस्था में द्वैत नहीं रह जाता। आत्मा के विचार के पश्चात् आत्मतत्त्व विषयक भावना के दृढ़ीकरण के लिए निदिध्यासन करना चाहिए। यह योग के निदिध्यासन से बिल्कुल भिन्न है। शांकर वेदान्त में वेदान्तवाक्यों का श्रवण कर जब साधक अद्वैतब्रह्म एवं उसके तात्पर्य को ठीक से समझ लेता है, तब पुनः द्वैतानुभव को सत्य नहीं मानता। अन्य दार्शनिक विचारों के साथ विरोध होने पर, तर्क द्वारा मनन करके समस्त विपरीत भावनाओं को अपने चित्त से दूर करता है। इस समय चित्तवृत्ति को एकाग्र करने के लिए तथा विषयों में उसकी आसक्ति को रोकने के लिए निदिध्यासन की आवश्यकता होती है। आत्मज्ञान रूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए निदिध्यासन के 15 अंगों का अनुशीलन करना चाहिए। ये 15 अंग है[1] – यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देह की समता, नेत्र स्थिति, प्राणायाम. प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें से यमनियमासनादि अष्टयोगांश का वर्णन मन्दाधिकारियों के योगकार करते है। धारणा, ध्यान, समाधि का अभ्यास तो सबीज समाधि के लिए सभी को करना पड़ता है। निदिध्यासन के अंगों (यमनियमादि अष्टयोगांगों को छोड़ कर) का वर्णन इस प्रकार है। योगउपनिष्ट यमनियमादि के साथ ही शंकराभिमत यमादि का वर्णन किया जाएगा।

1. <u>**त्याग**</u> – सम्पूर्ण प्रपंच वस्तुतः सत् नहीं है। ऐसा विचार करके इस जगत् के प्रति राग–द्वेष दोनों का परित्याग अर्थात् पूर्ण उपेक्षाभाव त्याग है।[2]

---

1. अपरोक्षानुभूति – 103
2. अपरोक्षानुभूति – 106

2. **मौन** – जब त्याग की प्रतिष्ठा के द्वारा मन के प्रपंचविषयक विक्षेप शान्त हो जाते हैं, तो मन की मौन अवस्था हो जाती है क्योंकि मन उस अधिष्ठानब्रह्मरूप में सुस्थिर हो जाता है। ब्रह्म जातिक्रियादि से सर्वथा शून्य है मन–वाणी से परे है। यह 'मौन' योगियों द्वारा समाधि में गम्य है। विवेकी को सर्वदा इस 'मौन' में रहना चाहिए ।

3. **देश** – जिसके आदि, अन्त और मध्य में कोई जन नहीं है, जिससे यह विश्व सर्वदा व्याप्त है अर्थात् ब्रह्म निर्जन कहा गया है। प्रपंच से पूर्णतया असंसृष्ट परम पावन ज्ञान स्वरूप ब्रह्म से पुनीत और कौन 'देश' हो सकता है।[1]

4. **काल** – साधना के लिए काल का बड़ा महत्त्व है। ब्रह्ममुहूर्त्त का काल साधना के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माना गया है परन्तु ब्रह्म तो सर्वोपरि काल है, पुनीततम है। अतः ब्रह्म जिज्ञासुओं को हर क्षण उसका ध्यान करना चाहिए।[2]

5. **मूलबन्ध** – ब्रह्म सम्पूर्ण प्राणियों का मूल या आदि कारण है। उसी में चित्त को बन्धन या स्थिर किया जाता है। अतः वही मूलबन्ध है। साधक को सर्वदा उसका सेवन करना चाहिए। यह वह स्थिति है जब कर्म करते समय भी व्यक्ति का मन ब्रह्म में ही लगा रहता है, अन्य विषयों का चिन्तन नहीं करता ।

6. **समता** – देह के अंग सम ब्रह्म में लीन हो जाएं – इसे देह की समता समझनी चाहिए। निर्दोषं हि सम ब्रह्म[3] अर्थात् मात्र ब्रह्म ही एक तत्त्व है जो सम है। जिसके अंग उस ब्रह्म में लीन रहते हैं, उन्हें अपनी

---

1. अपरोक्षानुभूति – 110
2. अपरोक्षानुभूति – 111
3. गीता 3/19

पृथक् सत्ता का भान नहीं रहता यही निदिध्यासन के अंग देहसाम्य का लक्षण है।

7. **दृक्स्थिति** – वास्तविक दृक् स्थिति वह है जो जगत् को ब्रह्मरूप में देखती है। दृष्टि को ज्ञानमयी करके जगत् को ब्रह्ममय देखें। यही परम उदार दृष्टि है। नासिका के अग्रभाग को देखने वाली दृष्टि नहीं।

8. **अष्ट योगांग** – जो साधक अभ्यास–वैराग्य नामक उपायों से सफल नहीं हो सकते, उनके लिए क्रियायोग का उपदेश दिया गया है। जो साधक इससे भी सफल नहीं होते उनके लिए योग के आठ अंगों का विधान किया गया है। वे मन्दाधिकारी आठों अंगों का पालन करके ही शुद्धसत्त्व वाले होकर अभ्यास और वैराग्य नामक उपायों से योग सिद्ध करने में सफल होते है।

शंकराचार्य योगदर्शन के प्रतिपाद्य अर्थ के एकदेश अर्थात् साधनप्रक्रिया में अपना विरोध नहीं प्रदर्शित करते वे कहते हैं – " अर्थैकदेशसम्प्रतिपत्तावप्यर्थैक देशविप्रतिपत्तेः पूर्वोक्ताया दर्शनात्" अर्थात् सिद्धान्त पक्ष में ही उनका भतभेद दिखाई पड़ता है । अब प्रस्तुत है 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार धारणाध्यानसमाध–योऽष्टावंगानि" अष्ट योगांगो का वर्णन –

1. **यम** – 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः'

ये पांच यम कहे जाते हैं –

1. सब प्रकार से सदैव सब प्राणियों को पीड़ा न पहुंचाना अहिंसा है ।

2. जो पदार्थ जैसा हो उसके प्रति वैसी ही वाणी, वैसा ही मन होना सत्य कहा जाता है।

3. शास्त्राज्ञा के विपरीत दूसरों से द्रव्य का ग्रहण करना स्तेय है। इस प्रकार की इच्छा का अभाव का अस्तेय है ।

4. गुप्तेन्द्रिय अर्थात् जननेन्द्रिय का निग्रह ब्रह्मचर्य है।

5. विषयों की प्राप्ति, रक्षा और तद्विषयक आसक्ति तथा हिंसादि दोषों को देखने के कारण उन विषयों को स्वीकार न करना अपरिग्रह है।[1]

जाति, देश, काल और आचार्यपरम्परा से सीमित न होते हुए ये सार्वभौम (यम) महाव्रत कहे जाते हैं।

1. अहिंसा के प्रतिष्ठित हो जाने पर उस योगी के मन से वैरभाव छूट जाता है ।

2. सत्य के प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी की वाणी अचूक हो जाती है ।

3. अस्तेय के प्रतिष्ठित हो जाने पर सभी दिशाओं में स्थित रत्न इस योगी के पास उपस्थित हो जाते है ।

4. अपरिग्रह के स्थिर हो जाने पर तीनों कालों – भूत, वर्तमान और भविष्य के अपने जन्म विषयक जिज्ञासा होने पर उसकी जानकारी हो जाती है।

5. ब्रह्मचर्य के प्रतिष्ठित हो जाने पर सामर्थ्य लाभ होता है ।

---

1. 2/30, योगसूत्र व्यासभाष्य

आचार्य शंकर ने यम का स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित किया है – 'यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है' ऐसा समझकर इन्द्रियों को नियन्त्रित करना यम कहा गया है। सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की भावना का बारम्बार अभ्यास करना चाहिए।

सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यासनीयो मुहुर्मुहुः।।[1]

2 **नियम** – शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः

1. **शौच** – शौच के दो प्रकार हैं –
   (क) **ब्रह्म शौच** – मिट्टी और जल से होने वाली सफाई।
   (ख) **आन्तरिक शौच** – चित्त के दोषों का दूरीकरण भीतरी शौच है।

2. **सन्तोष** – विद्यमान साधनों से अधिक साधनों का संग्रह न करने की इच्छा ही सन्तोष है।

3. द्वन्द्वो को सहना तप या तपस्या है – भूख, प्यास, सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख आदि ।

4 मोक्षप्रद शास्त्रों का अध्ययन अथवा ओंकार का जप स्वाध्याय है ।

5 परमगुरू ईश्वर के प्रति सभी कर्मों का अर्पण ईश्वर –प्रणिधान है।

---

1. अपरोक्षानुभूति – 104

शौच के स्थिर हो जाने पर शरीर के दोषों को देखने वाला साधक को नश्वरशरीर से विरक्ति हो जाती है। इतना ही नहीं अन्य लोगों के शरीर से भी संसर्ग नहीं करता । आभ्यान्तर शौच की सिद्धि हो जाने पर बुद्धि में शुद्धता मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय और आत्मसाक्षात्कार की योग्यता आती है ।

2 सन्तोष के स्थिर होने से निरतिशय सुख की प्राप्ति होती है।

3. तप से अशुद्धि का नाश हो जाने से अणिमादि शारीरिक सिद्धियां प्राप्त होती हैं और इन्द्रियों की सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

4. देवता, ऋषि और सिद्धगण स्वाध्याय परायण व्यक्ति को दिखाई पड़ते हैं ।

5 ईश्वरप्रणिधान के स्थिर हो जाने पर समाधि की सिद्धि होती है।

वेदान्तमत में नियम की परिभाषा इस प्रकार है – असंगोऽहम्, अविक्रियोऽहम् इत्यादि प्रत्यगभिन्न ब्रह्मविषयक सजातीय प्रत्ययों का प्रवाह और उससे भिन्न जगद्विषयक, विजातीय मानसिक वृत्तियों का निग्रह अर्थात् उन्हें न उभरने देना – यही वेदान्तप्रसिद्धनियम है जो कि परमानन्द रूप ब्रह्म को प्राप्त कराने वाला है ।

आसन

'स्थिरसुखमासनम्'[1] जो शारीरिक स्थिति स्थायी एवं सुखद हो वह आसन है। इस प्रकार पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन इत्यादि।

---

1. 2/46 , योगसूत्र

आसन की सिद्धि के उपाय बताएं गए हैं –

1. शारीरिक क्रियाओं का अभाव होने पर आसन सिद्ध होता है।
2. शेषनाग में समापन्न चित्त आसन को सिद्ध करता है।

अर्थात् दोनों उपाय या दोनों में से किसी एक को करने से आसन सिद्ध होता है। आसन जय से लाभ – शीतोष्णादिं द्वन्द्वो से बाधा नहीं होती। वेदान्तमत में – निदिध्यासन के लिए आसन की बड़ी उपयोगिता है। जिसमें बैठकर सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्मचिन्तन हो सके वही वेदान्तभिमत आसन है। वेदान्त हठयोग की क्रिया नहीं है। इसका मुख्य प्रयोजन मन के ब्रह्म चिन्तन से है, आसन विशेष से नहीं – अतः लेट कर या बैठकर जिस किसी अवस्था में यह चिन्तन सुगमता से बिना किसी विक्षेप के हो सके, मुमुक्षु को उसका ही सेवन करना चाहिए।

सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुख नाशनम् ।।[1]

प्राणायाम

"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः" बाह्यवायु को ग्रहण करना निःश्वास है। उदरस्थ वायु को निकालना प्रश्वास है। इन दोनों की गति को अलग–अलग रोकना अथवा दोनों का एक साथ अभाव प्राणायाम है।

---

1 112, अपरोक्षानुभूति

प्राणायाम के प्रकार

बाह्य प्राणायाम या रेचक – जिस प्राणायाम में श्वास छोड़ना बना रहे केवल सांस लेने का अभाव हो, वह बाह्य प्राणायाम है। इस बाह्य प्राणायाम को स्मृतियों एवं पुराणों में रेचक प्राणायाम कहा गया है।

आन्तरिक प्राणायाम या पूरक – जिस प्राणायाम में सांस छोड़ने का क्रम निरूद्ध कर दिया जाता है किन्तु श्वास ग्रहण करना निरन्तर बना रहता है उसे भीतरी, आन्तरिक या पूरक प्राणायाम कहते हैं।

कुम्भक – वह प्राणायाम जहां पर श्वास, प्रश्वास दोनों की गतियों का अवरोध पहले ही प्रयास में हो जाता है। "तृतीयः स्तम्भवृत्तिः यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति।"[1]

केवल कुम्भक – देश, काल, संख्या के द्वारा परीक्षित बाह्य विषय वाला रेचक प्राणायाम दीर्घ एवं सूक्ष्म होने के कारण त्याग दिया जाता है इसी प्रकार आभ्यन्तर देशवाला प्राणायाम अर्थात् पूरक देश, काल और संख्या से परीक्षित हो चुकने के बाद अतिक्रान्त हो जाता है। दोनों प्रकार से अर्थात् रेचक और पूरक के दीर्घ और सूक्ष्म हो जाने पर वह त्याग दिया जाता है अर्थात् श्वास प्रश्वास का अभाव चौथा प्राणायाम है। तीसरे एवं चौथे प्राणायाम में अन्तर यह है कि सहित कुम्भक बिना किसी पूर्वाभ्यास के प्रारम्भ किया गया प्राणायाम है जबकि केवल कुम्भक में देश काल और संख्या के द्वारा परीक्षित रेचक और पूरक प्राणायाम के दीर्घ एवं सूक्ष्म होने के कारण उसे त्याग दिया जाता है। अतः इसमें अभ्यास अपेक्षित है। सहित कुम्भक के आगे–पीछे रेचक और पूरक की अपेक्षा रहती है किन्तु केवल कुम्भक में इनकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं होती।

---

1. 2/50 योगसूत्र एवं व्यासभाष्य

प्राणायाम की पूर्ण परिपक्वास्था ही चतुर्थ प्रकार है। यह स्तम्भवृत्ति ही है किन्तु तृतीय के समान यह सकृत् प्रयत्न से साध्य नहीं है प्रत्युत बहुत प्रयत्न करने से सिद्ध देश, काल, संख्या परिदृष्टि के उपाय से प्रतिदिन अभ्यास किए जाने पर यह प्राणायाम दीघ एवं सूक्ष्म हो जाता है। इससे विवेक ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म क्षीण हो जाता है। मन में धारणा की योग्यता आती है । प्राणायाम का यह विवेचन पातंजल योगसूत्र तथा व्यासभाष्य के आधार पर किया गया है। शंकर ने अपरोक्षानुभूति नामक ग्रन्थ में प्राणायाम के पूर्वोक्त पारम्परिक स्वरूप की अवहेलना कर उसका अद्वैत सम्मत स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया है – चित्त आदि समस्त जागतिक पदार्थों में ब्रह्मरूपता की भावना करते रहने से जो सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो जाता है। नेति–नेति इत्यादि श्रुतियों के आधार पर समस्त प्रपंच का निषेध करना 'रेचक', नामक प्राणायाम और 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार की जो वृत्ति है वह पूरक' प्राणायाम कहा गया है । उसके अनन्तर अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति की निश्चलता ही 'कुम्भक' प्राणायाम है। मोहनिद्रा से जागे हुए प्रबुद्ध पुरूषों के लिए तो प्राणायाम का यही स्वरूप है, हाँ अज्ञाननिद्रा में सोए हुए लोग नाक दबाने को ही प्राणायाम समझते हैं।

प्रत्याहार

अपने विषयों के साथ अर्थात् इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष न होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप का अनुकरण सा कर लेना प्रत्याहार है। "स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः"[1] चित्त का निरोध होने पर चित्त के समान इन्द्रियां भी निरूद्ध हो जाती हैं, जैसे मधु मक्खियां उड़ते हुए मधुमक्खियों के राजा के पीछे उड़ जाती हैं और बैठते

---

1. 2/54 योगसूत्र

हुए उस मधुमक्खियों के राजा के पीछे बैठ जाती हैं वैसे ही इन्द्रियां भी चित्त का निरोध होने पर निरूद्ध हो जाती है, यही प्रत्याहार है। प्राणायाम के कारण चित्त धारणादि संयम के योग्य अर्थात् अचंचल हो जाता है। इसी समय यदि इन्द्रियां बाह्य विषयों की ओर उन्मुख होना आरम्भ करे तो विषयों की ओर उनकी जोरदार एकाग्रता होगी। इसलिए उस समय इन्द्रियों को विषयों की ओर से तुरन्त हटाकर अन्तर्मुखी करना चाहिए। इन्द्रियों को चित्ताकारानुकारी बनाना ही उनका अन्तर्मुखीकरण है। इससे धारणा निष्पन्न होती है ध्यान और समाधि भी क्रमशः सुसम्पन्न होते हैं । प्रत्याहार से इन्द्रियों की प्रबल वशवर्तिता होती है – "ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणां"। आचार्य जैगीषव्य का मत है कि चित्त की एकाग्रता के कारण (इन्द्रियों के) विषय भोग का अभाव ही इन्द्रियजय है । अपरोक्षानुभूति में जगद्गुरू शंकराचार्य ने प्रत्याहार का स्वरूप योगोक्त प्रत्याहार से बिल्कुल विलक्षण बताया है। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण ब्रह्ममात्र ही है। अतः विषयों को विषयरूप में न देखकर ब्रह्मरूप में ही देखना और कहीं द्वैतदर्शन न होने से अन्त में चित्त का ब्रह्मभाव में डूब जाना, यही प्रत्याहार है।[1] मुमुक्षुओं को इसका सतत् अभ्यास करना चाहिए। प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने पर योगी की इन्द्रियां सर्वथा उसके वश में हो जाती हैं। यम से लेकर प्रत्याहार तक पांच बहिरंग साधन बताए गए हैं। अब अन्तरंग साधनों की चर्चा की जाएगी।

धारणा

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा[2] – चित्त को किसी देश में बाँधना या लगाना धारणा है। चित्त को किसी देश में बाँधने का यह अर्थ है कि चित्त को उस देश के अतिरिक्त अन्य सभी स्थलों से हटाकर उसी देश

---

1. अपरोक्षानुभूति – 121
2. 3/1 योगसूत्र

में (चित्त को) स्थिर करना। शंकर के अनुसार जहां–जहां मन जाए, वहां–वहां ब्रह्म के दर्शन से मन को स्थिर करना – यही उत्तम धारणा है।

ध्यान

तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम्[1] – उस धारणा वाले विषय में अन्य ज्ञानों से अस्पृष्ट, ज्ञान की अविच्छिन्न तथा अभिन्न धारा ही ध्यान है। शंकर के अनुसार धारणा से ब्रह्ममात्र में चित्त को सुस्थिर करने के उपरान्त अहंब्रह्मास्मि इस प्रकार की चित्तवृत्ति की एकतानता सब कुछ भूल कर तन्मयता – ध्यान कही गई है। शांकरवेदान्त में साधक का स्वरूप भूत अद्वय ब्रह्म ही ध्यान का विषय है।[2]

समाधि

ध्यान ही जब ध्येय के स्वभाव का हो जाता है, तो ध्येयाकार से भासित तथा अपने ज्ञानात्मक रूप से रहित जैसा हो जाता है। उस समय उसे समाधि कहा जाता है। समाधि ध्यान के अतिरिक्त कुछ नहीं है । अर्थ मात्र का निर्भासन होने के कारण ज्ञान का अपना रूप 'जानामि' इस प्रकार का भी नहीं अनुभूत होता है इसलिए उस ध्यान को स्वरूपेण शून्यम् इव कहा गया है ।

---

1. 3/2 योगसूत्र
2. 123 योगसूत्र

समाधि के दो प्रकार बताए गए हैं –

1 **सम्प्रज्ञात समाधि** – इस समाधि में योगी को विषय का निर्भ्रान्त वास्तविक एवं युगपद ज्ञान होता रहता है। इस समाधि के सिद्ध हो जाने पर प्रकृति – पुरूष तत्त्व का विवेकज्ञान भी हो जाता है ।

2. **असम्प्रज्ञात समाधि** – ऐसी समाधि जिसमें चित्त की सात्त्विकवृत्ति का भी पूर्ण निरोध हो जाता है। केवल निरोध संस्कार ही चित्त में अवशिष्ट रहते हैं। चित्त के लय होने के साथ–साथ ये संस्कार भी चित्त में लीन हो जाते हैं।

शंकरमत में जब चित्त वृत्ति स्थिर रूप से ब्रह्म को विषय करती रहती है, उसे अपनी वृत्तियों का भी स्मरण नहीं रहता, तो ध्यान की वही सिद्ध अवस्था समाधि बन जाती है। जब व्यक्ति के इच्छा करते ही क्षणमात्र में समाधि लगने लगे तब मन की पूर्ण अवस्था समझनी चाहिए।[1] समाधि का अभ्यास करते समय हठात् बहुत से विघ्न आते है। ब्रह्मानुसंधान में अरूचि, आलस्य, भोगों की लालसा, निद्रा, अज्ञान, विक्षेप आदि इस प्रकार के विघ्नबाहुल्य को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने वाले को धीरे–धीरे त्यागना चाहिए।

शंकर के अनुसार आत्मा के स्वयं प्रकाश होने के कारण इसे प्रकाशित करने के लिए किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं होती। आवश्यकता केवल अज्ञानावरण को दूर करने की है। आवरण को दूर करने में ही साधनों की उपयोगिता है। जैसे मेघ के हटते ही प्रकाशमान सूर्य का दर्शन हो जाता है वैसे ही आवरण के हटते ही आत्मज्योति के दर्शन हो जाते है।

---

1 अपरोक्षानुभूति – 124–125

उपसंहार

सांख्य एवं शांकर अद्वैत के अनुसार जगदुपादान 'प्रकृति' की संधारणा का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात्, दोनों ही दर्शनों की समानता एवं विषमता का विवेचन तथा विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है। सांख्य एवं शांकर अद्वैत दोनों ही दर्शन अत्यन्त प्राचीन हैं। दोनों ही दार्शनिकमत पुरूष अर्थात् जीवात्मा का परमपुरूषार्थ मोक्ष को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। सांख्यशास्त्र का प्रयोजन है – प्रकृति पुरूष विवेकज्ञान जबकि शांकर अद्वैत का प्रमुख प्रतिपाद्य है जीव–ब्रह्म की एकता। दोनों के ही मत में आत्मा कूटस्थ, निर्गुण, निर्विकार, निष्क्रिय एवं असंग है इसलिए यह आत्मतत्त्व जगदुपादान नहीं बन सकता। अतः जगदुपादान के रूप में 'प्रकृति' को दोनों ही मतों में स्वीकार किया गया है। सांख्य की वस्तुवादी प्रवृत्ति के कारण जगदुपादान 'प्रकृति' की वास्तविकता पर बल दिया गया है। प्रकृति–पुरूष दोनों को ही स्वतन्त्र, नित्य एवं तत्त्व कहा गया है। उपनिषद्, महाभारत एवं पुराण में जहां कहीं भी सांख्य का वर्णन होता है वहाँ प्रकृति को कहीं भी तुच्छ या मिथ्या नहीं कहा गया है।[1] प्रकृति, पुरूष के समान ही सत्, अनादि और अनन्त है। शांकरमत में नानाप्रपंच की वास्तविकता का सर्वत्र निषेध किया गया है। इनके मत में नानाप्रपंच का कारण अद्वितीय निर्गुण एवं निष्क्रिय ब्रह्म नहीं हो सकता और न ही स्वतन्त्र प्रधान या प्रकृति। इनके मत में प्रपंच का उपादानकारण ब्रह्माश्रित प्रकृति ही है अथवा ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण बनता है किन्तु वह अपनी शक्ति प्रकृति के माध्यम से। सांख्यदर्शन का शांकरमत से यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है। शांकरमत में प्रकृति की सत्ता विषयक विचार दो दृष्टियों

---

1. 'अजामेकालोहितशुक्लकृष्णां' (श्वेता0 4/5)।
   12/295/2, 12 महाभारत

से किया जाता है – परमार्थिक एवं व्यवहारिक। प्रकृति की सत्ता व्यवहारिक स्तर पर ही सत् है। परमार्थतः एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है – 'सत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्'[1] ब्रह्मज्ञान होने पर द्वैत नहीं रह जाता। द्वैत का मिथ्यात्व ज्ञात हो जाता है। इसलिए इस स्थिति में ब्रह्म के समानान्तर अन्य कोई दूसरी सत्ता मानना श्रुति विरूद्ध होगा। यह प्रकृति न सत् है, न असत्, न सदसत् उभयरूप और न ही इससे भिन्न। प्रकृति को असत् भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसके कार्यों की प्रतीति हमें होती है। इस प्रकार इसकी सत्ता सद्सत् से भिन्न अनिर्वचनीय कही गई है। सांख्यमत में जगत् भ्रम नहीं है वह सत्य है। अतः जगत् का कारण भी उतना ही सत्य है, जितना कि पुरूषतत्त्व। पुरूष और प्रकृति की नित्यता में अन्तर है। पुरूष कूटस्थ नित्य है। इसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। यह निर्गुण, निष्क्रिय, अविनाशी एवं असंग है। प्रकृति परिणामिनित्य है क्योंकि यह परिणमित होने पर भी कभी नष्ट नहीं होती। आचार्य माठर के अनुसार प्रकृति की विशेषताएं इस प्रकार से हैं – अहेतुमान्नित्यो व्यापी निष्क्रिय एकोऽनाश्रितोऽलिंगो निरवयवः इति।[2] प्रकृति की सत्ता विषयक विवेचन इस प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में किया गया है।

दोनों के ही मत में जगत् के उपादानकारण का अन्वेषण सत्कार्यवाद के आधार पर किया गया है।[3] जगत् प्रकृति का वास्तविक विकार ही है। आचार्यशंकर भी कारण–कार्य सम्बन्ध का विस्तार से वर्णन करते हैं।[4] इनके मत में कारण सत् तथा कार्य सत्–असत् से विलक्षण है। इसकी सत्यता केवल व्यवहारिक दृष्टि से है क्योंकि पारमार्थिक स्तर पर कार्य–कारण सबका

---

1. बृह0 2/4/14
2. 15वीं एवं 16वीं सां0 का0
3. असद्करणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
   शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभवाच्च सत् कार्यम्। सां0 का0 – 9
4. 2/1/14 ब्र0 सू0 शां0 भा0

निषेध हो जाता है – कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपंचम् जगत् कारणं परं ब्रह्म, तस्मात्कारणात्परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते अर्थात् कारण से पृथक् कार्य की सत्ता नहीं होती। कार्य, कारण की व्यक्तावस्था है और कारण, कार्य की अव्यक्तावस्था। कारण-कार्य का अनन्यत्व श्रुति प्रतिपादित है – यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि के द्वारा आकाशादि समस्त कार्यों में एक ही कारण ब्रह्म ही अनुस्यूत है ऐसा कहा गया है। विकार अनृत या मिथ्या कहे गए हैं क्योंकि ये परिवर्तनशील हैं। प्रलयावस्था में अपने कारण ब्रह्म में लीन हो जाते हैं और सृष्टि की अवस्था में वे उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उनका, आश्रय या कारण एकमात्र ब्रह्म ही है।[1] शांकरमत में कार्य की सत्यता केवल अज्ञानावस्था तक ही है। जिस प्रकार रज्जुज्ञान से सर्प बाधित हो जाता है और उस समय भयादि भी नहीं रह जाते उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होने पर आकाशादि प्रपंच का बाध जब हो जाता है तब शोक-मोहादि का निवारण हो जाता है। सर्प–रज्जु या शुक्ति–रजत के तुल्य नानाप्रपंच रूप कार्य, ब्रह्म रूप कारण का विवर्त्त है, वास्तविक विकार नहीं है। यथार्थवादी सांख्यमत में जगत् भी सत्य है उसका उपादान कारण प्रकृति भी वास्तविक है। जगत् प्रकृति का वास्तविक परिणाम है, जैसे दुग्ध का परिणाम दधि है।

सांख्य में व्यवहारिक एवं परमार्थिक दोनों ही दृष्टियों से प्रकृति की सत्ता नित्य बनी रहती है। पुरूष द्वारा प्रकृति को अपना रूप समझने के भ्रम का ही निवारण तत्त्वज्ञान से होता है। इस प्रकार सांख्यमत में प्रकृति का विचार दो दृष्टियों से नहीं किया गया है जिस प्रकार शांकर अद्वैतमत में किया गया है। शांकर अद्वैतमत में ब्रह्माश्रित माया या प्रकृति

---

1. 2/1/14 ब्र0 सू0 शां0 भा0

द्विविध विशेषताओं से युक्त है – आवरण और विक्षेप। सांख्य की प्रकृति में इस प्रकार की विशेषता नहीं कही गई है। शांकरमत में मान्य प्रकृति सांख्य की प्रकृति के समान त्रिगुणात्मिका है। इस विषय में कोई विवाद नहीं है। सांख्यदर्शन में सत्त्वादिगुणत्रय द्रव्यरूप से कहे गए हैं – 'सत्त्वादीनि द्रव्याणि न वैशेषिकागुणाः संयोगविभागवत्त्वात्'। शांकरमत में प्रकृति सत् या असत् किसी भी प्रकार निरूपित नहीं की जा सकती है क्योंकि तत्त्वरूप से इसकी प्रतिष्ठा ही नहीं है। ऐसी स्थिति में इसे द्रव्य या धर्मी कैसे कहा जा सकता है? दोनों के ही मत में केवल चेतनतत्त्व या एकाकी जडप्रकृति जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकती। जगत्, जडप्रकृति और चेतनतत्त्व का मिथुनीकरण या सम्मिश्रण करके ही आविर्भूत हुआ है। श्रीमद्भागवतपुराण में कहा गया है – जगत् में छोटे–बड़े, मोटे–पतले जितने भी पदार्थ है वे सब प्रकृति और पुरूष दोनों के संयोग से ही सिद्ध होते हैं।[1] आचार्य शंकर के मत में यह समस्त लौकिक व्यवहार सत्य अर्थात् चेतनतत्त्व और अनृत अर्थात् जड तत्त्व का मिथुनीकरण करके ही संभव होता है – सत्यानृते मिथुनीकृत्य, 'अहमिदं'; ममिदं इति नैसर्गिकोऽयं लोक व्यवहारः[2] यह संयोग या सम्मिश्रण किस प्रकार होता है? इस सम्बन्ध में तृतीय अध्याय में सूक्ष्म विवेचन किया जा चुका है। सांख्यदर्शन में इन दोनों के सम्बन्ध को पंगु–अंधवत् सांकांक्ष्य अथवा योग्यता निमित्तक एवं लौह–चुम्बक के सदृश एक आकर्षण के रूप में परिभाषित किया गया है। सांख्य द्वारा दिए गए दृष्टान्तों को अनुपयुक्त बताते हुए आचार्य शंकर विस्तार से इनका खंडन भी करते है।[3] आचार्य कहते हैं पंगु पुरूष, अन्धे व्यक्ति को वाणी आदि से प्रवृत्त करता है किन्तु प्रकृति–पुरूष दोनों में से किसी के पास इस प्रकार की योग्यता नहीं है।

---

1. अणुः वृहत् कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिध्यति ।
   सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरूषेण च। (11/24/16 भागवतपुराण)
2. अध्यासभाष्य, ब्र0 सू0 शां0 भा0
3. पुरूषाश्मवदिति चेत्तथापि (2/2/7, ब्र0 सू0 पर शां0 भा0)

दोनों की संगति का कोई न कोई उद्‌देश्य होता है किन्तु यहां जड प्रकृति को कोई लक्ष्य नहीं हो सकता और न ही निष्क्रिय एवं निर्गुण पुरूष का कोई उद्‌देश्य हो सकता है। लौह-चुम्बक के दृष्टानत में दोष दिखाते हुए आचार्य कहते है कि प्रधान का पुरूष से संयोग यदि लौह चुम्बक के सदृश एक आकर्षण हो एवं प्रधान की प्रवृत्ति लौहतत्त्व के सदृश स्वतेव मानी जाए तो प्रकृति की प्रवृत्ति सदैव होती रहेगी, क्योंकि प्रकृति–पुरूष नित्य एवं विभु है अतः इनकी सन्निधि भी नित्य होगी। ऐसे तो प्रकृति की पुरूष के प्रति होने वाली प्रवृत्ति भी नित्य होगी? प्रकृति की प्रवृत्ति नित्य होने से उसका मोक्ष किस प्रकार सम्पन्न होगा?[1] आचार्य शंकर कहते है प्रधान अचेतन है और पुरूष उदासीन है। सृष्टि विषयक संयोग बिना किसी परमात्मा या ब्रह्म के संभव नहीं हो सकता। सांख्यवादी प्रकृति की सृष्टि विषयक प्रवृत्ति को स्वतः ही मानते हैं उस विषय में उनके द्वारा दिए गए दृष्टान्तों का वे खण्डन करते हैं। डा0 आद्या प्रसाद मिश्र जी के अनुसार सृष्टि विषयक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में जो कारिकाएं आई हैं उनमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। सृष्टि के उपक्रम में आई कारिकाओं में प्रकृति के दर्शनार्थ एवं पुरूष के मोक्षार्थ सृष्टि कही गई है – पुरूषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य और सृष्टि का उपसंहार करने वाली कारिकाओं में पुरूष के भोग एवं मोक्ष के लिए सृष्टि कही गई है। पुरूष निर्गुण व निष्क्रिय है इसलिए पुरूष का कोई प्रयोजन हो ही नहीं सकता। जड प्रकृति के विषय में तो प्रयोजन का कथन करना सर्वथा अनुपयुक्त ही होगा। दो स्वतन्त्र तत्त्वों का एक दूसरे पर नियन्त्रण या नियमन भी नहीं है। इनसे परे कोई अधिष्ठाता भी नहीं है जिससे अधिष्ठित होकर प्रकृति-पुरूष संयोग एवं प्रकृति की सृष्टि के लिए प्रवृत्ति हो सके। इस विषय में डा0 मिश्र कहते है कि 'एक सर्वथा अचेतन

---

1 नाप्ययस्कान्तवत्संनिधिमात्रेण प्रवर्तयेत्। संनिधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्व–प्रसंगात्। (2/2/7 ब्र0 सू0 शां0 भा0)

2. 2/2/1 – 9 ब्र0 सू0 शां0 भा0

तत्त्व या पदार्थ द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति एवं निर्वाह सिद्धान्ततः अयुक्त एवं अमान्य है और व्यवहार शून्य है।[1] सृष्टि विषयक विरोधाभास का समाधान करते हुए डा0 मिश्र कहते है कि प्रकृति का पुरूष द्वारा स्व से अभिन्न रूप में दर्शन दो नहीं अपितु एक ही घटना है। इस घटना का विचार दो दृष्टियों से किया जाता है।[2] सांख्य सूत्र के भाष्यकार आचार्य विज्ञान भिक्षु सांख्यशास्त्र की दुर्बलता से परिचित थे अतः वे प्रकृति–पुरूष को ईश्वर की शक्ति मान लेते हैं। वे कहते हैं उनमें संयोग ईश्वर की इच्छा से होता है किन्तु वे परम्परा से प्राप्त सांख्य को निरीश्वरवादी ही मानते है।[3] प्रकृति–पुरूष संयोग को स्पष्ट करने के लिए जो भी दृष्टान्त दिए गए हैं उनके विषय में यह कहा जा सकता है कि दृष्टान्त के किसी एक अंश में ही समानता दिखाकर विषय को स्पष्ट किया गया है। दोनों के सम्पूर्ण अंश में समानता होने पर दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक भाव के लिए अवकाश ही नहीं रह जाएगा। वस्तुतः सांख्यशास्त्र में प्रकृति - पुरूष संयोग से तात्पर्य एक वस्तु का दूसरे वस्तु से सम्पर्क मात्र नहीं है[4] क्योंकि दोनों ही तत्त्व नित्य एवं विभु हैं। अतः किसी तीसरे तत्त्व द्वारा इनका संयोगादि मानने की आवश्यकता नहीं है। यह संयोग किसी स्थान या काल में सहस्थिति रूप भी नहीं है। यहाँ संयोग का अर्थ 'परिणामहेतुभूतसंयोग' ही विवक्षित है। यह परिणामहेतु है–अविवेक।[5] प्रकृति–पुरूष के नित्य एवं व्यापक होने पर भी

---

1. सां0 द0 की ऐति0 परम्प0, पृ0 230
2. वही, पृ0 231
3. 2/1/1 विज्ञानामृतभाष्य एवं 'विज्ञानभिक्षु एवं भारतीय दर्शन में उनका स्थान' डा0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव, पृ0 175
4. The Word Samyoga which occurs in these Karikas is not like a mere contact of one object to another. It is like a contact of mind with matter. राधापूखन जी द्वारा कारिका 20–21 पर की गई टिप्पणी; सां0 द0 की ऐति0 परम्प0 में उद्धृत, पृ0 231
5. 1/19 पर सां0 प्र0 भा0

जिस पुरूष में अविवेक विद्यमान है, उसी का प्रकृति के साथ संयोग या संग कहा जाता है। इस संयोग का स्वरूप 'सूक्ष्म' है। इसको भौतिक दृष्टान्तों द्वारा कैसे समझाया जा सकता है? राधापूखन जी ने इस सम्बन्ध को इस प्रकार स्पष्ट किया है मैं गा सकता हूँ, किन्तु हमेशा नहीं गाता। जब मैं गाने के लिए सोचता हूँ, तभी गाता हूँ। यह गाने का मन के साथ संयोग है। विचार हमारे अन्दर है, किन्तु अवसर आने पर ही उन विचारों का पुनःस्मरण किया जाता है, तभी वे उद्भूत होते हैं। जिस प्रकार बुद्धि में अनादिकाल से पड़े हुए मृत एवं निर्जीव विचारों के साथ चेतन का सम्बन्ध होता है, वैसा ही सम्बन्ध जडतत्त्व के साथ पुरूष का होता है। साधक ज्यों–ज्यों प्रकृति-पुरूष विवेक या पार्थक्य को जानता है, त्यों–त्यों इनके संयोग का भी अन्त हो जाता है।[1] संयोग या सम्बन्ध का अन्त होते ही पुरूष को होने वाला कर्तृत्व और भोक्तृत्वादि अभिमान नहीं रह जाता। जड–चेतन की समस्या अद्वैतमत में भी उठती है। सदसत् से भिन्न अनिर्वचनीय प्रकृति या माया का अद्वितीय सत्–चित्-आनन्दस्वरूप अमूर्त, निर्धर्मक एवं अविकारी ब्रह्म से किस प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है? इसका समाधान यह है कि वस्तुवृत्ति से प्रकृति या माया का ब्रह्म से सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि उस स्थिति में एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही सत् रहता है। द्वैत रह ही नहीं जाता। कारण-कार्य सम्बन्ध का विलय हो जाता है। सम्बन्ध का कथन व्यवहारिक दृष्टि से ही किया जाता है व्यवहारिक स्तर पर माया सत् है। आचार्य शंकर माया को ब्रह्म की शक्ति या उपाधि कहते है। शक्ति शक्तिमान् के अधीन रहती है उससे भिन्न नहीं है – 'ईश्वरस्य मायाशक्तिप्रकृति'[2] जिस प्रकार का सम्बन्ध शक्ति एवं शक्तिमान के बीच होता है वैसा ही सम्बन्ध ब्रह्म का उसकी शक्ति से होता है। उपाधि के रूप में भी प्रकृति की सत्ता

---

1. सां0 द0 की ऐति0 परम्प0, पृ0 239 से उद्धृत
2. 1/4/3, 2/1/4, ब्र0 सू0 शां0 भा0
   ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
   देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढाम्। 1/3 श्वेता0

स्वतन्त्र नहीं है। उपाधि वस्तु को उसके वास्तविक रूप से भिन्न रूप में प्रकाशित करने का प्रयोजक है। जिस प्रकार विस्तृत आकाश घट–मठादि उपाधि से उपहित होकर घटाकाश एवं मठाकाश आदि संज्ञा से अभिहित किया जाता है, उसी प्रकार एक अखण्ड एवं व्यापक ब्रह्म देहादि रूप उपाधि के कारण सीमित हो जाता है और जीव कहलाता है। अखण्ड ब्रह्म अपनी माया रूप उपाधि से उपहित होकर ईश्वर संज्ञा को प्राप्त करता है। ईश्वर जगत् का कर्त्ता एवं हर्त्ता आदि बन जाता है। माया या प्रकृति ब्रह्म को क्या अपनी मलिनता से अशुद्ध कर देती है? इसके उत्तर में आचार्य कहते है कि जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिकमणि समीपस्थ जपाकुसुम के संयोग से लाल दिखाई पड़ती है वस्तुतः वह शुद्ध ही रहती है। जपाकुसुम के हटते ही वह अपने शुद्ध रूप में पुनः दिखाई पड़ने लगती है। जपाकुसुम की लालिमा से वह किसी भी प्रकार दूषित नहीं होती उसी प्रकार माया या प्रकृति ब्रह्म के आश्रित रह कर भी ब्रह्म को दूषित नहीं करती।[1] सुरेश्वराचार्य ब्रह्म और माया के सम्बन्ध को आभासात्मक कहते हैं।[2] ब्रह्म और अविद्या के सम्बन्ध को वे इस प्रकार परिभाषित करते हैं – जैसे घृतपिण्ड प्रदीप्त अग्नि का निराकृत रूप से आलिंगन करता है, वैसे ही अविद्या या प्रकृति प्रत्यगात्मा का आलिंगन प्रत्याख्याततत्त्व रूप से ही करती है।[3] अविद्या या प्रकृति आत्मतत्त्व का स्पर्श उसी प्रकार नहीं कर सकती, जैसे आकाश वृष्टि और आतप से कभी संसृष्ट नहीं होता। वर्षा और आतप दोनों ही आकाशाश्रया ही रहते हैं किन्तु आकाश इनसे अप्रभावित ही रहता है।[4]

---

1. 2/3/45, ब्र. सू. शां. भा. ।
2. 1/4/1323, 4/3/95 , वही ।
3. 4/3/1180 , वही ।
4. 1/4/1036 , वही ।

शांकरमत में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, बन्ध और मोक्ष की रचना जीव द्वारा अज्ञानवश कल्पित की गई है।[1] जीव संसारावस्था में ही बुद्धि आदि उपाधि के साथ तादात्म्यभाव को सत्य मानता है। देहादि में ममिदं आदि बुद्धि रखना ही जीव का बुद्धि आदि जड के साथ संयुक्त होना कहा जाता है।[2] शांकरमत में आत्म-अनात्म सम्बन्ध की चर्चा केवल व्यवहारिक स्तर पर ही की जाती है किन्तु सांख्य में द्वैत सत्य होने पर सम्बन्ध के स्वप्नवत् मिथ्या या तुच्छ होने का निषेध किया जाता है और पारमार्थिक स्तर पर इनकी एकात्मता का खण्डन किया जाता है। प्रकृति-पुरूष सम्बन्ध या संयोग प्रतिबिम्ब रूप है। इसकी चर्चा इस प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में की जा चुकी है। सांख्यकारिकाकार के अनुसार जड प्रकृति में सन्निहित पुरूष का प्रतिबिम्ब पड़ता है जिससे वह चेतनवती हो जाती है। चेतनवती हुई प्रकृति से बुद्धि आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है – तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिवलिंगम् गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।[3]

शांकर अद्वैतमत में भी ब्रह्म की शक्ति माया ब्रह्म के सकाश से चैतन्य होती है और उसकी आज्ञा से ही सृष्टि के निमित्त प्रवृत्त होती है –

'चिदानन्दमयब्रह्म प्रतिबिम्बसमन्विता'[4]

'चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा'[5]

---

1 जाग्रदादिविमोक्षन्तः संसारो जीवकर्तृकः। पंचदशी 8/69

2. यावदयमात्मा संसारीभवति यावदस्य सम्यग् दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते, तावदस्य बुद्धया संयोगो न शाम्यति। यावदेव चायं बुद्धयुपाधि-सम्बन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च।

3. सां0 का0 20

4. 1/15, 1/18 पंचदशी

5. 3/40 पंचदशी

अज्ञान या माया जड होने से स्वतन्त्र रूप से जगत् का उपादानकारण नहीं हो सकती। ब्रह्म के चैतन्य से चेतनवती होकर जड प्रकृति सृष्टि की उत्पत्ति करने में समर्थ होती है। आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि शक्ति के बिना निष्क्रिय परमेश्वर सृष्टि के लिए प्रवृत्त नहीं हो सकता।[1] इसलिए माया या प्रकृति को स्वीकार करना पड़ेगा।[2]

सांख्यदर्शन के प्रतिबिम्बवाद पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि दोनों अत्यन्त भिन्न-भिन्न तत्त्व है अतः अचेतन बुद्धि में पुरूष का प्रतिबिम्ब किस प्रकार पड़ सकता है? अथवा जड बुद्धि के लिए यह कैसे संभव है कि वह पुरूष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करे? पुरूष के लिए 'अनुपश्य' का प्रयोग यही सिद्ध करता है कि पुरूष बुद्धि द्वारा दिखाए गए विषय को देखता है। निर्विकार असंग एवं कूटस्थ पुरूष के लिए यह 'अनुपश्यत्व' किस प्रकार संभव है? न उसके पास इन्द्रिय है न शरीर और न मन। पुरूष आकारहीन अथवा अमूर्त है। ऐसे अमूर्त पुरूष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में कैसे पड़ता है?[3]

---

1. अत्रायंभावः न केवलं ब्रह्मैव जगत्कारणं भवतीति। सत्यानृतेमिथुनीकरोतीत्यादिश्रुतेः तत दृष्टान्तः भाण्डस्य घटशरावादेर्मृदिव मृत्पिण्ड इव। अपरोक्षानुभूतिदीपिका – 94

2 1/4/3, ब्र. सू. शां. भा.

3. (A) How is it possible for the budhi to catch a glimpse of the pursua, which illuminates all its concepts into consciousness, which justifies the expression anupasya?

(B) How can the purusa which is altogether formless allow any reflection of itself to imitate the form of budhi by virtue of which it appears as the self, the Supreme. Possessor and Knower of all our mental conception. A study of Patanjali, p. 19.

इस प्रतिबिम्ब की संभावना के लिए कम से कम कुछ समानताएं होनी चाहिए जिससे बुद्धि और पुरूष के बीच होने वाले प्रतीतिक प्रतिबिम्ब (Seeming reflection) को न्यायोचित ठहराया जा सके। इस समस्या का समाधान योगसूत्र के विभूतिपाद के अन्तिम सूत्र में मिलता है – 'सत्त्वपुरूषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यं' यह सूत्र स्पष्ट करता है कि विवेक ज्ञान प्राप्त कर चुके केवली की बुद्धि इतनी शुद्ध हो जाती है जितना कि पुरूष होता है। शुद्धता से तात्पर्य है – रजस् और तमस् गुण अभिभूत हो जाते हैं और सत्त्वगुणाधिक्य के कारण बुद्धिसत्त्व पुरूष की सी शुद्धता प्राप्त कर लेता है – तदा पुरूषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति'[1] अर्थात् सत्त्वगुणाधिक्य के कारण बुद्धि में दर्पण के समान प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की क्षमता आ जाती है। अभिप्राय यह है कि बुद्धि में सत्त्वगुण की अधिकता होने से दर्पण के सदृश किसी वस्तु को प्रतिबिम्बत करने की क्षमता होती है। चित्त के एकाग्र हो जाने पर केवली की बुद्धि सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध हो जाती है। इसमें वस्तु को यथावत् ग्रहण अथवा प्रतिबिम्बत करने की क्षमता आ जाती है। अमूर्तपुरूष का प्रतिबिम्ब प्रकृति में किस प्रकार पड़ सकता है ? इसका उत्तर यह है कि चेतनतत्त्व अपनी सन्निधिमात्र से उस जडतत्त्व को क्रियाशील बना देता है। वस्तुतः चेतना उसमें संक्रान्त सी हो जाती है, प्रतिबिम्बित नहीं होती – बुद्धिदर्पणे पुरूषप्रतिबिम्बसङ्क्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः। यथा च दृशिच्छायाऽऽपन्नया बुद्धया संसृष्टा शब्दादयो विषया भवन्ति दृश्या इत्यर्थः।[2] इसको एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। जैसे अचेतन तार में जब विद्युतधारा संक्रान्त सी हो जाती है तो उस विद्युतधारा युक्त तार से बिजली, पंखा एवं टी.वी. आदि उपकरण चलाए जा सकते है। सभी धातुओं में विद्युतधारा एक सी नहीं प्रवाहित होती। चाँदी, लोहे और ताँबे में

---

1 3/55, योगसूत्र पर व्यासभाष्य

2. तत्त्ववैशारदी, उद्धृत पातंजलयोगदर्शनम्, पृ0 32

विद्युतधारा बड़ी तेजी प्रवाहित होती है। इसी प्रकार प्रकृति के विकारों में से बुद्धिसत्त्व में ही पुरूष प्रतिबिम्ब पड़ता है। बुद्धि जब पुरूष की सी शुद्धता प्राप्त कर लेती है क्या तब भी प्रकृति पुरूष की भिन्नता बनी रहती है? इसका उत्तर है – हाँ, तात्त्विक रूप से प्रकृति पुरूष से भिन्न ही रहती है क्योंकि बुद्धि धीरे–धीरे अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाती है और उस पुरूष के लिए पुनः प्रकट नहीं होती। पुरूष बुद्धि के सम्पर्क से रहित स्वरूप में स्थित हो जाता है।[1] इस प्रकार प्रतिबिम्बवाद का ठीक–ठीक वर्णन करना वास्तव में कठिन एवं रहस्य से पूर्ण है – 'The exact nature of this reflection is indeed very hard to comprehend; no Physical illustrations can really serve to make it clear.'[2]

क्या एक ही पुरूष का प्रतिबिम्ब विभिन्न बुद्धितत्त्वों में पड़ता है? सांख्यशास्त्र में यह मान्य नहीं है। सांख्यमत में पुरूष नानात्व सत्य है। आत्मा एक नहीं, प्रति शरीर भिन्न–भिन्न है – जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च। पुरूषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।।[3] एक पुरूष का अविवेक नष्ट होने से सभी मुक्त नहीं हो जाते, एक पुरूष के इन्द्रियदोष से अन्य पुरूष प्रभावित नहीं होते और अन्य पुरूषों के जन्म लेने से सभी पुरूषों का एक साथ जन्म नहीं हो जाता। इन सभी तर्कों से यह प्रमाणित होता है कि पुरूष या आत्मा एक नहीं है। इनके मत में बुद्धि भी उतनी ही सत्य है जितना कि पुरूष। पुरूष और उसको बुद्धि द्वारा जो भी ज्ञान होता है वह मिथ्या नहीं है वस्तुतः सत् है। यह अवश्य है

---

1. 'A Study of Patanjali', Dr. S.N. Das Gupta कृत, पृ0 19
2. वहीं, पृ0 15
3. सां0 कस0 – 18

है कि पुरूष को जो ज्ञान होता है वह गलत है। यहां पर एक प्रश्न उठाया जाता है कि संख्या एक अदभुत मस्तिष्क की उपज है। तब यह पुरूषों के विषय में कैसे प्रयुक्त हो सकती है, जो कि बहुत सारे हैं? डा0 दास इसके उत्तर में अपने विचार प्रस्तुत करते हैं – 'तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में जब हम गहराई से प्रवेश करते हैं और सत्यता को प्रस्तुत करने के लिए अपने विलक्षण विचारों को संकेत रूप में रखने की कोशिश करते हैं तो निश्चित रूप से पूर्णतः न्याय नहीं कर पाते। अमूर्त एवं ध्यान की सीमा से परे अव्याख्येय विचारों को प्रकट करने के लिए यह सब वैध है।[1] यदि सांख्य में यह कहा जाए एक आत्मतत्त्व का प्रतिबिम्ब विभिन्न बुद्धियों में पड़ता है तो यह विचार प्रति पुरूष की सत्यता को नहीं सिद्ध कर सकेगा।

शांकरमत में अद्वितीय आत्मतत्त्व के अतिरिक्त सब कुछ तुच्छ या मिथ्या है। अहंशब्देन विख्यात एक एव स्थितः परः। स्थूलस्त्वनेकतां प्राप्तः स्याद्देहकः पुमान्।[1] एक ही आत्मतत्त्व का प्रतिबिम्ब अनेक बुद्धितत्त्वों में पड़ रहा है। स्थूलशरीर एवं सूक्ष्म शरीर अनेक हैं किन्तु आत्मतत्त्व एक है। जिस प्रकार एक सूर्य विभिन्न पात्रों में प्रतिबिम्बत होता हुआ अनेक प्रतीत होता है। पात्रों में स्थित जल के हिलने से हिलता है, गंदा होने से गन्दा दिखाई पड़ता है किन्तु आकाशस्थ सूर्य में किसी प्रकार से विकार नहीं आने पाता, उसी प्रकार बुद्धि आदि प्रतिशरीर भिन्न–भिन्न हैं उनमें एक ही चेतनात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। बुद्धि आदि की शुद्धता एवं अशुद्धता से जीवात्मा भी बुद्धि आदि में प्रतिबिम्बत चेतनात्मा अर्थात् जीव भी अज्ञ एवं अशुद्ध हो जाता है। वस्तुतः तो न जीव है न जगत् और न शरीरादि सत् है। ये

---

1 'A Study of Patanjali', p. 27.

2. अपरोक्षानु0 – 31

सब अविद्या द्वारा उसी एक आत्मतत्त्व में कल्पित हैं;[1] जिस प्रकार रज्जु के अज्ञान से क्षणमात्र में सर्प की उद्भावना हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्म के अज्ञान से ब्रह्म विश्व रूप में प्रतीत होने लगता है –

रज्ज्वाज्ञानात् क्षणेनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी।
भाति तद्वच्चितिः साक्षाद्विश्वाकारेण केवला।[2]

गीता में भी कहा गया है परमार्थतः कर्त्ता, कर्म, करण कुछ भी सत्य नहीं है – 'न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः[3] इसके आगे श्लोक में कहा गया है कि अज्ञान के कारण कर्ता, कर्म और कार्य सब कुछ संभव है। इसका कारण है अज्ञान से ज्ञान आवृत्त है, इसी कारण जीव मोहित हो रहे हैं।[4] आचार्य गीता की इसी पंक्ति को उद्धृत करते हुए व्यवहार अवस्था में कर्तृत्वादि को उचित बताते हैं किन्तु परमार्थ अवस्था में कर्तृत्वादि समस्त व्यवहार का अभाव दिखाते हैं।[5] इस प्रकार आचार्य ने जीव और परमात्मा के पारमार्थिक अभेद एवं औपाधिक भेद को सिद्ध करने के लिए अपने भाष्य ग्रन्थों में जलसूर्यकादि दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। प्रतिबिम्बवाद के विरूद्ध यह आक्षेप लगाया जाता है कि अमूर्त एवं निराकार ब्रह्म का देहादि उपाधि में प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है? इसका उत्तर देते हुए विवरणकार कहते हैं कि जैसे अमूर्त आकाश का जल में प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, वैसे ही अमूर्त ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब सम्भव है।[6] प्रतिबिम्बवाद के सम्बन्ध

---

1. सूर्यप्रतिबिम्बकम्पमानेऽपि न तद्वान्सूर्यः कम्पते, एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्धयाद्युपहिते जीवाख्येऽंशे दुःखायमानेऽपि तद्वानीश्वरो दुःखायते।
2. उपरोक्षानुभूति – 44
3. गीता – 5/14
4. गीता – 5/15
5. 2/1/14 ब्र. सू. शां. भा.
6. अमूर्तरूप चाकाशस्य साभ्रनक्षत्रस्य जले प्रतिबिम्बवत् अमूर्तस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बसंभवात्। पं० पा० वि०, पृ० 289 मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियन्टल सीरीज, 1958

में उठी शंका का समाधान करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि दृष्टान्त का प्रयोजन विषय को स्पष्ट करना है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में विवक्षितांश को छोड़ कर पूर्णसारूप्य दिखा सकना सम्भव नहीं है। दोनों में पूर्णसारूप्य हो जाए तो इनके दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिकभाव का ही उच्छेद हो जाएगा।[1] आचार्य ने घटाकाशादि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों का भी प्रयोग जीव ब्रह्म के अभेद को प्रदर्शित करने के लिए किया है। वस्तुतः जिस प्रकार आत्मा के अमूर्त होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है उसी प्रकार आत्मा का अवच्छेद भी संभव नहीं है। प्रतिबिम्ब के समान [illegible] ही अमूर्त-पदार्थ का अवच्छेद भी सम्भव नहीं है। आचार्य इन दृष्टान्तों के द्वारा आत्मा की असंगता का प्रतिपादन करते हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने आचार्य शंकर के इन्हीं दृष्टान्तों के आधार पर अवच्छेदवाद का प्रवर्तन किया है। इनके मत में अविद्यावच्छिन्न चैतन्य जीव है तथा अविद्याविषयीभूत चैतन्य ईश्वर है। वे कहते हैं अविद्या अपने प्रपंचविभ्रम रूप कार्य के लिए परमेश्वर का ही निमित्तरूप से अथवा उपादान रूप से ग्रहण करती है।[2] कहीं-कहीं आचार्य शंकर ने अपने भाष्य ग्रन्थों में जीव को परमात्मा का आभास कहा है। इस प्रकार उन्होंने प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद एवं आभासवाद के आधार पर जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं जीव जलसूर्यकादिवत् परमात्मा का आभास है – 'आभास एष चैव जीवः परमात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः'[3] एवं जीवो हि नाम देवताया आभासमात्रम्[4] आचार्य शंकर की इन्हीं पंक्तियों के आधार पर सुरेश्वराचार्य ने आभासवाद का प्रवर्त्तन किया। इन्होंने अविद्या में चैतन्य के आभास को ईश्वर तथा बुद्धि में चैतन्य के आभास को जीव

---

1. 'युक्त एव त्वयं दृष्टान्तो विवक्षितांशसंभवात्' ब्र. सू. शां. भा. 3/2/20
2. भामती, पृ0 378, नि. स. प्रेस 1938
3. ब्र. सू. शां. भा. 2/3/50
4. छा. शां. भा. 6/3/2

माना है। इस प्रकार ईश्वर और जीव दोनों मिथ्या हैं।[1] शांकरमत में एक ब्रह्म देहादि उपाधि के कारण अनेकत्व को प्राप्त होता है। आचार्य शंकर अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त प्रकृति या माया को शक्ति के रूप में स्वीकार करते है। यह शक्ति जड है चेतन से प्रकाशित होकर ही अपने सृष्टि कार्य में प्रवृत्त होती है – 'न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिर्दृश्यते न तस्य सेति। भवतु तस्यैव सा। सा तु चेतनाद्भवतीति ब्रूमः'[2] आचार्य शंकर के मत में भी शायद चेतना जडतत्त्व में संक्रान्त सी हो जाती हो जैसे अग्नि की सन्निधि से समीपस्थ वस्तु उष्ण हो जाती है। आभासवाद के वर्णन से मुझे यही संभावना प्रतीत होती है कि जड प्रकृति में चेतना प्रतिबिम्बित नहीं हो सकती है। बुद्धयादि उपाधि में चेतन के प्रतिबिम्ब को दोनों ही दर्शनों में विभिन्न दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है किन्तु अमूर्त पुरूष अथवा जीव का अमूर्त प्रकृति या माया से सम्बन्ध रहस्यपूर्ण ही प्रतीत होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि जड–चेतन दोनो ही अमूर्त हैं। दोनों ही दर्शनों में जडतत्त्व का वैसा स्वरूप नहीं वर्णित है जैसा कि भौतिक जगत् में दिखाई पड़ता है। डा0 राधाकृष्णन के अनुसार – सांख्यप्रतिपादित प्रकृति की तुलना हम विशुद्ध एवं सरल भौतिक द्रव्य से नहीं कर सकते।' आगे वे कहते हैं कि 'सांख्य की प्रकृति कोई भौतिक द्रव्य नहीं है और न ही वह चेतना सम्पन्न कोई सत्ता है।[3] इसका कारण बताते हुए डा0 राधाकृष्णन कहते है कि कोई भी भौतिक पदार्थ अपनी अन्तर्निहित शक्ति के कुछ भाग का व्यय करके, तब किसी कार्य को उत्पन्न करती है किन्तु प्रकृति रूप द्रव्य में कार्य को निरन्तर उत्पन्न करने के बाद भी कोई न्यूनता नहीं आने पाती। सांख्यकारिकाकार के अनुसार प्रकृति-पुरूष दोनों ही इतने सूक्ष्म है कि उनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता – सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः। महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं

---

1. बृ. उ. भा. वा. 2/4/427, 425, 436
2. 2/2/2 ब्र. सू. शां. भा.
3. भारतीय दर्शन – 2, पृ0 227

विरूपं च।[1] क्या प्रकृति सूक्ष्म और अमूर्त होने के कारण चेतनात्मा के समान कहीं भी प्रवेश एवं निःसरण कर सकती है? यदि हॉ, तो जड और चेतन में अन्तर ही क्या रह जाएगा? शांकर अद्वैतमत में भी प्रकृति को भौतिक नहीं कहा जा सकता है। प्रकृति ब्रह्म की शक्ति है और शक्ति का कोई भौतिक स्वरूप तो हो नहीं सकता। ब्रह्म की शक्ति माया ब्रह्म में ही आश्रित होकर ही रहती है, उससे पृथक् नहीं।

द्वैतवादी सांख्यदर्शन में एक प्रश्न प्रकृति की सूक्ष्मता के विषय में उपस्थित होता है – जड जगत् का कारण प्रकृति, प्रलयावस्था में सूक्ष्मरूप या कारणावस्था में रहती है तो कितनी सूक्ष्म? क्या पुरूषवत् सूक्ष्म? स्पष्ट है कि प्रकृति की सूक्ष्मता पुरूषवत् नहीं मानी जा सकती क्योंकि दोनों ही तत्त्व भिन्न-भिन्न कहे गए हैं। महतत्त्व की सूच्मता अव्यक्त अर्थात् प्रकृति से बढ़कर नहीं है। प्रकृति कारण है, महतत्त्व कार्य है किन्तु पुरूष, प्रकृति का न कार्य है, न कारण। पुरूष की सूक्ष्मता प्रकृति से बढ़कर है या नहीं, यह विषय अस्पष्ट ही है।[2] यदि श्रुति पुरूष को सूक्ष्मतम कहती है तो किस आधार पर क्या प्रकृति, पुरूष का कार्य है? या दोनों में कोई सम्बन्ध है? सांख्यदर्शन में यह विषय स्पष्ट नहीं है। यह द्वैतवाद की पराकाष्ठा है। इनका तर्क इससे आगे शायद नहीं जाता। श्रुति कहती है –

> महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरूषः परः।
> पुरूषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।[3]

स्पष्ट है कि श्रुति पुरूष की सूक्ष्मता को प्रकृति से बढ़कर कहती है।

---

1 सां० का० –

2. न चालिंगात्परं सूक्ष्ममस्ति। योगसूत्र (1/45) पर व्यासभाष्य।

3. कठो० 1/3/11 पर शां. भा.

सांख्यदर्शन में आत्मभेद को सत्य माना गया है शांकर अद्वैतमत में जीव नानात्व को मिथ्या कहा गया है और एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार की गई है। सांख्य का शांकर अद्वैत से यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है। आचार्य शंकर आत्मभेद की कल्पना को वेद विरूद्ध[1] कहते हुए इसका खण्डन करते हैं। आत्म स्वरूप विषयक अनेक समानताओं के होने पर भी दोनों मतों में कुछ विषमताएं भी है – जैसे आचार्य शंकर आत्मतत्त्व को अद्वितीय सत्–चित्–आनन्दस्वरूप, निराकार, निर्गुण, निष्क्रिय, असंग, कूटस्थ, नित्य, अपरिणामी एवं विभु कहते है। सांख्यमत में भी आत्मा को विभु, नित्य, निर्गुण, चेतन, निष्क्रिय, निर्विकार एवं कूटस्थ कहा गया है किन्तु इस दर्शन में आत्मा के एकत्व को नहीं माना गया है। इसी प्रकार आत्मा के आनन्द स्वरूप न होने का भी खण्डन किया गया है। इस विषय में पंचम अध्याय के अन्तर्गत विवेचन किया जा चुका है। सम्प्रति आत्मभेद की कल्पना से उत्पन्न हुई असंगतियों की चर्चा की जा रही है। पुरूषों के विषय में यह मान्यता तो है नहीं कि जहां एक पुरूष होगा वहां दूसरे पुरूष की अनुपस्थिति होगी। यदि पुरूषों के विषय में यह कहा जाता है कि जहां एक पुरूष स्थित है वहां दूसरे पुरूष की उपस्थिति नहीं हो सकती है, तो पुरूष की विभुता का कथन नहीं किया जा सकेगा। यदि सभी आत्माएं बिना एक दूसरे को प्रभावित किए एक स्थन पर रह सकती हैं तो एक आत्मा का दूसरे आत्मा से भेद किस प्रकार किया जा सकता है? क्योंकि ये आत्मतत्त्व सूक्ष्म, अमूर्त, असंग, कूटस्थ एवं सब प्रकार के भेदों से रहित हैं। शरीरादि से अवच्छिन्न आत्मा का भेद संभव है ऐसा कहा जाए तो आत्म बहुत्व के प्रसंग में यह शंका उठती है – शरीरादि से अवच्छिन्न आत्मतत्त्व व्यापक

---

1. 'अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तन्त्रं वेद विरूद्धं वेदानुसारिमनुवचनविरूद्धं च' 2/1/1 ब्र. सू. शां. भा.

होने से शरीर के बाहर भी व्याप्त होगा। उस पुरूषतत्त्व का अन्य शरीरों से भी उसी प्रकार का सम्बन्ध होगा जैसा अपने शरीर से है। अन्य शरीरो के सुख–दुःख का अनुभव भी उसे होगा क्योंकि वह अनादि अविद्या से ग्रसित जीव है।[1] ऐसे में कर्मसंकर एवं फलसंकर की समस्या भी उत्पन्न होगी। आत्मभेद की कल्पना से मुक्त पुरूषों की स्थिति के विषय में यह प्रश्न उठता है कि मुक्त पुरूष शरीर त्यागने के पश्चात् अलग–अलग कहाँ रहते हैं? यदि ये अलग–अलग नहीं रहते तो क्या एकात्मभाव से रहते हैं? स्पष्ट है कि एकात्मभाव की कल्पना सांख्यमत में मान्य नहीं है। इसलिए मुक्तावस्था में स्थित एक आत्मतत्त्व का दूसरे आत्मतत्त्व से भेद सूचित करने वाला कोई व्यावर्त्तक मानना चाहिए। तभी यह सिद्धान्त दोष मुक्त हो सकता है। सांख्य की आत्मभेद विषयक कल्पना की निन्दा करते हुए महाभारतकार कहते हैं – जो अनेकदर्शी होते हैं वे पूर्णदर्शी नहीं हो सकते। मुक्ति परमपुरूष को जानने पर ही मिलती है।[2]

शांकर अद्वैतमत में जीवनानात्व सत्य नहीं है क्योंकि एकमात्र ब्रह्म ही सत् है। अज्ञान या अविद्या वश आत्मा का देहादि से जो तादात्म्यभाव है, तत्त्व ज्ञान होने पर उसकी निवृत्ति हो जाती है – उपाधि तन्त्रो हि जीव इत्युक्तम्। जीवभाव की निवृत्ति होने पर जीव ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। जैसे घटमठादि उपाधि के टूटने पर घटाकाश, मठाकाश विस्तृत आकाश में लीन हो जाता है। कोई भी भेद नहीं रह जाता इसी प्रकार देहादि उपाधि से तादात्म्यभाव का त्याग कर देने पर जीव परमात्मभाव को प्राप्त हो जाता है।[3]

---

1. येषां तु बहवः आत्मनस्ते च सर्वे सर्वगतास्तेषां एवैष व्यतिकरः प्राप्नोति। 2/3/50 ब्र. सू. शां. भा. । २- १२/२९४/४७ महाभारत ।

2 2/3248, 49

दोनों ही दर्शनों में आत्मा का 'कर्तृत्व' वास्तविक नहीं स्वीकार किया गया है। सांख्यकारिकाकार कहते हैं – गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।[1] सांख्य सूत्रकर के अनुसार – अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्[2] आचार्य शंकर भी इसी प्रकार का विचार अभिव्यक्त करते है – तस्मादुपाधिर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्वं न स्वभाविकं।[3] महाभारत एवं गीता में भी आत्मा के अकर्तृत्व को ही बताया गया है – 'प्रकृतिः कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकं' एवं शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते। दोनों के ही मत में 'कर्तृत्व' शरीरादि उपाधि के साथ आत्मतत्त्व का तादात्म्याभाव स्थापित करने के कारण ही प्रतीत होता है। कर्तृत्व स्वभाविक नहीं है। यदि स्वभाविक कर्तृत्व होता तो आत्मा की कर्म से निवृत्ति असंभव हो जाती और उसका मोक्ष भी संभव नहीं होता – 'तस्मात्कर्तृस्वभावस्य दुर्लभा मुक्तिरात्मनः'[4]

सांख्यशास्त्र में पुरूष के कर्तृत्व का तो निषेध किया गयाहै किन्तु उसके भोक्तृत्व को माना गया है। पुरूष की सिद्धि ही उसके 'भोक्तृभाव' के आधार पर की गई है – 'पुरूषोऽस्ति भोक्तृभावात्'[5] सांख्यदर्शन में यह तर्क दिया जाता है कि पुरूष और प्रकृति दो तत्त्वों में से प्रकृति जड एवं भोग्य है। इसकी भोग्यता बिना किसी चेतनकर्ता के सार्थक नहीं हो सकती।[6] इसलिए चेतन पुरूष को इसका भोक्ता माना गया है।

---

1 सां० का० – 20

2. सां० सू० – 1/105

3. 2/3/40 ब्र. सू. शां. भा.

4. बृ. भा. वा. सा. (श्लोक 41, भाग 1)

5. सां. का. – 17 उत्तरार्द्ध की पंक्ति

6. तदनेन भोग्यता प्रधानस्य दर्शिता। ततश्च भोग्यं भोक्तारमन्तरेण न सम्भवतीति। सां. का. 21 पर तत्त्वकौमुदी.

आचार्य शंकर जीव के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व दोनों को ही अवास्तविक कहते है। इस विषय में श्रुति प्रमाण है – 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:'[1] आचार्य कहते हैं अविद्यावस्था में ही द्वैतभाव संभव है। श्रुति ज्ञानावस्था में भोक्तृत्व और कर्तृत्वादि समस्त व्यवहार का निवारण करती है क्योंकि उस अवस्था में सब कुछ आत्मा ही हो जाता है – 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्।'[2]

निर्गुण एवं निष्क्रिय पुरूष कर्त्ता एवं भोक्ता किस प्रकार बन जाता है; इस विषय पर तृतीय अध्याय में चर्चा की गई है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि प्रकृति से तादात्म्यभाव स्थापित किए हुए पुरूष को ही प्रकृति कृत कार्य अपने प्रतीत होते हैं। जैसे निर्मल जल में चन्द्र अथवा तटवर्ती वृक्षादिकों के प्रतिबिम्बित होने पर भी उस जल के अपने निजी स्वरूप में कोई विकार नहीं आने पाता, वैसे ही बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित पुरुष सुख–दु:खादि का अनुभव करते हुए भी शुद्ध एवं असंग ही रहता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार अविकार, कूटस्थ एवं निर्गुण पुरूष प्रकृतिकृत कार्यों का भोग या उन्हें आत्मसात् नहीं कर सकता। चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्बादान ही पुरूष का भोग है। इस प्रकार पुरूष भोक्ता होते हुए भी असंग ही रहता है।[3] आचार्य शंकर के अनुसार जीवात्मा देहादि संघात से तादात्म्यभाव स्थापित करके ही कर्त्ता – भोक्ता बनता है। वस्तुत: वह सत्–चित् -आनन्दस्वरूप है। देहादि संघात से उसका सम्बन्ध अविद्या द्वारा

---

1. कठो0 3/4
2. बृ. उ. 2/4214
3. अतोऽर्थोपरक्तवृत्तिप्रतिबिम्बावच्छिन्नं स्वरूपचैतन्यं एव भानं पुरूषस्य भोग प्रमाणस्य फलमिति' सां. प्र. भा. 1/104

   'सुखादि प्रतिबिम्बात्मा भोगोऽप्यस्य न वस्तुत:' सां. सार – 2/1/2

प्रत्युपस्थापित है। देहादि से सम्बन्ध विच्छेद होते ही उसके कर्तृत्वादि समस्त व्यवहार के लिए अवकाश नहीं रह जाता – यावदेव हि स्थाणाविव पुरूषबुद्धि द्वैतलक्षणमविद्यां निवर्तयन् कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते तावज्जीवस्य जीवत्वं[1]। कर्मवाद की प्रासंगिकता सिद्ध करने के लिए किसी न किसी प्रकार आत्मा में कर्तृत्व मानना ही पड़ता है। कर्मवाद के अनुसार जीव को अपने किए हुए कर्मों के फलों को भोगने के लिए बाध्य होना पड़ता है। श्रुति कहती है 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' अर्थात् विधियाग से उत्पन्न स्वर्गादि फल यजमान को प्राप्त होता है। शास्त्र कर्त्ता के होने पर ही कर्तव्य विशेष का कथन करता है। कर्त्ता के न होने पर विधिवाक्य सार्थक नहीं होगा। दोनों ही दर्शनों में जीव के कर्तृत्व का निषेध होने से कर्मवाद का भी निषेध हो जाता है। इस विरोध का परिहार करने के लिए वे कर्तृत्व को आरोपित स्वीकार कर लेते हैं। इससे आत्मा के कर्तृत्व का भी कथन हो जाता है और श्रुतिवाक्यों की सार्थकता भी बनी रहती है।

दोनों ही दर्शनों में कर्तृत्वादि का कारण अज्ञान या मिथ्याज्ञान को कहा गया है। सांख्य सूत्रकार कहते है – 'प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्हाने हानम्।'[2] सां0 का0 में भी कहा गया है कि – 'विपर्ययादिष्यते बन्ध'[3] अर्थात् अविद्या या अज्ञान के कारण ही असंग कूटस्थ एवं निर्गुण पुरूष का बन्ध होता है। तत्त्वकौमुदीकार कहते हैं – 'भोगोपवर्गयोश्च प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात् पुरूष सम्बन्ध उपपादितः।'[4] आचार्य शंकर भी जीव के बन्धन

---

1. 1/3/19 ब्र. सू. शां. भा.
   'एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व प्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः' अध्यासभाष्य – ब्र. सू. शां. भा.
2. 1/57 सां. सूत्र
3. सां0 का0 – 44
4. सां0 का0 – 62

का कारण अनादि अविद्या या अज्ञान को बताते हैं। वे कहते हैं कि अज्ञानावस्था में स्थाणु पुरूष भ्रम के सदृश आत्मा में कर्तृत्वादि व्यवहार उत्पन्न होते हैं। दोनों के ही मत में अज्ञान के नष्ट होने पर ज्ञान का उदय होता है और उस समय पुरूष स्वरूप में स्थित हो जाता है। स्वरूप में स्थित जीवात्मा के लिए कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि समस्त लौकिक व्यवहारों का निषेध हो जाता है।[1] शांकरमत में देहादि उपाधियां तत्त्वज्ञान के पश्चात् मिथ्या सिद्ध होती हैं। ब्रह्मज्ञानी के लिए ब्रह्मातिरिक्त सब कुछ सारहीन, तुच्छ एवं मिथ्या हो जाता है किन्तु सांख्यमत में देहादि उपाधियों की सत्ता या अस्तित्व नहीं मिटता, यह अवश्य है कि पुरूष के लिए इनका महत्त्व नहीं रह जाता। उस समय ये अपने कारण प्रकृति में अव्यक्तरूप से रहती हैं। ज्ञानी पुरूप के लिए प्रकृति पुनः प्रवृत्त नहीं होती। दोनों की नित्यता एवं व्यापकता के कारण ही भागवतपुराण में देवहूति कपिल से पूछती है कि दोनों ही नित्य एवं परस्पराश्रित हैं तो क्या प्रकृति, पुरूष को कभी मुक्त कर सकती है? इस प्रश्न का उत्तर है कि प्रकृति स्वभावतः ही गुणवती है इसलिए वह गुणों को त्यागने में असमर्थ है किन्तु चेतन पुरूष विवेक ज्ञान प्राप्त करके अपने को इन गुणों से पृथक् कर स्वरूप स्थित हो जाता है।[3] यही पुरूष का मोक्ष है। दोनों दर्शनों के अनुसार मोक्ष विषयक विचार पंचम अध्याय में व्यक्त किए जा चुके हैं। मोक्ष के स्वरूप, मोक्ष की अवस्थाएं एवं मोक्ष के साधन पर भी पंचम अध्याय के अन्तर्गत ही विचार किया गया है। यहां

---

1. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषं।
   अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानं। सां. का - 64

   एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व प्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अध्यायभाष्य ।
2. 3/27/17, 18 11/22/26, 27
3. 12/303/4 महाभारत

पर अतिसंक्षेप में समानताओं एवं विषमताओं पर प्रकाश डाला जा रहा है – दोनों के ही मत में मोक्ष कोई नवीन अवस्था नहीं है। यह आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं है। यह नित्य प्राप्त ही है।

मोक्ष की अवस्था में पुरूष अपने चिन्मात्र स्वरूप में स्थित रहता है। शांकर अद्वैतमत में मोक्ष की दशा में आत्मा सत्–चित्–आनन्दस्वरूप में स्थित रहता है। सांख्यवादी आत्मभेद को मानते है। यह शांकरमत से इनकी विशिष्टता है। आत्मभेद के कारण ही वे यह स्वीकार करते है कि मोक्ष की अवस्था में जीव ब्रह्मात्मभाव को नहीं प्राप्त हो जाता बल्कि यह प्रकृति से अपने को पृथक करके स्वरूप में स्थित हो जाता है। शांकर अद्वैतमत में मोक्ष की अवस्था में जीव ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। दोनों के ही मत में परमार्थतः जीव या पुरूष सांसारिक सुख–दुःख से परे हैं। पुरूष जड-प्रकृति कृत कार्य को अपने में आरोपित करने के कारण ही सुखी–दुःखी होता है। वस्तुतः वह असंग कूटस्थ एवं निर्गुण है। दोनों के ही मत में बन्धन का कारण अज्ञान है। किन्तु तत्त्वज्ञान से इसका नाश संभव है। अज्ञान के नाश से ही जीव का मोक्ष संभव है। दोनों ही दार्शनिक मतों का तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सांख्य एवं शांकर अद्वैतमत में बहुत सी समानताएं होने पर भी कुछ विषमताएँ हैं। जिसके परिणाम स्वरूप जगत् एवं मोक्ष सम्बन्धी विचारों में भी भिन्नता हो जाती है। अचेतन प्रधान की स्वतन्त्र सत्ता एवं बिना किसी अधिष्ठाता के उसकी स्वतः प्रवृत्ति एवं आत्मभेद की कल्पना। आचार्य शंकर सांख्यदर्शन को सम्यग्दर्शन का उपाय कहते हैं किन्तु इन्हीं दोनों बिन्दुओं पर अपना विरोध प्रकट करते हुए कहते हैं कि स्वतन्त्र प्रधान एवं आत्मभेद की कल्पना से यह दर्शन श्रुति विरूद्ध सिद्ध होता है अन्यथा यह मोक्षदायक शास्त्र अनेक शिष्ट व्यक्तियों के द्वारा ग्रहण किया गयाहै।

सांख्य यथार्थवादी दर्शन है, संभवतः इसीलिए दस दर्शन में प्रकृति की स्वतन्त्रता एवं आत्मा की अनेकता को स्वीकार किया गया है। यदि सांख्यवादी देहादि उपाधि को सत् न मानें तो उनको जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करना पड़ेगा क्योंकि यदि उसे असत् मान लें, तो उसकी प्रतीति ही नहीं होनी चाहिए। हमें जगत् की प्रतीति होती है इसलिए अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता। यदि देहादि उपाधियाँ मिथ्या हैं तो उसके उपादानकारण का भी मिथ्यात्व सिद्ध करना पड़ेगा। उपादानकारण के मिथ्या होने पर उसकी स्वतन्त्र सत्ता का भी निषेध हो जाएगा। जड जगत् जिसका प्रत्यक्ष अनुभव सभी जीवों को हो रहा है उसका उपादानकारण किसी न किसी सत् तत्त्व को मानना चाहिए। चेतन को तो उसका कारण माना नहीं जा सकता। अचेतन की सत्ता को अस्वीकृत कर देने पर जगदुपादानकारण विषयक समस्या उत्पन्न होगी। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण, कार्य की अव्यक्तावस्था है और कार्य, कारण की व्यक्तावस्था है। कार्य अचेतन है तो कारण चेतन कैसे हो सकता है? कार्य सत् है, तो कारण असत् कैसे हो जाएगा? जगत् के उपादानकारण को शक्ति या उपाधि के रूप में चेतनाश्रित कहा जाए तो उनके सिद्धान्त की विशिष्टता का ही लोप हो जाएगा और जगत् की वास्तविकता का भी खण्डन होगा। दोनों के मत में एक समानता ध्यान देने योग्य है कि मुक्तपुरूष के लिए जगत् का कोई महत्त्व न रह जाने पर भी जगत् नष्ट नहीं होता। अन्य बन्ध पुरूषों के लिए उसकी सत्ता यथावत् रहती है। इस अवस्था में मुक्त पुरूष के लिए जगत् तुच्छ ही सिद्ध होता है, चाहे प्रकति को सत् मानें या मिथ्या। मुक्त पुरूष को जगत् के प्रति आकर्षण नहीं रह जाता। उसके लिए शोक और मोह क्या? वह तो आत्मस्वरूप में स्थित रहता है। शांकर अद्वैतमत में जडतत्त्व को चेतनाश्रित कहने का अभिप्राय शायद यह ही है कि जडतत्त्व स्वतः प्रकाशित नहीं है। जडतत्त्व यदि चेतन द्वारा जाना जाता है तो उसकी सत्ता स्वतन्त्र कहाँ हुई? जड तत्त्व यदि चेतन द्वारा कार्य में प्रवृत्त होना है तो उसकी स्वतः प्रवृत्ति कहाँ हुई? जडतत्त्व चेतन के समानान्तर सत्ता रखता भी है तो वह चेतन के अदृश स्वयं सिद्ध नहीं है।

सांख्य अपनी वस्तुवादी प्रवृत्ति के कारण ही आत्मभेद की कल्पना को भी स्वीकार करता है। सांख्यवादी अज्ञानावस्था में देहादि उपाधि के कारण आत्मभेद को सत् मानते हुए परमार्थतः आत्मा के अभेद को स्वीकार करें तो कदाचित् उनके सिद्धान्त में कोई विरोधाभास नहीं उत्पन्न होगा। संवभतः यथार्थवादी प्रवृत्ति के कारण ही आत्मा के भोक्तृत्व को वे स्वीकार करते हैं और उसके व्यक्तिगत अस्तित्व को विलीन नहीं करना चाहते। आत्मा अमूर्त, नित्य, विभु एवं कूटस्थ है। आत्मा तो उस ज्योति के समान है जिससे हजारों दीपक प्रज्वलित कर दिए जाएं फिर भी उसमें कोई कमी नहीं आने पाती। ऐसे पूर्ण एवं क्षयातिशय से रहित नित्य, शुद्ध, निर्विकार एवं निरवयव आत्मतत्त्व में भेद किस आधार पर एवं क्यों किया जाता है। यह इस शास्त्र में स्पष्ट नहीं किया गया है। वस्तुतः कोई भी दर्शन सत्य की पूर्णरूपेण व्याख्या नहीं कर सकता है क्योंकि यह अनुभव का विषय है। शब्दों द्वारा व्याख्येय नहीं है। असीम और अनन्त को हम अज्ञ जीव कैसे जान सकते है? आत्मा सरल तत्त्व होने के साथ–साथ जटिल तत्त्व भी है। कौन जानें आत्मा में दो विरोधीभाव एक साथ ही रहते हों? इस विषय में यही कहा जा सकता है – 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः'।

*****

सहायक ग्रन्थों की सूची

1.	सांख्य संग्रहः	–	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, द्वितीय संस्करण।
2.	सांख्यदर्शनम् (सांख्य प्रवचन भाष्य की 'प्रदीप' हिन्दी व्याख्या)	डा0 गजाननशास्त्री मुंसलगाँवकर	चौखाम्बा संस्कृत संस्थान, वाराण्सी, प्रथम संस्करण।
3	सांख्यतत्त्वकौमुदी तत्त्वप्रकाशिका हिन्दी व्याख्या	डा0 गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर	चौखाम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण।
4.	सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा	डा0 आद्या प्रसाद मिश्र	अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद 1988
5.	सांख्यकारिका	माठरवृत्ति	बुटाला एण्ड कम्पनी, दिल्ली 1981
6	सांख्यकारिका	गौडपादभाष्य	साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार मेरठ, 1995
7	सांख्यकारिका	गौडपादभाष्य	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी 1964
8.	सांख्यकारिका	युक्तिदीपिका	बालकृष्ण त्रिपाठी, वाराणसी, 1970
9.	सांख्यतत्त्वकौमुदी	डा0 हरदत्त शर्मा	पूना संस्करण
10.	सांख्यकारिका	जयमंगलाभाष्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, 1970
11	सांख्यसार	विज्ञानभिक्षु	पञ्चोली पुस्तकमाला दिल्ली, प्रथम संस्करण
12.	पातञ्जल योगदर्शनम् (व्यासभाष्य संवलित, योगसिद्धि हिन्दी व्याख्या)	डा0 सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव	चौखम्बा सुरभारतीय, वाराणसी, 1988

13	सांख्यसूत्र (अनिरूद्धवृत्ति)		चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी द्वितीय संस्करण
14	सांख्यसूत्र	महादेवकृत वृत्तिसार	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी द्वितीय संस्करण
15.	महाभारत	शन्तिपर्व	किल्लापारडी (बलसाड) 1980
16	महाभारत	वनपर्व	Oriental Books Reprint Corporation, New Delhi 1979
17	श्रीमद्भगवद्गीता	पं0 श्रीपादं दामोदर सातवलेकर	पुरूषार्थ बोधिनी भाषा टीका – स्वाध्यायमंडल किल्लापारडी (बलसाड) पंचम आवृत्ति।
18.	श्रीमद्भगवद्गीता		गीताप्रेस गोरखपुर
19.	श्रीमद्भगवद्गीता	पं0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर (पुरूषार्थ बोधिनी भाषा टीका)	किल्लापारडी (बलसाड) प्रथमावृत्ति
20	श्रीमद्भागवत पुराण		गीताप्रेसे गोरखपुर
21	श्रीमद्भागवतपुराण		दयालोक प्रकाशन संस्थान इलाहाबाद, प्रथम संस्करण द्वितीय खण्ड
22.	अहिर्बुध्न्य संहिता		आड्यार पुस्तकालय मद्रास, 1916
23	विज्ञानामृत्ति भाष्य		विज्ञानभिक्षु
24	विष्णु पुराण	एच.एच. विल्सन	नाग पब्लिशर, दिल्ली, वोल्यूम–1
25.	ब्रह्म पुराण	तारणीश झा कृत हिन्दी व्याख्या	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
26	वायु पुराण		संस्कृति संस्थान, बरेली, 1970
27.	मत्स्य पुराण		संस्कृति संस्थान, बरेली, 1970

क्र.	ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन
28	स्कन्द पुराण		संस्कृति संस्थान, बरेली, 1970
29	भविष्यपुराण		संस्कृति संस्थान, बरेली, 1969
	पद्म पुराण		
30	वाल्मीकि रामायण		निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण
31	सांख्यदर्शन का इतिहास	पं0 उदयवीर शंस्त्री	विरजानन्द वैदिक संस्थान, सहारनपुर
32.	सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा	डा0 आद्या प्रसाद मिश्र	सत्य प्रकाशन, इलाहाबाद 1967
33.	सांख्यदर्शन	डा0 ए.वी कीथ	ईस्टर्न बुक लिन्कर्स, दिल्ली
34	आचार्य विज्ञानाभिक्षु और भारतीयदर्शन में उनका स्थान	डा0 सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव कृत	लोक भारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण
35	सांख्यदर्शन और विज्ञानभिक्षु	डा0 उर्मिला चतुर्वेदी	कला प्रकाशन वाराणसी, 1981
36.	सांख्य सिद्धान्त	पं0 उदयवीर शास्त्री	विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, संवत् 2019
37	महाभारत एवं पुराणों में सांख्यदर्शन	डा0मसुरेश पाण्डेय	नेशंनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 19/2
38.	चरकसंहिता की दार्शनिक पृष्ठभूमि	डा0 सन्त नारायण श्रीवास्तव	पीयूष प्रकाशन, इलाहाबाद 1983
39.	गीतारहस्य	श्री लोकमान्यतिलक	पूरा, 11वाँ संस्करण
40.	न्यायदर्शनम्	वात्स्यायनभाष्यसहित	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, तृतीय संस्करण
41	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् (भामती, परिमल एवं परिमल व्याख्या सहित)		परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली 1981

42	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्		गोविन्दमठ टेढ़ीनीम, वाराणसी, चतुर्थावृत्ति ।
43.	रत्नप्रभा		गोविन्दानन्द, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
44	बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक	सुरेश्वराचार्य	गीताप्रेस गोरखपुर
45.	बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य		गीताप्रेस गोरखपुर
46	सम्बन्धवार्तिक	सुरेश्वराचार्य	मद्रास यूनिवर्सिटी प्रेस, 1958 ई0
47	बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक		श्रीमद्विद्यारण्यस्वामिविरचित – अच्युत ग्रन्थमाला, काशी संवत् 1987
+8	पंचदशी	श्री विद्यारण्यमुनि कृत	चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 1987
49.	शंकरविजय	आनन्दगीरि कृत	Asiastic Society of Bengal
	वेदान्तसार		
50.	तत्त्वपारिजातव्याख्या	डा0 सन्तनारायण श्रीवास्तव	पीयूष प्रकाशन इलाहाबाद 1983
51.	वेदान्तपरिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र	बम्बई, 1967
52.	उपदेशसाहस्री	आचार्य शंकर कृत	गायघाट वाराणसी, 1954
53.	भामती		मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1988
54.	अपरोक्षानुभूति	आचार्यशंकर	अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद, 1996
55.	वाक्यसुधा	आचार्यशंकर प्रणीत	चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो बनारस
56.	विवेक चूडामणि	आचार्यशंकर प्रणीत	

57	प्रश्नोपनिषद्शांकरभाष्य		गीताप्रेस, गोरखपुर
58	मुण्डकोपनिषद्शांकरभाष्य		गीताप्रेस, गोरखंपुर
59	कठोपनिषद्		गीताप्रेस, गोरखपुर
60	माण्डूक्योपनिषद् शांकरभाष्य		गीताप्रेस, गोरखपुर
61	तैत्तिरीयोपनिषद् शांकरभाष्य		आनन्दाश्रम, पूना 1993 संवत्
62.	श्वेताश्वतरोपनिषद् शांकरभाष्य		ईस्टर्न बुक लिन्कर्स, दिल्ली 1976
63.	छान्दोग्योपनिषद् शांकरभाष्य		गीताप्रेस, गोरखपुर
64.	पंचपादिका विवरण	प्रकाशात्मा	गवर्नमेन्ट ओरियन्टल सीरीज़ मद्रास, 1958
65	विवरणप्रमेय संग्रह	विद्यारण्य	अच्युतग्रन्थमाला, काशी सं0 1916
66	सर्वदर्शनसंग्रह	श्री माधवाचाय्र प्रणीत	भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च स्टडीज, इन्स्टीट्यूट पूना, द्वितीयावृत्ति
67.	संक्षेपशारीरक	सर्वज्ञात्ममुनि	गवर्नमेन्ट प्रेस, इलाहाबाद 1936
68.	विद्धान्तलेशसंग्रह	अप्पयदीक्षित	अच्युतग्रन्थमाला काशी, 2011 संवत्
69.	योगवासिष्ठ		निर्णयसागरप्रेस, बम्बई, 1977
70	मनुस्मृति		भारतीय विद्या भवन चौपाटी मार्ग, मुम्बई, 1972
71.	ऋक् संहिता		वैदिक संशोधन मण्डल, पूना संस्करण
72.	भारतीयदर्शन	उमेश मिश्र	प्रकाशन व्यूरो सूचना विभाग उ0प्र0 सरकार, लखनऊ 1957
73	भारतीयदर्शन के मूलतत्त्व	प्रो0 हिरियन्ना	वैनगार्ड प्रेस, इलाहाबाद 1954
74.	भारतीय दर्शन के मूलतत्त्व	डा0 राधाकृष्णन	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1986
75	भारतीयदर्शन का इतिहास भाग – 4	डा0 एस.एन. दास गुप्त	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1972

76	श्रीमद्भगवद्गीता के शांकरभाष्य का समालोचनात्मक अध्ययन	डा0 गगनदेवगिरि	पटना प्रथमावृत्ति
77	भामती एक अध्ययन	डा0 ईश्वरसिंह	मंथन पब्लिकेशन रोहतक, 1983
78.	भामती एवं विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन	डा0 सत्यदेव शास्त्री	भारत भारती प्रकाशन, वाराणसी 1978
79	शंकराचार्य के मायावाद तथा अन्य सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन	डा0 राममूर्ति शर्मा	मेरठ, 1964
80.	श्वेताश्वतरोपनिषद् एक अध्ययन	डा0 वेदवती वैदिक	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, प्रथम संस्करण।
81	बृहदारण्यक उपनिषद् (एक समीक्षात्मक अध्ययन)	डा0 रघुवंश झा	किशोर विद्या निकेतन वाराणसी, 1984
82.	अद्वैत वेदान्त	डा0 राममूर्ति शर्मा	ईस्टर्न बुक लिन्कर्स, दिल्ली द्वितीय संस्करण

अंग्रेजी के ग्रन्थ

83. A History of Indian Philosóphy, Vol. I, Dr. S.N. Das Gupta - Motilal Banarsidass, Delhi, 1975.

84. A Critical Survey of Indian Philosophy. Dr. C.D. Sharma, Moti Mahal Banarsidass, Delhi, 1964.

85. The Doctrine of Maya - Dr. P.D. Shastri - Luzac and Co. London, 1911.

86. The Concept of Maya - Dr. Ruth - Bombay, 1962.

87. Indian Philosophy, Dr. Radha Krishnan. Blackie & Son, Bombay.

88. Origin and Development of the Samkhya System of thought - Pulin Bihari Chakraborti - Oriental Books Repring Corporation, Delhi.

89. Essays on Samkhya and other System of Indian Philosophy - Dr. Anima Sen Gupta, Moti Mahal Kanpur, First Edition.

90. Samkhya and Yoga - Richard Garbe

91. Outlines of Indian Philosophy - Pro Hiriyanna London, 1948.

92. The Agamasastra of Gaudapada - Vidhushekhara Bhattacharya. Calcutta, 1943.

93. Vedanta Sutras with the Commentary of Samkara Chary, English Transplation, Sacred Books of the East XXXIV.

94. Yoga as Philosophy and Religion- Dr. S.N. Das Gupta, Motilal Banarsidas Delhi, 1973.

95. The Samkhya System - Dr. A.B. Keith.

96. A Study of Shankar - Nalini Mohan Shastri - Calcutta, 1942.

97. Pre Shankar Advait Philosophy - Dr. Sangam Lal Pande, Darshan Peeth, Allahabad 1974.

98. A Study of Patanjali - Dr. S.N. Das Gupta - Motilal Banarsidas, Delhi, 1989.

99. Life and Thought of Sankaracharya - Dr. Govind Chandra Pande, Motilal Banarsidas Delhi, 1994.

100. System of the Vedanta - Dr. Paul Deussen English Translation by Charles Johnton, Motilal Banarsidas Delhi, 1972.

101. Three Lectures on Vedanta Philosophy - Max Muller - Longmans Green, London.

शब्दकोष एवं शोध प्रबन्ध

102. संस्कृत–हिन्दी कोश – वामनशिवराम आप्टे, दिल्ली 1988

103. अमरकोश

104. शब्दकल्पद्रुम – (तृतीय काण्ड) मोती लाल बनारसी दास, वाराणसी, 1969

105. संक्षेपशारीरक – 'एक समीक्षात्मक अध्ययन' – डा0 आरती श्रीवास्तव, 1977
शोध–प्रबन्ध इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

106. बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक – एक अध्ययन – डा0 कौशल किशोर श्रीवास्तव, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद